

संस्थापक-दूधनाथ सिंह

i {k/kj

वर्ष : 5 अंक : 1 जन.-जून 2011 (अर्द्धवार्षिक)

संपादक
विनोद तिवारी

सह-संपादक
तेजभान

संकलन : 10

i frj k/k dh I LÑfr dkj pukRed gLr {kñ

अक्षर संयोजन

काम्पैक्ट प्रिन्टर्स

ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहादरा, दिल्ली-32

मूल्य :

एक प्रति : 50 रुपए

सदस्यता

वार्षिक : 100 रुपए

संस्थाओं के लिए : 150 रुपए

पंचवार्षिक : 500 रुपए

दस वार्षिक : 1000 रुपए

आजीवन : 2500 रुपए

संपादन/प्रकाशन

अवैतनिक/अव्यावसायिक

स्वामी-संपादक-प्रकाशक मुद्रक विनोद तिवारी द्वारा बी-2, तीसरी मंजिल, महेन्द्रू एन्क्लेव, स्टेडियम रोड, दिल्ली-110033 से प्रकाशित और दिव्या ऑफसेट प्रिन्टर्स, बी-1422, न्यू अशोक नगर, मयूर विहार, दिल्ली-96

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। संपादक और लेखक की अनुमति के बिना प्रकाशित सामग्री के किसी भी तरह के उपयोग की अनुमति नहीं होगी।

संपादकीय संपर्क

बी-2, तीसरी मंजिल, महेन्द्रू एन्क्लेव

स्टेडियम रोड, दिल्ली-110033

फ़ोन : 011-27240496

मो. : 9560236569

ई-मेल : pakshdharwarta@gmail.com

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त।

समस्त कानूनी विवादों का न्यायक्षेत्र दिल्ली न्यायालय होगा।

अनुक्रम

संपादकीय

एक कवि एक राग/ अरुण कमल

शताब्दी स्मरण

अज्ञेय की काव्य-दृष्टि/ नामवर सिंह 5

जन्मसार्धशती

रवीन्द्रनाथ के पत्र/ रामशंकर द्विवेदी 12

कहानी

लौट जाओ कामरेड/ कैलास चन्द्र 26

विरासत/ वंदना राग 79

एक मधुर राग/ भवानी सिंह 95

आलेख

कामायनी : पाठ की अन्तर्पाठीयता/ सुधीश पचौरी 117

चित्रकथाओं में मीरा का छवि निर्माण/ माधव हाड़ा 125

कविताएँ

अवकाश प्राप्त/ पी.सी. जोशी 130

एक छोटा-सा ब्रेक लेकर ईश्वर के बहाने कुछ बकबक/
कमलेश्वर साहू 136

पाँच कविताएँ/ सुरेश सेन 'निशांत' 142

तीन कविताएँ/ चन्द्रकांत 153

देश-देशांतर

ओड़िया दलित कविता/ अरुण होता 156

कविताएँ

चार कविताएँ/ रंजीता नायक 170

छः कविताएँ/ कुमार हसन 175

पुस्तक के बहाने

आतिशे चिनार : आत्मकथा या आस्था का दस्तावेज़/
मुहम्मद शीस खान 183

पुस्तक समीक्षा

कृति विकृति संस्कृति की पहचान का संघर्ष/ जीतेन्द्र गुप्ता 211

समय की पाठ रचना/ नीलेश कुमार 219

सच की बहुरंगी छवियों का साक्ष्य/ निरंजन सहाय 224

भूल-भटकों को राह दिखाते जंगल-गाँव/ वंदना राग 228

जो नहीं है उसका गम क्या, जैसे कि शर्म/ प्रभात कुमार मिश्र 234

अज्ञेय की काव्य-दृष्टि

✍ नामवर सिंह

सूर्य नारायण जी ने हिन्दी विभाग की ओर से 'सत्य प्रकाश मिश्र स्मृति व्याख्यानमाला' के लिए जब मुझसे इलाहाबाद में अज्ञेय पर व्याख्यान देने के लिए कहा तो मुझे अत्यन्त खुशी हुई। खुशी इसीलिए कि मैं स्वयं इस अवसर की तलाश में था। यह वर्ष हिन्दी के चार बड़े कवियों—अज्ञेय, शमशेर, नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल का जन्म शताब्दी वर्ष है। अजीब विडम्बना है कि मैंने नागार्जुन पर भाषण दिया है, लेख भी लिखे हैं उनकी कविताओं का चयन किया है, भूमिका लिखी है; शमशेर पर भी लेख लिखे हैं, भूमिका लिखी है, केदारनाथ अग्रवाल पर इसी इलाहाबाद में व्याख्यान दिया है और लेख भी लिखा है पर अज्ञेय पर प्रसंगवश कुछ चर्चाएँ जरूर की हैं लेकिन जमकर कुछ लिखा नहीं है। अतः मन में यह इच्छा थी कि अज्ञेय पर कुछ कहा जाए, लिखा जाए। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की बात याद आ रही है, कि जीवन में जो प्रार्थनाएँ अधूरी रह जाएँ उन्हें पूरी कर लेनी चाहिए। सूर्यनारायण ने इलाहाबाद में बोलने का यह अवसर उपलब्ध कराया इसके लिए मैं उनका और हिन्दी विभाग, इलाहाबाद का आभारी हूँ। इलाहाबाद में अज्ञेय पर बोलने का कुछ अर्थ है क्योंकि अज्ञेय के निर्माण में इलाहाबाद की महत्वपूर्ण भूमिका है। सेना से लौटने के बाद वे इलाहाबाद आए थे। यह वह शहर है जहाँ रहते हुए उन्होंने 'प्रतीक' निकाला, 'दूसरा सप्तक' तैयार किया। 'नदी के द्वीप' की शुरुआत यहाँ वो कर चुके थे, कई कहानियाँ यहीं रहकर लिखीं। दिल्ली में बसने के पहले इलाहाबाद ही वह शहर है जहाँ अज्ञेय का नया संस्कार हुआ, उनका उदय हुआ। एक तरह से वात्स्यायन जी के साहित्य में एक नया मोड़ आता है इलाहाबाद में। इन सब बातों का श्रेय इलाहाबाद को है।

अज्ञेय से मेरी पहली मुलाकात अक्टूबर, 1945 की है जब मैं उदय प्रताप कॉलेज, बनारस में इण्टरमीडिएट का छात्र था। अमृतराय से मुझे यह सूचना मिली कि अज्ञेय बनारस आए हुए हैं और सरस्वती प्रेस में ठहरे हुए हैं। मैंने अपने गुरुदेव मार्कण्डेय सिंह से कहा कि अज्ञेय आए हुए हैं हम छात्र संघ और साहित्य-सभा की ओर से उन्हें बुलाना चाहते हैं। उन्होंने कहा जरूर बुलाओ। मैं सरस्वती प्रेस गया। वहाँ पहुँचा तो देखा कि लकड़ी के एक तखत पर तीन-चार साल के बच्चे के साथ अज्ञेय बैठे हैं बच्चे के हाथ में बुद्ध की मिट्टी की एक लाल मूर्ति है जिससे दोनों खेल रहे हैं। मैंने प्रणाम किया और अपना प्रयोजन बताया। पहले तो वे अचकचाए कि कहाँ भाषण-वगैरह के चक्कर में डाल रहे हो। लेकिन जब मैंने बताया कि वहाँ प्रेमचंद, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नन्द दुलारे वाजपेयी जैसे लोग भाषण दे चुके हैं। कोई नामालूम सी जगह नहीं है वह, आप पता कर लीजिए।

फिर वो तैयार हो गए और उन्होंने कहा कि कल आ जाना हम चले चलेंगे। मैंने कहा ठीक है, मैं कल ताँगा लेकर आ जाऊँगा। उन्होंने कहा उसकी जरूरत नहीं है, मेरे पास एक पुरानी कार है हम लोग उसी से चलेंगे। अगले दिन 10 बजे मैं पहुँच गया, वो तैयार मिले। हम लोग कार में आकर बैठ गए। कार वे खुद ड्राइव कर रहे थे। उनके साथ आगे एक सभ्रान्त महिला बैठी और पीछे मैं स्वयं। बाद में यह पता चला कि वह महिला डॉ. आशा मुकुल दास की पत्नी और उस बच्चे की माँ थीं जो बुद्ध की मूर्ति के साथ खेलता हुआ दिखा था।

अज्ञेय ने कॉलेज में जमकर भाषण दिया। पर आप सबको आश्चर्य होगा कि वे साहित्य पर एक शब्द नहीं बोले लगभग एक-डेढ़ घण्टे मोटे-मोटे असमिया मच्छरों के बारे में बोलते रहे। हम लोग हकू-हकमबक्क थे। असम से लौटे थे, लड़ाई पर गए थे। दूसरे महायुद्ध के दौरान वे असम में रहे थे। सेना में एक 'इन्टरटेनमेंट विंग' हुआ करता था जिसमें वे कैप्टन रैंक पर थे। उनकी कुछ कहानियों में यह वातावरण और पृष्ठभूमि देखने को मिलती है। उसके बाद तो दिल्ली में उनसे कई बार मिलना-जुलना होता रहा। पर एक और बात, जो शायद बहुतों को न पता हो कुछ लोगों को मालूम हो। हम लोग जोधपुर में डेढ़ साल तक साथ रहे हैं। चूँकि, वहाँ हिन्दी वाले दो ही थे इसलिए अभिशप्त थे एक साथ रहने के लिए।

जोधपुर विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. बी.बी. जॉन चाहते थे कि अज्ञेय उनके यहाँ विजिटिंग प्रोफेसर होकर आएँ। अज्ञेय की स्वयं की इच्छा थी कि वे किसी भारतीय विश्वविद्यालय में प्रोफेसर बनें। उस समय उनकी उम्र 60 वर्ष थी। मैं अक्टूबर, 1970 में जोधपुर गया और अज्ञेय सम्भवतः फरवरी, 71 में, क्योंकि उनका एक जन्मदिन वहाँ मनाया गया था। बहरहाल...। अज्ञेय कैलिफोर्निया से लौटे थे। प्रो. बी.बी. जॉन 'कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम' की पत्रिका 'क्वेस्ट' के सम्पादकीय मण्डल में थे। उन्होंने मुझसे अपनी इच्छा जाहिर की और कहा कि इसके लिए हमें अपने विधान में परिवर्तन करना पड़ेगा इसके लिए तुम बहैसियत प्रोफेसर कार्यकारिणी समिति के सदस्य होने के नाते प्रस्ताव ले आना मैं कर दूँगा। वह सब हुआ विधान में परिवर्तन किया गया। अब प्रो. जॉन ने मुझसे कहा कि किन्हीं दो ऐसे विद्वानों का नाम बताओ जिन्हें अज्ञेय के नाम पर आपत्ति न हो। मैंने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ. सत्येन्द्र का नाम प्रस्तावित किया। जॉन साहब ने कहा कि, हम इन्टरव्यू जैसा तो कुछ लेते नहीं हैं, उन्हें चाय पर आमन्त्रित करेंगे, वहीं बातचीत होगी और नियुक्ति पत्र दे दूँगा। इस तरह अज्ञेय की 60 वर्ष की उम्र में विजिटिंग प्रोफेसर के पद पर नियुक्ति हुई। जब वे दिल्ली से जोधपुर मेल से जोधपुर आए तो मैं उन्हें लेने स्टेशन गया। बी.बी. जॉन ने मुझसे ये कहा, कि तुम मेरी गाड़ी ले लेना और उन्हें स्टेशन से ले आकर अपने साथ हफ्ते-दस दिन रखो जब तक कि, कोई ठीक-ठीक व्यवस्था नहीं हो जाती इसके बावजूद कि मुझे तुम दोनों के साहित्यिक रिश्ते के बारे में जानकारी है। वात्स्यायन जी डेढ़ साल तक रहे। वहाँ के कुछ अराजक लोगों के द्वारा बी. बी. जॉन पर हमला हुआ उनके आवास को आग के हवाले कर दिया गया, वे तीन महीने विस्तर पर पड़े रहे उसके बाद उन्होंने इस्तीफा दे दिया। उनके बाद अज्ञेय ने भी स्तीफा

दे दिया। इस तरह वात्स्यायन जी के साथ रहने का मौका मिला। और जाहिर है कि साथ रहने पर कई तरह की बातें होती हैं, हुई। साहित्य पर भी, उनके खुद के साहित्य पर भी खूब बातें हुईं।

जब सूर्य नारायण जी ने विषय पूछा तो मैंने कहा कि उनके कविता के बारे में कुछ कहूँगा, क्योंकि विशाल साहित्य है, कोई विधा बची नहीं है, जिस पर अज्ञेय ने न लिखा हो—उपन्यास लिखा है, कहानी लिखी है, नाटक लिखा है, लम्बी कविता लिखी है, छोटी कविता लिखी है, ललित निबन्ध लिखे हैं, डायरी लिखी है। जितनी भी विधा है, कोई छोड़ा नहीं है उन्होंने। मैंने कहा कि उनके काव्य के पक्ष पर कुछ रख दीजिए, वो शेर है न, कि—

*दिल से तो हर मुआमला करके चले थे साफ
कहने में उनके सामने बात बदल-बदल गई है*

इसलिए काव्य चिन्तन तो बदल गया। मैं केवल उनके काव्य के बारे में और स्पष्ट कहूँ तो उनकी काव्य दृष्टि के बारे में कुछ कहूँगा। इस बीच उनको दोबारा पढ़ते हुए एक छोटा-सा प्रसंग लेकर मैं आपके सामने अपनी बात रखना चाहता हूँ—

आप लोगों ने पढ़ा होगा, आकाशवाणी ने एक योजना बनाई थी कि साहित्यकारों से हम बातचीत करेंगे और आर्काइव में रखेंगे। कई लोगों के साथ बातचीत हुई। मेरे साथ भी हुई है। अज्ञेय के साथ रघुवीर सहाय और गोपाल दास ने मिलकर बातचीत की है। प्रकाशन विभाग से यह बातचीत प्रकाशित है। ‘अज्ञेय : अपने बारे में’ नामक इस पुस्तक को मैं पढ़ रहा था। रघुवीर सहाय अज्ञेय के साथ ‘दिनमान’ में रहे। ‘तीसरा सप्तक’ के कवि हैं। पर अज्ञेय से बातचीत में गोपाल दास के सवाल अधिक महत्वपूर्ण हैं। ऐसा मैं इसलिए कह रहा हूँ कि अज्ञेय से जो गंभीर बातें निकलवायीं वो गोपाल दास ने। उन बातों से कुछ चीजें जो निकलकर आयीं हैं वे मेरे मन में हैं। एक तो लम्बी कविताओं की तुलना में छोटी कविताओं के संबंध में अज्ञेय की आत्म स्वीकृति कि—“कविताओं में तो छोटी-छोटी सी बहुत कविताएँ हैं, विशेष रूप से ऐसी छोटी कविताएँ जो मैं समझता हूँ कि आज की अपेक्षा कुछ समय बाद और मान पाएंगी।...हाँ इस दृष्टि से सोचता हूँ कि छोटी कविताएँ तो काफी सी हैं मेरी, जो कि मैं आज समझता हूँ कि याद रहेंगी। छोटी कविताओं में जैसे ‘कोहरे में भूर्ज’ या ‘पहाड़ नहीं काँपता’ वाली कविता है या ‘अरी ओ करुणा प्रभामय’ में कुछ एक छोटे-छोटे जो चित्र हैं या ‘मेरे घोड़े की टाप’, ‘सूप सूप भर धूप कनक, या कि ‘झरता पत्ता’ वाली तीन पंक्तियों की जो कविता है—ऐसी कविताएँ। ‘असाध्य वीणा’ की चर्चा बहुत हुई है, मैं समझता हूँ कि वह भी बनी रहेगी, लेकिन अब मुझे उसमें कुछ कमी खटकती है जो आलोचकों को अभी तक नहीं खटकी है।”

खैर, अज्ञेय की ज्यादातर कविताएँ छोटी कविताएँ हैं। ‘अरी ओ करुणा प्रभामय’ का जिक्र हुआ बल्कि और भी छोटी कविताओं के उदाहरण हैं। मेरा मानना है कि छोटी कविताएँ अज्ञेय के लिए चुनौती रही हैं। खासतौर से जब वे जापान गए तो हाइकू चुनौती रही है इनके लिए। अज्ञेय के लिए यह चुनौती लगभग वैसी ही चुनौती है, जैसे मैं कहना चाहूँगा कि रीतिकाल में बिहारी जैसे कवि के लिए दोहा चुनौती था। जैसे एक जमाने में

फ़ारसी की चार पंक्तियों की रुबाई चुनौती हुआ करती थी। हिन्दी में बच्चन जी जैसे कुछ लोगों ने रुबाई लिखने की कोशिश की। लेकिन हिन्दी का जो ग़ज़ल का शेर है, दो मिसरा है वो चुनौती हैं। नज़्म ठीक है, अपनी जगह है और खासतौर से मीर और ग़ालिब की ग़ज़लों के बाद तो उफ़्फ़ असद उल्लाह ख़ाँ कयामत है—‘दर्द बे दिल में रेख़्ता कहना असद उल्लाह ख़ाँ कयामत है।’ इसलिए वो हाइकू नाम की जो चीज़ है आप देखेंगे कि न तो वह उस भाषा की प्रतीक भी और न उस कल्चर की। जैसे हाइकू है उसी तरह चीनी कविताओं में भी छोटी-छोटी कविताएँ हैं, उन्हें आप पढ़ें, देखें। मेरे कहने का मतलब इतना भर है कि छोटी कविताएँ चुनौती हुआ करती थीं एक ज़माने में। मुक्तक, प्रबन्ध काव्य की चुनौतियाँ दूसरी हैं, अलग-अलग हैं, जैसे हमारे यहाँ जिसे पद कहते हैं हम लोग, जिसमें सूर ने पद लिखे, तुलसीदास ने विनय पत्रिका लिखी कबीर ने पद लिखे जिसे हम लोग भजन कहते हैं। वात्स्यायन जी के लिए ये छन्द एक तरह से चुनौती रहे हैं। जापान की यात्रा उनके लिए निर्णायक थी। ‘इत्यलम्’ के बाद और जिन कविताओं का ऊपर जिक्र किया गया है—‘अरी ओ करुणा प्रभामय’ वो तो स्पष्ट ही जापान की हैं। ये कविताएँ ज्यादातर 54, 55, 56, 57 की हैं। ‘हरी घास पर क्षण भर के बाद की। ‘इत्यलम्’ के ठीक बाद उनका जो पहला संग्रह उनका आया था वो ‘हरी घास पर क्षण भर’ था। ‘अरी ओ करुणा प्रभामय’ थोड़ा इसके बाद का है। अज्ञेय चाहते थे, उन्होंने लिखा भी है कि साहित्य अकादमी का जो पुरस्कार उन्हें ‘आंगन के पार द्वार’ के लिए मिला वह ‘अरी ओ करुणा प्रभामय’ पर मिलता तो अच्छा होता।

अन्त में वो फिर लौटे छोटी कविताओं पर। कुछ लम्बी कविताएँ हैं उनकी। लेकिन मैं देख रहा था कि उनके देहावासन के बाद ‘मरुथल’ नाम की एक पुस्तक प्रकाशित हुई। ‘रेत के दिन थोरे हैं’ उस संग्रह की एक बहुत ही सुंदर कविता है। राजस्थान की यात्रा के दौरान उन्होंने लिखी। वो कविता मुझे बहुत पसन्द है, क्या कला उन्होंने दिखाई है।

‘विशाल भारत’ में काम करते हुए, शान्ति निकेतन में रहते समय उन्होंने कुछ लेख लिखे थे जिसमें टी.एस. इलियट का ‘ट्रेडिशन एण्ड द इंडीविजुअल टैलेन्ट’ का भावानुवाद खासतौर से उल्लेखनीय है। ‘त्रिशंकु’ नामक पुस्तक में ये लेख संकलित हैं। अज्ञेय को यह एहसास गहराई से था जो छायावादियों को नहीं था और अज्ञेय की बाद की पीढ़ी के लोगों को भी है या नहीं इस पर विचार करना चाहिए। जिस संक्रमण काल में वो हुए थे, जिसको हम लोग छायावाद का अन्त और प्रगतिशील आन्दोलन की शुरुआत कहते हैं, उस समय में। ऐसे समय में अज्ञेय प्रयोगशीलता को, एक्सपेरिमेंट को कविता के लिए महत्व की चीज़ मानकर एक आंदोलन खड़ा करते हैं। चूँकि अज्ञेय अपने अध्ययन के क्षेत्र में विज्ञान के विद्यार्थी थे और विज्ञान में एक्सपेरिमेंट ज्यादा महत्वपूर्ण होता है। वैज्ञानिक होने कारण वे यह समझते थे कि कवि की और साहित्यकार की भी अपनी प्रयोगशाला होती है। लेखन कक्ष और अध्ययन कक्ष नहीं होता है। राजनीति में जैसे सत्य के प्रयोग गाँधी जी करते थे, हम लोगों ने अज्ञेय को गाँधी से कभी नहीं जोड़ा है। दो शब्द अज्ञेय को बहुत हांट करते हैं सत्य और प्रयोग। सत्य तो बहुत मिले/कुछ ऐसे, कुछ ऐसे, कुछ ऐसे/सत्य तो बहुत मिले/मैंने सत्य दिया और काट लिया।’ वो सत्य क्या है? वो आइडियोलॉजी

नहीं है, वो जीवन-दर्शन नहीं है। ये वही सत्य है, जो गाँधी जी को रह-रहकर एक-एक सत्य मिला करता था। अनुभव सत्य, प्रयोग करते समय उन्हें यह सत्य मिला। ऐसा परम सत्य जो योगियों को हुआ करता है, कि एक बार ब्रह्म के रूप में मिल गया, फिर उसको ढूँढ़ने की जरूरत नहीं। ये सत्य ब्रह्म नहीं है। ईश्वर नहीं है। कदम-कदम पर संघर्षों में जीवन की चर्चा में अचानक कोई 'अनुभव सत्य' मिलता है और वो अनुभव सत्य खूब निखरता चला जाता है और मैं समझता हूँ कि ऋग्वेद की ऋचाएँ ऐसे ही अलग-अलग क्षणों में प्राप्त किए हुए अनुभवों के सत्य के रूप में हैं। और दूसरा अज्ञेय-प्रयोग, सत्य को जीवन में जाँच के देखना पड़ेगा कि सचमुच वो सच है कि नहीं। एक फ्लैश की तरह आदमी के मन में सत्य आता है फिर जरूरत पड़ती है कि इसको जाँच के देखे कि जीवन में वो सचमुच सच है कि झूठ है। इस सिलसिले में मुझे उनकी कविता की या काव्य-दर्शन की या काव्य-दृष्टि की कुंजी जिस कविता में मिली, वह बहुत बाद की 1976 की कविता है, उसका शीर्षक है—'नाच'। मैं एक बार पढ़ देता हूँ व्याख्या नहीं करूँगा। क्या है उस कविता में? रिपिटिशन है, शब्दों का, वाक्यों का। कुछ यूँ जिसे वे बार-बार फेंटते हैं—

एक तनी हुई रस्सी है जिस पर मैं नाचता हूँ
जिस तनी हुई रस्सी पर मैं नाचता हूँ
वह दो-दो खम्भों के बीच है
रस्सी पर मैं जो नाचता हूँ
वह एक खम्भे से दूसरे खम्भे तक का नाच है।
दो खम्भों के बीच जिस तनी हुई रस्सी पर मैं नाचता हूँ
उस पर तीखी रोशनी पड़ती है
जिस में लोग मेरा नाच देखते हैं
न मुझे देखते हैं जो नाचता है
न रस्सी को जिस पर मैं नाचता हूँ
न खम्भों को जिस पर रस्सी तनी है
न रोशनी को ही जिस में नाच दीखता है :
लोग सिर्फ नाच देखते हैं।
पर मैं जो नाचता हूँ
जो जिस रस्सी पर नाचता हूँ
जो जिन खम्भों के बीच है
जिस पर जो रोशनी पड़ती है
उस रोशनी में उन खम्भों के बीच उस रस्सी पर
असल में मैं नाचता नहीं हूँ।
मैं केवल उस खम्भे से इस खम्भे तक दौड़ता हूँ
कि उस या इस खम्भे से रस्सी खोल दूँ
कि तनाव चुके और ढील में मुझे छुड़ी हो जाये—
पर तनाव ढीलता नहीं

और मैं इस खम्भे से उस खम्भे तक दौड़ता हूँ
 पर तनाव वैसा ही बना रहता है
 सब कुछ वैसा ही बना रहता है।
 और वही मेरा नाच है, जिसे सब देखते हैं
 मुझे नहीं
 रस्सी को नहीं
 खम्भे नहीं
 रोशनी नहीं
 तनाव भी नहीं
 देखते हैं—नाच

अब आपके सामने यह जो पूरी कविता है और इस कविता का जो चित्र आपके सामने आता है वह एक नृत्य का, डांस का चित्र है। खम्भे, नाच, रस्सी बार-बार ये शब्द आते हैं, इनकी आवृत्ति होती है। हम लोग अक्सर डांस देखते हुए, डांस की जो आवृत्तियाँ हैं उसे भूल जाते हैं, पर यह आवृत्ति उसका कंटेंट है, वो खाली रिपिटिशन नहीं है। हर आवृत्ति में सम पर आते हैं फिर नाचते हैं, फिर सम पर आते हैं, फिर नाचते हैं। मैं नहीं जानता की नाच पर कोई ऐसी कविता लिखी गई है। नाच के माध्यम से एक पूरा दर्शन कि, मैं तो मुक्ति चाहता हूँ कि, रस्सी न हो, खम्भे न हो, नाचना न पड़े। जैसे मंच पर किसी आदमी को साँप ने काट लिया हो, वह इधर से उधर दौड़ रहा हो और लोगों का मनोरंजन हो रहा हो कि ये तो नाच रहा है। अक्सर होता है, साहित्य के बारे में साहित्य लेखक के बारे में लोग जिसे नाच समझ रहे हैं वो उसकी मुक्ति का खेल है। वो पूरी तरह से मुक्त होना चाहता है। अज्ञेय की इस कविता की तुलना 'असाध्य वीणा' के उस दर्शन से करें तो दोनों के बीच की गहराई समझ में आ जाती है। यद्यपि बहुत महत्वपूर्ण कविता है 'असाध्यवीणा', उस जैसी दूसरी कविता लिखी नहीं गई अभी तक पर उसके महत्त्व का संदर्भ दूसरा है। ऐसे में जिस चीज को मैं बार-बार रेखांकित करना चाहता हूँ, और जिसे अज्ञेय ने खुद स्वीकारा, वह है उनकी छोटी कविताएँ। उनमें से कुछ तो तीन-तीन लाइन की हाइकू हैं। एक कविता है, 'पहाड़ी यात्रा', जो इस तरह है—

मेरे घोड़े की टाप
 चौखटा जड़ती जाती है
 आगे के नदी-व्योम, घाटी पर्वत के आसपास :
 मैं एक चित्र में
 लिखा गया सा आगे बढ़ता जाता हूँ।

कविता समाप्त। अब ये घोड़े की जो टाप है, उससे एक चौकटा जैसा गढ़ता जा रहा है—टप-टप-टप। एक ध्वनि नाद, एक चित्र हमारे सामने उपस्थित करता है। जो कम लोगों में पाया जाता है। यह अनुप्रास अलंकार नहीं है कि, 'वन में, बादल में, बढ़ो रे बसन्त है', वो नहीं है ये। 'केलन में, केलि में, कुंजन, कछारन में', ये पद्माकर नहीं हैं। जो घोड़े

की टाप है, उससे एक चित्र बनता है हमारे सामने। शब्द चित्र। जो हाइकू आमतौर से करता है लेकिन साथ ही एक और सत्य देता है उसमें। केवल चित्र बनाते रहे तो वह बिम्ब वाली कविता होगी। केदारनाथ अग्रवाल की लिखी हुई कविता 'बिम्बवाद' पढ़िएगा। इमैजिस्ट पोएट हुए थे जो कहते थे कि कविता तो इमेज मात्र होती है। ये कविताएँ जो हाइकू की परम्परा में लिखी गई हैं वो अंग्रेजी कविता की इमेजिज़्म से अलग हैं। क्योंकि इसमें बिम्ब महत्वपूर्ण नहीं है उस बिम्ब से निकलने वाला वो उपलक्षण महत्वपूर्ण है जो जीवन का सच है।

दूसरी कविता है—'धूप'। कविता ऐसे चलती है—सूप सूप भर धूप कनक यह सूने नभ में गई बिखर चौधारा बीन रहा है उसे अकेला एक कुरर। वैसे तो सूप और धूप तो वही है लेकिन सूप व धूप मुहावरा हिन्दी में मैंने आज तक तो सुना नहीं है ये और बात है कि तुक की वजह से ये शब्द आ गए। सूप-सूप भर धूप कनक, पंजाब में गेहूँ को लोग कनक कहते हैं। कनक (गेहूँ) को चौधारा हुआ एक अकेला कोयल (कुरर) बनी रहा है, कुरर नहीं। मैं नहीं जानता, आमतौर से कुरर का रोदन तो प्रसिद्ध है, कुरर का जिक्र भी आता है। पर यहाँ कुरर का नहीं, अज्ञेय ने कुरर का उल्लेख किया है। चूँकि यह स्त्रीलिंग नहीं पुल्लिंग है, इसलिए कवि से पूछना चाहिए कि वह आप तो नहीं है। दरअसल अज्ञेय के यहाँ बाद की कविताओं में जो आध्यात्मिक की छवि मिलती है यह वो है। इसको अज्ञेय अपनी भाषा में कहते हैं कि, यह व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं है बल्कि यह व्यक्तित्व से मोक्ष है। इसलिए अज्ञेय प्रेम की कविता लिखते-लिखते, हाइकू लिखते हुए, असाध्य वीणा, जो शिखर है, वहाँ तक लगभग उस मोक्ष की कामना करते हुए चले गए और उसकी परिणति 'जीवन-मर्म' नामक उस कविता में हुई जिसमें 'थिर हो गई पत्नी' वाली बात है। सारी साहित्य साधना, प्रयोग, चमत्कार, उपमाएँ, चित्र, बिम्ब सब थिर जाते हैं। ऐसे में हम कह सकते हैं कि, अज्ञेय की काव्यदृष्टि एक साधना थी। चाहे वो मरुभूमि में हों, चाहे समुद्र में, चाहे पहाड़ों में हों, झरने में हों, नदियों में हों, प्यार में हों, युद्ध के मैदान में हो तमाम चीजों के बीच अन्तिम साधना अज्ञेय की यही थी, कि उस स्थिर बिन्दु को, प्वाइंट को प्राप्त किया कि नहीं। जिसे हम लोग अपनी भाषा में शान्त रस कहते हैं, वो मिला या नहीं मिला मैं नहीं जानता लेकिन मैं समझता हूँ कि उनकी जो काव्यानुभूति है वो लगभग शान्ति पर्यावसायी है। पता नहीं वह शान्ति वो पाते हैं या नहीं? जीवन में वो मिली हो, न मिली हो मैं नहीं जानता, उसका हिसाब-किताब, जाँचने का कोई साधन नहीं है। ये अधूरी रिपोर्ट आपके सामने मैंने पेश की है। अगर सम्भव हुआ तो मैं एक छोटी-सी किताब अज्ञेय के बारे में, जो मेरी समझ है उसमें लिखने की कोशिश करूँगा। हमारे अत्यन्त प्रिय, आत्मीय सत्य प्रकाश की स्मृति ही उसके लिए प्रेरणादायी होगी और श्रेय यही होगा कि वो किताब मैं सत्यप्रकाश को समर्पित करूँ।

[हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से आयोजित
'सत्यप्रकाश मिश्र स्मृति व्याख्यानमाला-2010' के अन्तर्गत दिया गया व्याख्यान]
लिप्यंतरण-तेजभान

रवीन्द्रनाथ के पत्र

✍ अनु.-रामशंकर द्विवेदी

छिन्न पत्रावली में रवीन्द्रनाथ के इन्दिरादेवी चौधुरानी (1873-1960) अपनी भतीजी को लिखे 252 पत्र संकलित हैं। ये पत्र 1887 सितम्बर से लेकर 1895 दिसम्बर के बीच लिखे गये हैं। इनमें से कुछ पत्र साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित रवीन्द्र संचयन में छपे थे। पूरे पत्र हिन्दी में आने शेष हैं। रवीन्द्रनाथ की 150वीं जयन्ती के अवसर पर उनके जिन दो ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद का मैंने संकल्प लिया, उनमें एक छिन्न पत्रावली भी है। बाङ्ला में अब तक रवीन्द्रनाथ के पत्रों के 19 खण्ड निकल चुके हैं। ये पत्र उनकी ग्रन्थावली में सम्मिलित नहीं हैं। रवीन्द्रनाथ ने पहले इन्दिरादेवी को लिखे गये सिर्फ 145 पत्र स्वयं सम्पादित कर छापे थे। बाद में इसमें 107 पत्र और जोड़कर यह संकलन 1960 ईस्वी में प्रकाशित किया गया। फिर इसका पुनर्मुद्रण उनकी जन्म शताब्दी के अवसर पर 1963 ईस्वी में प्रकाशित हुआ। इन पत्रों में रवीन्द्र का मन सुरक्षित है। इनमें काव्य और समीक्षा की सैद्धान्तिकी भी है किन्तु झलक भर। इनमें दर्शन भी है और आस-पास का देखा हुआ संसार भी। जितना इनमें व्याप्त आकाश सत्य है उतना ही धरती का प्रसार। इनमें मनोविज्ञान भी है और मानवीय मन को मथने वाले मानवीय आवेग भी।

रवीन्द्र के मन, उनके जीवन और व्यक्तित्व को समझने के लिए इन पत्रों का ऐतिहासिक महत्त्व है। इन पत्रों के सम्बन्ध में स्वयं रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—

“तुझे मैंने जो सब चिट्ठियाँ लिखी हैं, उनमें मेरे मन के जो सब विचित्र भाव हैं, वे जितनी स्पष्टता से व्यक्त हुए, उतनी स्पष्टता से मेरी और किसी रचना में व्यक्त नहीं हुए हैं। जब मैं तुझे लिखता हूँ, तब मेरे मन में यह विचार कभी नहीं आता कि तू मेरी कोई बात नहीं समझ पाएगी, अथवा ग़लत समझेगी, या उस पर विश्वास नहीं करेगी, किंवा जो मेरे लिए गम्भीर सत्य बातें हैं, उन्हें तू सुललित रूप में लिखी गई काव्यात्मक उक्तियाँ मात्र मानेगी। इसीलिए, मैं जैसा मन में सोचता हूँ, ठीक वैसा ही बिना किसी आयास के कहता जाता हूँ। जब मुझे यह पता रहता है पाठक लोग मुझे ठीक तरह नहीं जानते हैं, मेरी कई बातों को वे ठीक-ठीक समझेंगे भी नहीं और विनम्रता पूर्वक मुझे समझने का प्रयास भी नहीं करेंगे और मेरी जो बातें उनकी मानसिक अभिज्ञता से मेल नहीं खाएँगी उन्हें वे मेरे ऊपर विश्वास कर ग्रहण भी नहीं करेंगे। इस स्थिति में मन के भाव वैसी सहज भाषा में प्रवाहित ही नहीं होना चाहते हैं और जो व्यक्त होते भी हैं, उनमें मेरा बहुत कुछ छद्मवेश बना रहता है। इससे ही मैं अच्छी तरह यह समझ सकता हूँ, मेरी जो सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति है उसे मैं अपनी इच्छानुसार किसी को भी नहीं दे पाता हूँ। मेरे भीतर सबसे

बढ़कर जो गम्भीरता, उच्चतम, अन्तरतम अंश है वह मेरी पकड़ से बाहर है। उसे देने या बेचने की मुझमें क्षमता नहीं है—हम दैववश ही प्रकाशित हो पाते हैं। इच्छा से या प्रयास करने से हम प्रकाशित नहीं हो सकते हैं। मैं चौबीस घण्टे जिनके साथ रहता हूँ, उनके सामने भी अपने को व्यक्त करने में असमर्थ हूँ। तेरा स्वभाव इतना अकृत्रिम है, उसमें इतनी सहज सत्यप्रियता है कि सत्य तेरे सामने अत्यन्त सहजता से व्यक्त हो उठता है। यह तेरे अपने गुण के कारण होता है। अगर किसी लेखक की सबसे अच्छी रचनाएँ उसके पत्रों में ही दिखायी देती हैं, तो फिर यह भी समझ लेना चाहिए कि जिसको ये पत्र लिखे गये हैं, उसमें भी पत्र लिखवा पाने की क्षमता है। मैंने अन्य कई लोगों को भी चिट्ठियाँ लिखी हैं, किन्तु, कोई भी मेरे समस्त लेखन को आकर्षित नहीं कर पाया है।

तेरे अकृत्रिम स्वभाव में एक सरल स्वच्छता विद्यमान है, सत्य का प्रतिबिम्ब तेरे भीतर अति अव्याहत भाव से प्रतिफलित हो।”

यहाँ पर प्रस्तुत 10 पत्र 22 जून, 1892 से लेकर 13 अगस्त, 1893 के बीच लिखे गये हैं। इन पत्रों को लिखे हुए आज 117 वर्ष हो चुके हैं। जिस समय ये पत्र लिखे गए उस समय रवीन्द्रनाथ की उम्र 30 वर्ष थी। ये चिट्ठियाँ इतनी पुरानी होते हुए भी आज भी प्रासंगिक हैं। ऐसा लगता है जैसे हमारे समकाल को ये चिट्ठियाँ संबोधित की गई हों। इन पत्रों में रवीन्द्रनाथ का संगीत प्रेम, गीत रचना, कविता और उसकी रचना-प्रक्रिया, उसके प्रति रवीन्द्र का मनोभाव, पद्मा नदी के किनारे फैली प्रकृति, वर्षा, साँझ-सवेरे का आकाश, चरवाहे, ग्राम बधुओं का हास्यालाप सभी कुछ व्यक्त हुआ है। ये सभी पत्र शिलाइदह, आजादपुर, पतिसार कभी-कभी कलकत्ता से उस समय लिखे गए हैं जब रवीन्द्रनाथ को महर्षि देवेन्द्रनाथ ने जमींदारी का काम-काज देखने के लिए शिलाइदह भेजा था। पत्रों के शुरुआत और अंत में जो स्थान और तिथियाँ हैं वे क्रमशः भेजे जाने और पहुँचने की तिथियाँ और स्थान हैं।

एक

कोलकाता

22 जून, 1893

तुमने उस दिन अपने पत्र में मुझे पर आरोप लगाया था कि विवाह आदि विषयों को हम लोग अत्यधिक सैद्धान्तिक रूप से देखते हैं, तुम्हारे इस कथन पर इस बीच मैंने कई बार विचार कर देखा है और विशेष विचार करने के बाद उसकी सच्चाई के सम्बन्ध में मुझे कोई सन्देह नहीं है। वास्तव में, मेरे जैसे लोग दुनिया की अधिकांश चीजों को कुछ दूर से ही देखते हैं—स्वभावतः ही हर विषय को विचार के द्वारा ही देखना चाहते हैं। मन रूपी वस्तु बैल की आँख जैसी लालटेन की तरह होती है। जिस समय जिस पदार्थ पर विचार का आलोक निक्षेप करती है, उस समय उसके आस-पास की चीजों को नहीं देख पाती है—यहाँ तक कि उन्हें और भी दुगुने अँधेरे में ढकेल कर केवल एक वस्तु को ही अतिरिक्त आभा से जाज्वल्यमान कर देती है। इस तरह से देखना एक बहुत बड़ा और

व्यापक दोष है। आस-पास के साथ मिलाकर देखने से सभी वस्तुएँ हमारी दृष्टि और मन को सदृश प्रतीत होती हैं—विशाल संसार के एक अंश को विशाल संसार के साथ जोड़कर देखने से वह वस्तु फिर उतनी महत्वपूर्ण नहीं लगती है। स्व... के बारे में मैंने जो सब दार्शनिक प्रपत्तियाँ प्रस्तुत की थीं, वे सब अब किसी काम की नहीं हैं। सुख-दुःख तो सभी स्थितियों में होते हैं, कोई भी एक बार ही अतिरिक्त मात्रा में नहीं होता है। सबसे बढ़कर दो स्त्री-पुरुषों का परस्पर जीवन में गठबंधन कर मिल-जुलकर सुख और स्वच्छन्दतापूर्वक रहने की ही तो बात है—दुनिया। मन में यही विचार रखकर सब कुछ मिला-जुलाकर, हिसाब लगाकर देखने से कुछ कम तो देखने को मिलता नहीं है। यही देखो ना—सब लोग खूब आनन्द में ही तो हैं—हाँ, यह भावावेश कुछ दिन बाद कम हो जाएगा, तब अभ्यास बन्धन में, स्नेहबन्धन में बँधकर जीवन विस्तृत और व्याप्त होकर धीरे-धीरे प्रवाहित होता रहेगा। हमारे जैसे अभागे 'विचारशील' व्यक्ति इसे ठीक-ठीक नहीं समझ पाते हैं। हम लोग अपने बारे में भी सिर्फ चिन्ता कर-करके, कल्पना कर-करके अपने आपको व्यर्थ और असफल कर डालते हैं। हर खण्डित स्थिति ही हमारे लिए बड़ा प्रमुख रूप धारण कर लेती है। सुख अत्यधिक सुख हो जाता है, और दुःख एकान्त रूप से अत्यन्त तीव्र हो जाता है। आपके जीवन का जो प्रधान सुख, जो प्रधान शान्ति होती है उसमें आद्योपान्त रूप में जो एक सामंजस्य, जो एक ऐक्य होता है, वह नहीं है। इसीलिए अविराम रूप से इसी खण्ड-खण्ड, विच्छिन्न सुख-दुःख के ऊपर से चलते-चलते हमारा जीवन एक बार ही थक जाता है—लगता है, सुख-दुःख और कुछ भी मैं नहीं चाहता, अब तो दीर्घकाल के लिए अगर शान्ति और निश्चेष्ट रूप में इस उदार, उन्मुक्त, सुन्दर और शान्त प्रकृति के ऊपर पड़े-पड़े धूप ले सकूँ तो चैन मिले। किन्तु, जो लोग मन रूपी वस्तु से अधिक पीड़ित नहीं हैं, दुनिया में किसी भी स्थिति में उनके लिए किसी भी प्रकार की विशेष आशंका नहीं है, वे स्वयं सुखी रहेंगे ही, दूसरों को भी सुखी करेंगे और जीवन के सारे कर्तव्यों को सम्पन्न करना उनके लिए अत्यन्त सहज है। अपने इस जीर्ण हृदय के रुग्ण विचारों को व्यक्त कर दुनिया को तुम्हारे लिए मूल्यहीन विभीषिका से परिपूर्ण करना मेरा भयंकर अन्याय है। तुम्हारे लिए तो जीवन में अनेक सुख, अनेक नव-नव दृश्य एवं नये-नये परिवर्तन आने वाले हैं—उन सबको तुम आनन्द पूर्वक, पूर्ण हृदय से उपभोग कर सकोगी।

शिमला

25 जून, 1893

दो

शिलाइदह

रविवार, 2 जुलाई, 1893

किसी वस्तु का यदि यथार्थ भोग करना हो तो उसे चारों ओर से अवसर का बेड़ा लगाकर घेरना पड़ता है। उसे बहुत कुछ अन्य वस्तुओं के साथ मिलाकर, आस-पास बिखेरकर, चारों ओर फैलाकर, तभी उसे सोलह आना आयत्त किया जा सकता है। दूर-दराज के इलाके

में अकेले रहते समय चिट्ठी-पत्री जो इतनी अच्छी लगती है, उसका प्रमुख कारण यह है कि चिट्ठी के हर अक्षर को एक-एक बूँद की तरह निःशेष रूप में ग्रहण करने का अवसर मिल जाता है, मन की कल्पना उसकी हर बात में गुँथ-बुनकर, लता की तरह विकसित होकर हमें लपेट लेती है—काफी क्षणों तक कल्पना की एक गति को अनुभव किया जा सकता है। अत्यधिक लालचवश जल्दी करने से उस सुख से हमें वंचित होना पड़ता है। सुख की इच्छा इतनी जल्दी-जल्दी आगे-आगे चलती है कि कई बार सुख को ही लाँघकर चली जाती है और पलक झपकते ही सब कुछ को नष्ट कर डालती है। इसी तरह से जमीन-जायदाद और मामला-मुकद्दमा के मध्य कोई चिट्ठी ही काफी नहीं लगती है—ऐसा लगता है कि भूख बुझाने के लिए पर्याप्त अन्न ही जैसे न मिला हो। किन्तु, जैसे-जैसे मेरी उम्र बढ़ रही है, उतना ही मैं देख रहा हूँ कि पाना अपनी क्षमता के ऊपर निर्भर करता है। दूसरे लोगों को हमें क्या देना चाहिए इसको लेकर शिकवा-शिकायत करना भूल है, मैं कितना ले सकता हूँ, यही है असली बात। हाथ के पास जो आ गया हो, उसे ही पूरी तरह हस्तगत करना, काफी शिक्षा, साधना और संयम के द्वारा ही सम्भव होता है। वह शिक्षा प्राप्त करने में जीवन का प्रायः बारह आना समय चला जाता है, उसके बाद उस शिक्षा का फलभोग करने के लिए अधिक समय मिलता ही नहीं है। इति सुखतत्त्व रूपी शास्त्र का पहला अध्याय।

शिमला

6 जुलाई, 1893

तीन

शिलाइदह

सोमवार, 3 जुलाई, 1893

कल सारी रात तेज आँधी गली के कुत्ते की तरह हू-हू करते हुए रोती रही थी—और वर्षा भी अविश्रांत रूप से चल ही रही थी। मैदान का जल छोटे-छोटे झरनों के रूप में अनेक दिशाओं से कल-कल करते हुए नदी में गिर रहा था। किसान लोग उस पार की चर से धान काटकर लाने के लिए कोई तो सिर पर ताड़ के पत्ते, कोई अरुई के पत्ते रखकर भीगते हुए खेया नाव से नदी पार कर रहे हैं—बड़ी-बड़ी बोझा ढोने वाली नावों के सिर पर माझी लोग पतवार रखे हुए बैठे-बैठे भीग रहे हैं। और मल्लाह लोग रस्सी को कंधे पर रखकर किनारे पर भीगते-भीगते नाव खींचते चल रहे हैं। ऐसा कुसमय है फिर भी दुनिया के काम-काज बन्द रहें इतनी सामर्थ्य किसी में भी नहीं है। पक्षीगण मुरझाए मन से अपने-अपने घोंसलों में बैठे हुए हैं, किन्तु मनुष्य के बच्चे इस वक्त भी घर से निकल पड़े हैं। मेरी बोट के सामने दो चरवाहे बालक जानवरों का एक दल लेकर चरा रहे हैं—जानवर कचर-कचर शब्द करते हुए इस वर्षा से चमकती सरस, श्यामल, सिक्त घास से अपना मुँह भरकर पूँछ हिलाकर पीठ की मक्खियाँ भगाते-भगाते स्निग्ध, शान्त नेत्रों से घास खाते-खाते घूम रहे हैं। उनकी पीठ पर वर्षा और चरवाहे बालकों का डण्डा अविश्रांत रूप

से पड़ रहा है, दोनों का ही पड़ना उनके लिए अकारण अन्यायपूर्ण तथा अनावश्यक था, और दोनों को ही वे सहिष्णुतापूर्वक बिना किसी एतराज के सहे जा रहे थे और कचर-कचर करते हुए घास खा रहे थे। इन जानवरों की दृष्टि कैसी विषादपूर्ण, शान्त गम्भीर और स्नेहमय थी—बीच से मनुष्य के कर्मों का बोझ इन बड़े-बड़े जीवों के कंधे पर क्यों आ पड़ा है? नदी का जल हर दिन बढ़ता जा रहा है, परसों के दिन बोट की छत पर से जितना पानी दिखायी दे रहा था, आज बोट के जंगले के पास बैठने से ही उतना पानी दिखायी दे रहा है—प्रतिदिन सवेरे उठकर देखता हूँ तट का दृश्य धीरे-धीरे फैलता जा रहा है। इतने दिनों से इस दूर गाँव के पेड़-पौधों के सिर पल्लवों के मेघ की तरह दिखायी दे रहे थे, आज तो पूरा वन ही आगे-पीछे समेट मेरे सम्मुख आकर उपस्थित हो गया है—जल और थल दोनों ही शर्मिले प्रेमी की तरह थोड़े-थोड़े एक दूसरे के पास अग्रसर हो रहे हैं—लज्जा की सीमा पार हो जाने के कारण एक-दूसरे के गले मिलने के नजदीक आ गए हैं। बादलों से भरे दिन और इस भरी नदी से होकर नाव से जाना बहुत अच्छा लगेगा। घाट पर बँधी बोट छोड़ दी जाए इसके लिए मन बहुत अधीर है।

शिमला

7 जुलाई, 1893

चार

शिलाइदह

मंगलवार, 4 जुलाई, 1893

आज सवेरे-सवेरे थोड़ी-थोड़ी धूप निकलने का आभास हो रहा है। कल शाम से वर्षा थम गयी है किन्तु, आकाश के किनारे-किनारे परत-दर-परत इतने मेघ जमा हो गये हैं कि वर्षा होने की बहुत आशा नहीं है। ऐसा लग रहा है जैसे मेघों के काले कारपेट को किसी ने पूरे आकाश से समेटकर एक छोर पर तह बनाकर रख दिया हो। इस समय एक व्यस्त बगीश की तरह हवा उसे फिर से पूरे आकाश में बिछाना प्रारम्भ कर देगी, तब नीले आकाश और सुनहली धूप का फिर कोई निशान ही दिखायी नहीं देगा। इस बार आकाश में इतना जल था कि हमारे चर में भी नदी का जल घुस गया था। किसान लोग कच्चे धान काट कर नावों पर लादकर ला रहे हैं—मेरी बोट की बगल से होकर उनकी नाव जा रही है और धीरे-धीरे उनका हाहाकार मुझे सुनने को मिल रहा है। अगर चार दिन और धान खड़े रहते तो पक जाते, इस समय कच्चे धान काटना किसान के लिए कितना दारुण है इसे तो तुम समझ ही रही हो। इन बालों में दो-चार धान थोड़े कड़े होकर मर जाएँ यही उनकी आशा है। प्रकृति की कार्यप्रणाली में दया नामक वस्तु कहीं है जरूर, नहीं तो हमें वह मिलती कहाँ से—किन्तु, किस जगह पर है इसे खोज पाना कठिन है। इन शत सहस्र निर्दोष किसानों की नालिश कहीं पर जाकर नहीं पहुँचती है—वर्षा जैसी होनी है, होती ही है, नदी में जैसी बाढ़ आ रही है, आती ही है, विश्व में इस सम्बन्ध में किसी अदालत से उनके लिए कोई न्याय पाना उनकी शक्ति में नहीं है। मन को यह समझाना होगा कि कुछ भी समझने

की ताकत नहीं रही है। किन्तु, इतनी बुद्धि भी कहीं मनुष्य को दे दी जाती तो फिर संसार में दया है, न्याय विचार है इसे समझना उसके लिए कठिन न होता, कारण उसे समझना बहुत आवश्यक है। किन्तु, यह सब बेकार की नुक्ताचीनी मात्र है। क्योंकि सृष्टि कभी भी सिर्फ सुख की नहीं हो सकती है। जब तक इसमें अपूर्णता है, अभाव है, तब तक दुःख तो रहेगा ही। जगत् अगर जगत् न होकर ईश्वर होता तब इसमें कोई त्रुटि न रहती—किन्तु, उतनी दूर तक विचार करने का साहस नहीं होता है। सोचकर देखने पर सारी बातों के मूल में यह विचार ठहरता है कि आखिर यह सृष्टि हुई क्यों? किन्तु, यदि उस सम्बन्ध में कोई आपत्ति न उठायी जाए, तो फिर इस संसार में दुःख क्यों है यह नालिश करना भी मिथ्या है। इसीलिए बौद्ध लोग शुरू से ही क्रोध को मारना चाहते हैं—वे कहते हैं जब तक अस्तित्व है, तब तक दुःख निरोध नहीं हो सकता है, एकदम निर्वाण चाहिए। क्रिश्चियन लोगों का कहना है, दुःख तो बहुत ऊँची वस्तु है, ईश्वर ने स्वयं मनुष्य होकर हमारे लिए दुःख भोगा है। उससे हमें जितनी शान्ति मिल जाए। किन्तु, नैतिक दुःख एक बात है और पके धान डूब जाने का दुःख और है। मेरा कहना है जो हुआ, अच्छा हुआ, यह जो मैं हुआ हूँ और यह अचरज भरा संसार हुआ है, यह एक वरदान है—ऐसी वस्तु का नष्ट न होना ही अच्छा है। बुद्धदेव ने इसके उत्तर में कहा है, अगर तुम इस वस्तु की रक्षा करना चाहते हो तो तुम्हें दुःख सहन करना होगा। तो ठीक है मैं दुःख सहूँगा, जिससे मैं बना रहूँ और मेरा संसार बना रहे। बीच-बीच में अन्न-वस्त्र का कष्ट, मानसिक क्षोभ, निराशा वहन करनी पड़ती है, किन्तु जब उस दुःख से बढ़कर अस्तित्व से प्रेम करता हूँ, और अस्तित्व के लिए ही उस दुःख को वहन करता हूँ, तब फिर और कुछ कहना शोभा नहीं देता है।

शिमला

8 जुलाई, 1893

पाँच

इछामती

बृहस्पतिवार, 6 जुलाई, 1893

कल पूरा दिन बहुत साफ रहा था। कई दिन बाद मेघ चले जाने से नई रोशनी से दसों दिशाएँ उज्ज्वल हो उठी थीं; प्रकृति जैसे स्नान के बाद नये धुले वासन्ती रंग के वस्त्र पहनकर स्वच्छ, प्रसन्न, प्रफुल्लित मुख से अपने भीगे केशों को वातास में सुखा रही थी—(तो भी) मेरा मन अत्यन्त उद्भ्रान्त था। जैसे निर्जन कारा में बन्द हो, ऐसा भाव था। किन्तु, आज दिन की काम-काज की भीड़ में उस भाव को मन में पोषित करने का अधिक समय नहीं मिला। काम समाप्त कर दिन के चार-पाँच के लगभग जब बोट पानी में छोड़ दी तब पूर्वी दिशा में एक घनी, काली घटा उठने लगी। धीरे-धीरे थोड़ी तेज हवा के साथ वर्षा भी हुई। उस शाखा नदी के भीतर जब प्रवेश किया वर्षा रुक गयी। पानी में चर बह गयी—मनुष्य जितनी लम्बी घास एवं झाऊ वन के भीतर से होकर सर्-सर् शब्द करती

हुई रस्सी के खिंचाव से नाव चलने लगी। थोड़ी दूर जाते ही अनुकूल हवा मिल गयी। माझी से पाल चढ़ा देने के लिए कहा, पाल चढ़ा दिया गया। दोनों तरफ लहरें उठती हुई कल-कल करती हुई बड़े गर्व से नाव चलने लगी। मैं बाहर चौकी लेकर बैठ गया। उस निविड़ नीलमेघ के अन्तराल में अर्धनिमग्न जनशून्य चर एवं पूरी तरह क्षितिज रेखा तक फैली हुई नदी के बीच सूर्यास्त कितना सुन्दर था, उसके वर्णन का प्रयास मैं नहीं करूँगा। विशेषकर आकाश के सुदूर प्रान्त में पद्मा की जल रेखा के ठीक ऊपर ही मेघों की जहाँ दरार-सी पड़ी हुई है, वह जगह इतनी अधिक सूक्ष्म, अत्यधिक सुनहली, अत्यन्त दूर दिखायी दे रही थी, उस स्वर्ण पट पर कतार-दर-कतार लम्बे, पतले वृक्षों से युक्त ऐसी सुकोमल, सुनील रेखा से वह दृश्य अंकित हो गया था, ऐसा लगता था मानों प्रकृति वहाँ अपनी चरमपरिणति पर पहुँचकर एक कल्पलोक में निःशेष हो गयी हो। माझी ने पूछा, “क्या चर के कचहरी घाट पर नाव को लगाऊँ?” मैंने कहा “नहीं, पद्मा में ही चलते रहो।” माझी ने नाव आगे बढ़ा दी। हवा तेज चल रही थी, पद्मा नृत्य करने लगी, पाल हवा भरने से फूल गया। दिन का प्रकाश विलीन होने लगा, आकाश के छोर के मेघ धीरे-धीरे आकाश के बीच में आकर सघन घटा करते हुए इकट्ठा होने लगे। चारों ओर पद्मा का उद्दाम चंचल जल करताली बजाने लगा—सामने दूर, नील मेघ राशि के नीचे पद्मा तट की नीली वन रेखा दिखायी दे रही थी, नदी में हमारी बोट के अलावा और कोई भी नाव नहीं थी, तीर के पास दो-एक माझी नावें अपने-अपने छोटे-छोटे पाल उड़ाते हुए घर की तरफ जा रही थीं, मैं मानों प्रकृति के सम्राट की तरह बैठा हुआ हूँ और मुझे अपने फेनिल मुख वाला अश्व नृत्य गति के साथ वहन कर लिए जा रहा है।

शिमला

11 जुलाई, 1893

छः

साजादपुर

7 जुलाई, 1893

छोटा-मोटा नन्हा-सा गाँव, टूटा-फूटा घाट, टीन की छत वाला बाजार, बाँस के बेड़ा से बना गोलाघर, बाँस के झाड़, आम, कटहल, बिरिया, खजूर, शिमूल, केला, मन्दार, अंडी, ओल, कोमल लतागुल्म तथा घास के समवेत झाड़-झंखाड़ से भरा जंगल, घाट पर बाँधी, मस्तूल उठाए वृहदाकार नावों का दल, डूबे हुए धान और अधडूबे पटसन के खेतों से होकर क्रमशः टेढ़े-मेढ़े, आड़े-तिरछे रास्ते से कल शाम को साजादपुर आ पहुँचा। अब कुछ दिनों के लिए मेरा यहीं स्थायी-सा वास हो गया है। कई दिन बोट में रहने के बाद साजादपुर का घर बहुत अच्छा लग रहा है—जैसे मुझे नयी स्वाधीनता मिल गयी हो। जितनी खुशी घूमूँ-फिरूँ, हिलूँ-डुलूँ और चाहे जितना शरीर फैलाऊँ। इतनी जगह मिल जाने से मनुष्य के मानसिक सुख का जो अन्तरंग है, उसका एकाएक आविष्कार जैसे हो गया हो। आज सवेरे बीच-बीच में बहुत अच्छी धूप दिखायी दे रही है, वातास चंचल गति से बह रही

है, झाऊ और लीची के वृक्ष धीरे-धीरे सर-सर, मर-मर ध्वनि करते हुए डोल रहे हैं, अनेक किस्म के पक्षी, अनेक भाषाओं, अनेक सुरों में बोलते हुए सवेरे के अरण्य में अपनी मजलिस जमाए हुए हैं—मैं अपने दोतला के इस संगीहीन, प्रशस्त, निर्जन, आलोकित, उन्मुक्त कमरे में बैठे-बैठे जंगले से, झील के ऊपर श्रेणीबद्ध नावों और उस पार के वृक्षों के बीच से झाँकते गाँवों और इस पार के अनतिदूरवर्ती लोकालय का मृदु-मंथर गति से चलने वाले कर्मप्रवाह का निरीक्षण करते हुए मन में बहुत आनन्दित हूँ। इस दूर देहाती गाँव का कर्मप्रवाह कोई बहुत तेज नहीं है, यद्यपि नितान्त जीवन-रहित और निष्क्रिय भी नहीं है। कर्म एवं विश्राम दोनों ही पास-पास एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुए जैसे एक साथ चलते रहते हैं। खेया नाव एक पार से दूसरे पार आ-जा रही है, राहगीर हाथ में छाता लिए झील के किनारे-किनारे के रास्ते से होकर जा रहे हैं, स्त्रियाँ छबला डुबोकर चावल धो रही हैं, किसान पटसन के गड्ढर को सिर पर रखे हुए बाजार जा रहे हैं, दो व्यक्ति पेड़ के तने को धरती पर डालकर कुल्हाड़ी से काट रहे हैं, एक लुहार पीपल वृक्ष के नीचे मछुवारे की डोंगिया को उल्टी डालकर हाथ में छेनी लेकर उसकी मरम्मत कर रहा है, गाँव का कुत्ता झील के किनारे-किनारे बिना किसी उद्देश्य के घूमता फिर रहा है। कुछ जानवर वर्षा की घास अपर्याप्त मात्रा में खाते हुए अलस भाव से धूप में जमीन में लेटे-लेटे कान एवं पूँछ से मक्खियाँ भगा रहे हैं और कौए आकर उनके मेरुदण्ड पर बैठकर जब उन्हें बहुत परेशान करने लगते हैं, तब वे एक बार अपनी गर्दन हिलाकर भारी एतराज जता रहे हैं। यहाँ के यही एक-दो ठक्-ठक्, ठुक्-ठुक्, एकरस शब्द, नंग-धड़ंग बच्चों के खेलने की कल्लोल-ध्वनि, चरवाहों का उच्च स्वर से करुण गान, चप्पू का छप्-छप् शब्द, कोल्हू की घानी का तीक्ष्ण कातर विषाद स्वर, यह सब कर्म कोलाहल एक साथ मिलकर पक्षियों की चहचहाहट और पत्तों की मर-मर ध्वनि के साथ मिलकर ऐसे ध्वनि साम्य बना रहे हैं जैसे लगता हो कि यह सब कुछ स्वप्नमय, करुणा मिश्रित एक बड़े नाटक के अन्तर्गत हो रहा, कुछ-कुछ सोपान पंक्ति जैसा, किन्तु, बहुत कुछ एक विस्तृत, वृहद अथच संयत मात्रा में आबद्ध। मेरे मन में सूर्य का आलोक एवं ये सारे शब्द एक बार ही जैसे लबालब भर गए हों इसलिए चिड़ी लिखना बन्द कर कुछ क्षण पड़े रहना ही उचित है।

शिमला

11 जुलाई, 1893

सात

साजादपुर

10 जुलाई, 1893

तुम्हें मेरे गीत मिल गए। 'बड़ों वेदनार मतो'—बड़ी वेदना की तरह तुम मेरे हृदय में बजते रहे। गाने की लय ठीक शायद किसी मजलिसी बैठकी की तरह नहीं है—ये सब गाने थोड़े एकान्त में गाये जाने योग्य हैं। इनकी लय खराब बनी है, ऐसी बात नहीं है। अगर कहूँ कि अच्छी बनी है, तो जरा भी अत्युक्ति नहीं होगी। इस गाने को मैंने नाव

घर में कई दिनों में थोड़ा-थोड़ा लय के साथ तैयार किया था—नाव घर में गाना तैयार करने में कई भारी सुविधाएँ हैं। पहले तो एकान्त—दूसरे और कोई काम करने का कोई दबाव नहीं रहता है—सिर पर एक कनस्तर पानी डालकर पाँच मिनट गुनगुनाने मात्र से कर्तव्य ज्ञान पर कोई विशेष आघात नहीं पहुँचता है—सबसे बड़ी सुविधा यह होती है कि किसी तरह के दर्शक की सम्भावना न रहने से, पूरे मन से मुँह खोलकर मुख मुद्रा बनायी जा सकती है। अगर इस तरह की मुख भंगिमा न बनायी जाए तो फिर गाना तैयार करने की स्थिति किसी भी तरह नहीं आती है। यहाँ चूँकि किसी तरह की युक्ति या तर्क का काम नहीं है, निरा आवेश का भाव है, एक तरह का पागलपन। यह गाना मैं आजकल भी सदा गाता रहता हूँ—आज सवेरे भी मैं कई क्षण उसी को गुनगुनाता रहा, गाते-गाते एक तरह का गहरा भावोन्माद भी पैदा हो जाता है। इसलिए यह मेरा एक प्रिय गाना है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। यहाँ पर मैं खूब मुग्ध और तल्लीन चित्त और अर्द्धनिमीलित नेत्रों से उसे गाता रहता हूँ और जीवन, दुनिया और सूर्य की किरणों एक अत्यन्त सूक्ष्म, अश्रुवाष्प से आवृत्त होकर सतरंगे इन्द्रधनु रेखा से रंजित होकर दिखायी देती हैं—चिरदिन के सत्य को चिरदिन के सौन्दर्य में अनूदित कर दिया जाता है, इसलिए दुःख और कष्ट भी आभारमय हो उठते हैं। बिना किसी विलम्ब के खजांची ने दो अण्डे, एक छटांक मक्खन, एक पाव घी और छह पैसे के सरसों के तेल का हिसाब लाकर दिया। हमारा यहाँ का इतिहास इसी तरह का है।

आठ

साजादपुर

30 आषाढ़, 1300

आजकल कविता लिखना मेरे लिए एक प्रकार का गोपन, निषिद्ध सुख-सन्तोष जैसा हो गया है—इधर अगले मास की 'साधना' के लिए एक लाइन भी नहीं लिखी जा सकी, उधर बीच-बीच में सम्पादक का उलाहना आ रहा है, अनतिदूर, आश्विन-कार्तिक मास की 'साधना' रिक्त हस्त होकर मेरा मुँह जोहती हुई भर्त्सना कर रही है और मैं भागकर अपनी कविता के अन्तःपुर में आश्रय लिए हुए हूँ। रोज सोचता हूँ, आज का एक ही दिन तो नहीं है, ऐसा ही करते हुए कई दिन बीत गए। मैं सचमुच में यह नहीं सोच पाता कि मेरा कौन-सा असली काम है। कभी-कभी लगता है मैं छोटी-छोटी अनेक कहानियाँ लिख सकता हूँ और वे कोई बुरी नहीं लिखी जाएँगी, लिखते समय सुख भी मिलता है। कभी-कभी लगता है, मेरे दिमाग में अनेक भावों का उदय होता है, जो ठीक-ठीक कविता में व्यक्त करने योग्य नहीं होते हैं, उन्हें डायरी आदि के रूप में प्रकाशित करना अच्छा रहेगा, शायद उसका कोई अनुकूल फल भी होगा और आनन्द भी होगा। कई बार सामाजिक विषयों को लेकर अपने देश के लोगों के साथ झगड़ा करना बहुत आवश्यक है। जब और कोई यह काम नहीं कर रहा है, तो मुझे तो यह काम करना ही पड़ेगा। और फिर कभी-कभी विचार उठता है, यह सब खाक में मिलें, भाड़ में जाएँ, दुनिया अपने चरखे में खुद तेल

देगी—तुक मिलाकर, छन्द गूँथ छोटी-छोटी कविताएँ लिखना आजकल खूब आ रहा है, सब छोड़-छाड़ कर अपने मन में, अपने कोने में बैठकर वही काम किया जाए। मद से चूर युवती जैसे अपने कई प्रेमियों में से किसी भी प्रेमी को छोड़ना नहीं चाहती है, मेरी कई अंशों में वैसी ही दशा हो गयी है।

मौजूद कामों में मैं किसी को भी निराश नहीं करना चाहता, किन्तु, उससे मेरा काम बहुत बढ़ जाएगा और 'लम्बी दौड़' में मैं किसी पर भी शायद पूरा-पूरा अधिकार न कर सकूँगा। साहित्य क्षेत्र में भी कर्तव्य-बुद्धि का अधिकार है, किन्तु अन्य क्षेत्र की कर्तव्य-बुद्धि के साथ उसका भेद है, किस प्रकार दुनिया का सबसे बढ़कर उपकार होगा, साहित्यिक कर्तव्य ज्ञान में इसके बारे में सोचने की कोई जरूरत नहीं है, किन्तु, सबसे अधिक मैं किस काम को अच्छी तरह से कर सकता हूँ, विचारणीय विषय यही है। शायद सब क्षेत्रों में भी यही बात लागू होती है। मेरी बुद्धि में जहाँ तक आता है, उससे तो मुझे ऐसा लगता है कि कविता पर ही सबसे बढ़कर मेरा अधिकार है। किन्तु, मेरी क्षुधाग्नि ऐसी है जो विश्व और मनोराज्य में सर्वत्र अपनी ज्वलन्त शिखा की आभा फैलाना चाहती है। जब मैं गाना तैयार करना आरम्भ करता हूँ, तब लगने लगता है कि अगर इसी काम में लगा रहा जाए तो बुरा क्या है? और जब मैं किसी नाटक के अभिनय में प्रवृत्त होता हूँ, तब उसका ऐसा नशा चढ़ जाता है कि लगता है, अब और क्या चाहिए, इस क्षेत्र में भी एक व्यक्ति अपना पूरा जीवन लगा सकता है। फिर जब 'बालविवाह' अथवा 'शिक्षा का हेरफेर' लेकर लग जाता हूँ, तब लगता है यही जीवन का सबसे ऊँचा काम है। मैं किस मुश्किल में पड़ा हुआ हूँ! और अगर निर्लज्ज होकर सच बात कहूँ तो चित्रकला नाम की एक विद्या है, उसके प्रति भी एक हताश प्रेमी की तरह लुब्ध दृष्टिपात करता रहता हूँ, किन्तु, उसे पाने की कोई आशा नहीं है। क्योंकि साधना करने की उम्र चली गयी है। अन्यान्य विधाओं की तरह उसे सहज में पाने की मेरी सामर्थ्य नहीं है। उसमें तो एकदम धनुष भंग जैसा प्रण होता है; तूलिका चलाते-चलाते एकदम जब तक हैरान न हुआ जाए, तब तक उसकी प्रसन्नता प्राप्त नहीं की जा सकती है। मेरी दशा तो द्रौपदी जैसी हो गयी है, आह, यद्यपि मेरे पाँच पति हैं, फिर भी यह कर्ण मेरा छठा पति होता, तो बहुत अच्छा रहता। मेरा विश्वास है यदि वह कर्ण को भी पा लेती, तो दुर्योधन-दुःशासन को भी अपने हाथ से न जाने देने की उसकी इच्छा होती। कारण एक हो या असंख्य इसके बीच में सहज रूप से विचार करने का कोई स्थान नहीं होता है। पाँच कहते ही छह अपने आप आ जाता है और छह के बाद सात, आठ, नौ, दस आदि सारी संख्याएँ कतार बाँधकर अनिमेष दृष्टि से मुख की ओर देखती हुई प्रतीक्षा करती रहती हैं। इसलिए एकमात्र कविता को लेकर रहना ही मेरे लिए सर्वाधिक सुविधाजनक है। लगता है जैसे उसी ने सबसे अधिक मुझे पकड़ाई दी है।

तूने जो नीरव कवि के बारे में प्रश्न पूछा था, उस सम्बन्ध में मेरा कहना यह है कि, कवि चाहे नीरव हो या स-रव (मुखर) दोनों में ही अनुभूति की मात्रा समान रूप से हो सकती है, किन्तु, असली कवित्व रूपी वस्तु स्वतन्त्र होती है। सिर्फ भाषा की शक्ति के कारण नहीं, गठन करने की शक्ति के कारण। एक अलक्षित, अचेतन नैपुण्य बल के कारण भाव राशि कवि के हाथों में आकर विचित्र रूप धारण कर लेती है। वही सृजनशक्ति

कवित्व का मूल है, भाषा, भाव एवं अनुभाव तो उसके उपादान मात्र हैं। किसी के पास भाषा होती है, किसी के पास अनुभाव होते हैं, किन्तु, एक और व्यक्ति होता है जिसके पास भाषा, अनुभाव और सृजन शक्ति तीनों होते हैं—अन्त में कहे गये इसी व्यक्ति को कवि की संज्ञा दी जा सकती है। पहले जिन तीन व्यक्तियों की चर्चा की गयी है, वे नीरव भी हो सकते हैं और स-रव कवि भी हो सकते हैं किन्तु, वे कवि नहीं होते हैं। उनमें से किसी-किसी को यदि भावुक कहा जाए, तो यह उनके लिए ठीक विशेषण होगा। संसार में ऐसे व्यक्ति भी दुर्लभ होते हैं और कवि का तृषित चित्त भी उनके लिए व्याकुल रहता है।

उपर्युक्त भूमिका के बाद मेरी 'जाल फेला' (जाल फेंकना) कविता की व्याख्या करना सहज होगा। इसका अर्थ क्या है, इसकी जिज्ञासा तुमने प्रकट की थी। अगर वह कविता मेरे सामने होती तो उसका अर्थ खुद अच्छी तरह समझने के बाद मैं तुम्हें समझाने का प्रयास कर सकता था, फिर भी उसका एक धुँधला-सा भाव मेरे मन में तो है ही। सोचो एक व्यक्ति अपने जीवन के प्रभातकाल में समुद्र के किनारे खड़ा-खड़ा सूर्योदय देख रहा था—अब कल्पना करो, वह समुद्र उसके अपने मन अथवा वाह्य विश्व या दोनों की सीमा के मध्य में भावों का एक पारावार हो, यह बात स्पष्ट रूप से नहीं कही गयी है। खैर जो भी हो, उस अपूर्व सौन्दर्यमय समुद्र की तरफ एकटक देखते-देखते उस व्यक्ति के मन में विचार उठा, इस रहस्य पारावार में जाल डालकर यह देखा जाए कि इसमें क्या मिल सकता है। यह कहकर उसने घूमकर उस समुद्र में अपना जाल फेंक दिया। उस जाल में अनेक प्रकार की अपरूप वस्तुएँ आने लगीं। कोई तो हँसी की तरह शुभ्र थीं, कोई आँसू की तरह उज्ज्वल थीं, कोई लज्जा की तरह आरक्त थीं। मन के उत्साह में वह केवल पूरे दिन यही काम करता रहा—गम्भीर समुद्र के नीचे जो सब सुन्दर, रहस्यमय चीजें थीं, उन्हीं को तीर पर लाकर उसने ढेर लगा दिया। इसी तरह उसने जीवन का पूरा दिन बिता दिया। शाम के समय उसने सोचा इस बार का यह प्रयास तो यथेष्ट रहा, अब इन्हें ले जाकर उसको समर्पित कर दिया जाए। किसे, यह बात स्पष्ट रूप से नहीं कही गयी है, हो सकता है अपनी प्रेयसी को, हो सकता है अपने देश को। किन्तु, उसने तो इन सब अपूर्व वस्तुओं को कभी देखा नहीं था। वह सोचने लगा, ये सब क्या हैं, इनकी आवश्यकता ही क्या है, इनसे कौन-सा अभाव दूर होगा, अगर दुकानदार से जाँच करायी जाए तो इनका मूल्य ही आखिर कितना हो सकता है? कुल मिलाकर एक बात, ये विज्ञान, दर्शन, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र, तत्त्वज्ञान आदि में से कोई भी नहीं है, ये तो केवल रंगीन भाव मात्र हैं, किसका क्या नाम, कौन-सा विवरण है, यह भी अच्छी तरह नहीं मिलता है। फलस्वरूप पूरे दिन जाल डालकर प्राप्त अगाध समुद्र की इस रत्नराशि को जिसे समर्पित किया गया, उसने कहा, ये सब आखिर क्या हैं? उस मछुआरे के मन में भी तब पछतावा होने लगा, सच है, ये चीजें तो विशेष कुछ भी नहीं हैं, मैं तो सिर्फ जाल डालता रहा और इन्हें निकालता रहा, मैं तो हाट भी नहीं जाता हूँ, रुपया, पैसा भी खर्च नहीं किया है, इनके लिए तो मुझे किसी को किसी भी तरह का रुपया या कर भी नहीं देना पड़ा है। तब वह थोड़ा निराश और लज्जित होकर उन सबको समेटकर अपने घर के द्वारे बैठ गया और उसने उन्हें एक-एक कर रास्ते में फेंक दिया। उसके दूसरे दिन सवेरे के समय पथिक लोग

उन सब बहुमूल्य चीजों को देश-विदेश अपने घर ले गये। लग रहा है, यह कविता जिसने लिखी है, वह सोच रहा है, उसकी गृहकार्यनिरता, अन्तःपुरवासिनी जन्मभूमि, उसकी समकालीन पाठक मण्डली ने उसकी कविताओं का ठीक-ठीक भाव ग्रहण नहीं किया, उनका कितना मूल्य है यह उन्हें पता नहीं है—अतएव इस समय वे रास्ते में फेंकी जा रही हैं, “तुम लोग भी इनकी अवहेलना कर रहे हो, मैं भी इनकी अवहेलना करूँगा।” किन्तु, यह रात्रि जब बीत जाएगी, तब इसके उत्तराधिकारी आकर इन्हें समेटकर देश-विदेश लेकर चले जाएँगे। खैर, जो भी हो, उत्तराधिकारिणी रूपी जो अभिसारिणी रमणी दीर्घ रात्रि की तरह धीरे-धीरे कवि की ओर अग्रसर हो रही है और हो सकता है अन्त में आकर उपस्थित भी हो सकती है, इस सुखद कल्पना का कवि को उपभोग करने देने में शायद किसी को कोई आपत्ति नहीं होगी।

उस मन्दिर कविता का ठीक-ठीक अर्थ क्या है, इसे मैं अच्छी तरह याद नहीं कर पा रहा हूँ। लगता है वह सचमुच के मन्दिर के बारे में है। अर्थात् जब कोने में बैठे-बैठे कई कृत्रिम कल्पनाओं के द्वारा अपने देवता को ढँककर अपने मन को भी एक अस्वाभाविक अवस्था में ले जाया जाता है, इसी समय अकस्मात् एक सन्देह का वज्रपात हो और वह दीर्घकाल की कृत्रिम प्राचीर टूट जाए, तब एकाएक प्रकृति की शोभा, सूर्य का आलोक और विश्वजन का कल्लोलगान आकर हमारे तन्त्र-मन्त्र, धूप-धूना के स्थान पर अधिकार कर लेता है और तब हम देख लेते हैं कि वही यथार्थ आराधना है और उसी से देवता को संतोष मिलता है। लगता है उड़ीसा के मन्दिर देख-देख कर मेने मन में इसी तरह का कोई भाव आया होगा। भुवनेश्वर के एक मन्दिर के भीतर जहाँ पर देवता की प्रतिष्ठा थी वहाँ घोर अंधकार था, वहाँ एकदम बन्द और धूप की गंध से दम घुटा जा रहा था, भगवान के जलाभिषेक से पूरा फर्श किचर-पिचर और सीलन भरा था, छोटे-छोटे, घर में अड्डा जमाने वाले चमगादड़ उड़ रहे थे, वहाँ से बाहर के सुन्दर प्रकाश में सहसा आने मात्र से ही यह बोध हो जाता था कि देवता कहाँ है, इसका आभास और आहट पाया जा सकता है।

शिमला

27 जुलाई, 1893

नौ

पतिसार

11 अगस्त, 1893

कई बड़े-बड़े तालाबों से होते हुए आना पड़ा। ये तालाब जैसी झीलें अत्यन्त अद्भुत हैं—इनका न कोई निश्चित आकार है न लम्बाई-चौड़ाई। इनमें तो जल और स्थल दोनों एकाकार हैं—यह धरती समुद्र-गर्भ से निकलते समय जैसी थी। कहीं भी कोई तट नहीं है—थोड़ा जल, थोड़ा पानी में डूबे-से धान के खेतों के सिर, कहीं थोड़ी सिवार और जलीय पौधे बहे जा रहे हैं—पनडुब्बी चिड़ियाँ तैर रही हैं, जाल फैलाने के लिए पानी में बड़े-बड़े

बाँस गड़े हुए हैं, उन्हीं के ऊपर कई रंगों के बड़े-बड़े चील बैठे हुए हैं—एक जैसा, एकरस वृहद् दृश्य। किसी द्वीप की तरह अत्यन्त दूर गाँव की रेखा दिखायी दे रही है—चलते-चलते एकाएक फिर नदी, दोनों तरफ गाँव, पटसन के खेत और बाँस के झाड़, और कब ये उस विस्तृत झील में विलीन होते जा रहे हैं, इसे समझने की ताकत नहीं है।

ठीक सूर्यास्त के आस-पास के समय जब एक गाँव पार कर आ रहा था, एक लम्बी नाव में कई छोकरे छप्-छप् कर डाँड़ चला रहे थे और उसी की ताल में यह गाना गा रहे थे—

‘जोवती, केन रे कर मन भारी?
पावना थाक्ये आन्ये देव
ट्याका दामेर मोटरी।’

स्थानीय कवि ने जिस भाव को आधार बनाकर इस संगीतात्मक लोकगीत की रचना की थी—हमने भी उस भाव पर ढेर सारे गीत लिखे हैं, किन्तु, वे इनसे कुछ इतर और विशेषता लिए हुए हैं। हमारी युवती का मन अगर भारी होता है तो तत्काल अपना जीवन देने अथवा नन्दनकानन से पारिजात लाने के लिए मैं प्रस्तुत हो जाता हूँ, किन्तु, इस अंचल के लोग शायद खूब सुखी हैं यह कहना होगा, थोड़ा त्याग करने से ही युवती का मन पा लेते हैं, मोटरी (पोटली) नामक वस्तु क्या है, यह मेरे लिए कहना असम्भव है, किन्तु, उसके दामों का भी वहीं पास में उल्लेख किया गया है, इससे समझ में आ रहा है कि वह वस्तु कोई बहुत बड़ी कीमत की, दुर्लभ वस्तु नहीं है और उसे किसी अगम्य स्थान से भी नहीं लाना पड़ेगा। गाना सुनकर मुझे बहुत मजा आया। युवती का मन भारी होने पर संसार में जो हलचल मच जाती है, इस झील के छोर पर भी उसकी एक खबर मिल गयी। यह गाना किसी अनुपयुक्त स्थान पर ही हास्यजनक लगेगा, किन्तु, विशेष देश-काल-पात्र की दृष्टि से इसका पर्याप्त सौन्दर्य है। हमारे अज्ञात नाम ग्राम्य कवि भाई की ये रचनाएँ इस गाँव के लोगों के सुख-दुःख की दृष्टि से नितान्त आवश्यक हैं, उस स्थान पर मेरे गीत कम हास्यजनक नहीं ठहरेंगे।

शिमला

15 अगस्त, 1893

दस

पतिसार

13 अगस्त, 1893

इस बार इस झील के मार्ग से कालीग्राम आते-आते मेरे दिमाग में एक भाव बड़े स्पष्ट रूप से फूट उठा। बात कोई नयी नहीं है, उसे काफी दिनों से जानता हूँ, किन्तु, फिर भी कई बार पुरानी बात भी नयी तरह से अनुभूत की जाती है। दोनों तरफ दोनों तटों से अगर सीमाबद्ध न हो तो जलप्रवाह की वैसी शोभा नहीं होती है—अनिर्दिष्ट, एक

रस होने से झील एकदम शोभाशून्य होती है। भाषा की दृष्टि से छन्द का बन्धन इसी तट का काम करता है, भाषा को एक विशेष आकार और शोभा देता है। छन्द के कारण उसका एक सुन्दर चेहरा फूट उठता है। तट में आबद्ध नदियों का जैसे विशेष व्यक्तित्व होता है, वे जैसे एक-एक स्वतन्त्र व्यक्ति की तरह लगती हैं, छन्द के द्वारा कविता वैसे ही एक-एक मूर्तिमान सत्ता की तरह प्रतिभासित होती है। गद्य का वैसे सुन्दर, सुनिश्चित स्वातन्त्र्य नहीं होता है; वह तो एक विशाल, विशेषत्वहीन झील की तरह होता है। फिर तट के द्वारा बँधे होने से ही नदी में एक वेग होता है, एक गति होती है, किन्तु, प्रवाहहीन झील सिर्फ विस्तृत रूप से दिशा विदिशाओं को ग्रसती हुई पड़ी रहती है। भाषा में भी यदि एक आवेग, एक गति देना आवश्यक हो, तो उसे छन्द की संकीर्णता में बाँध देना होगा। नहीं तो वह केवल विस्तृत होकर पड़ी रह जाती है, सारी झील को लेकर एक दिशा में दौड़ नहीं पाती है। झील के जल को पल्लीवासी लोग कहते हैं गूँगा जल—उसकी कोई भाषा नहीं होती है, आत्माभिव्यक्ति नहीं होती है। तट से बँधी नदी में सदा एक कल-कल ध्वनि सुनायी देती रहती है; छन्द में बाँध देने पर व्यक्त वस्तु वैसे ही परस्पर आघात-प्रतिघात करती हुई एक तरह के संगीत की सृष्टि करती रहती है। इसीलिए छन्द की भाषा गूँगी भाषा नहीं होती है, उसके मुख पर सदा कलकल गान रहता है। बन्धन में रहने के कारण ही गति का सौन्दर्य है, ध्वनि का सौन्दर्य है एवं आकार का सौन्दर्य है। बन्धन में रहने से ही जैसे सौन्दर्य होता है, वैसे ही शक्ति भी रहती है। कविता जिस प्रकार सहजता से ही धीरे-धीरे छन्द के मध्य से होकर अपने को प्रस्फुटित करती है, वह केवल एक कृत्रिम अभ्यास-जनित सुख देने के लिए नहीं—उसका एक गम्भीर सहज सुख होता है इसलिए। अनेक मूर्ख लोग सोचते हैं, कविता को छन्दबद्ध करने का अर्थ एक प्रकार की बहादुरी करना है, उससे केवल सामान्य लोगों में विस्मय उत्पन्न कर सुख देना होता है, वह केवल भाषा की कसरत मात्र है। किन्तु, ऐसा सोचना भारी भूल है। कविता का छन्द जिस नियम से उत्पन्न हुआ है, विश्व जगत् का समस्त सौन्दर्य ही उसी नियम से सृजित हुआ है। एक सुनिश्चित बन्धन के माध्यम से वेग पूर्वक प्रवाहित होकर मन पर आघात करने के कारण ही सौन्दर्य में ऐसी अनिवार्य शक्ति होती है। फिर, सुषमा का बन्धन छोड़ने मात्र से ही सब कुछ एकाकार हो जाता है, फिर उसमें आघात करने की शक्ति रहती ही नहीं है। झील छोड़कर जैसे नदी में और नदी छोड़ते ही जैसे झील में पड़ गया था, वैसे ही मेरे मन में यह तथ्य उद्दीप्त होकर जाग उठा था।

शिमला

17 अगस्त, 1893

लौट जाओ कामरेड

✍ कैलास चन्द्र

अनुराग! अनुराग! अनुराग! आँखों में गहरा धुँधलापन उतर आया है। दृश्यों के आकार खो गए हैं। पर मन की आँखें आज भी सब कुछ साफ-साफ देख सकती हैं। एक माँ की स्मृतियाँ कभी धुँधली नहीं पड़तीं। अन्तराल इतना लम्बा-चौड़ा है कि ममता की सीवनें धीरे-धीरे उधड़ने लगती हैं। पच्चीस सालों का लम्बा वक्फा विध्यांचल की तरह साष्टांग पड़ा है। एक पूरी नौनिहाल पीढ़ी जवान होकर सामने आ जाती है। एक दुनिया कहाँ से कहाँ पहुँच जाती है। देश और सत्ताएँ मिट जाती हैं। एक भूचाल और एक विकट बाढ़ सार्वभौम तबाही ले आती है। लोग गुलामी की पीड़ा भूल कर आज़ाद हो जाते हैं। योजनाएँ फल देने लगती हैं। जाने-अनजाने लक्ष्य फ्लाप हो जाते हैं। एक राजसत्ता अपनी लोक कल्याणकारी छवि भूल कर तानाशाह हो उठती है। एक सतत् हाहाकार कीर्तन की करतल ध्वनियों में बदल जाता है।

एक लम्बा न भूलने वाला विस्मयकारी समय अनचाहे ही बीत गया था।

जसुमती अपने घुटनों की पीड़ा के कारण पलंग पर जकड़-सी गई है। सालों हो गए गठिया को पकड़े और अब तो वह घुटनों में जैसे अटूट गाँठ की तरह पथरा गया है। वे हिल-डुल तक नहीं पातीं। शरीर में ताकत भी तो नहीं बची। अब वे पूरी तरह किसी पर निर्भर हैं।

पक्के विस्तीर्ण आँगन में दानों की तलाश में फुदकती ढेर सारी गौरैया सहसा उड़ कर अलगनी, किवाड़ों, चारपाइयों, कुर्सियों, बाल्टियों पर जाकर बैठ जाती हैं। किसी आहट का संकेत है ये। फिर कोई आया क्या? वे सुनने की कोशिश करती हैं। दृश्य भले ही धुँधला गए हों पर श्रव्य तीव्र हो गया है। उनके मन में आहटें इतनी सजग हो गई हैं कि उनके आभास से ही ज़िन्दगी को पहचानने लगी हैं।

पर बेवक्रत कौन हो सकता है!

बाहर के दरवाज़े के किवाड़ खुलने की आवाज़ उनको साफ़ सुनाई देती है। इतनी साफ़ जैसे पानी में बिम्ब तिरता है। वे अदीठ से पूछती हैं—कौन?

माँ, मैं हूँ?

परिमल भीतर आ जाते हैं, आँगन में—मैं हूँ परिमल, माँ।

परिमल उनका तीसरा बेटा। अनुराग से छोटा। सबसे छोटा तो सिद्धार्थ है और अनुराग से बड़ा है करन। चार बेटे हैं जसुमती के और चारों उनसे दूर। साल छः महीने में उनकी ख़बर ले लेते हैं। पर अनुराग को गए या खोए तो पच्चीस साल से ऊपर हो गए हैं तब से न उसकी कोई खोज-ख़बर मिली और न उसने किसी की कोई ख़बर ली है।

जसुमती के ये तीनों बेटे सिद्धार्थ, परिमल और करन भले ही माँ से दूर-दूर हों पर अनुराग का तो पता ही नहीं है कि वह कहाँ है। क्या उसे एक बार कभी अपनी माँ, घर, गली, कस्बा और यार दोस्त याद न आते होंगे? जसुमती सोचती है और सोच में टँगी रह जाती है। वह अनुराग को अपनी यादों के बंधन से निकाल देना चाहती है। पर माँ होने के नाते जसुमती ऐसा कर नहीं पाती। वही निर्मोही उसे बार-बार याद आता है, पूरी शिद्दत के साथ। अपने तीनों बेटों से ज्यादा अनुराग की स्मृति और मोह जसुमति के मन में जगमग करता है।

माँ, अनुराग दादा आ रहे हैं।

क्या! जसुमती आश्चर्यचकित हो उठती हैं। उन्हें सहसा विश्वास नहीं होता। रेगिस्तान में पानी के एक दौंगरे की तरह यह सूचना उनको भिगो कर भी गीला नहीं कर पाती। उन्हें सहसा झूठ बोलने का आभास होता है। जैसे उन्हें बहलाया जा रहा हो। वे पूछती हैं—है कहाँ वो?

ये तो पता नहीं। करन दादा ने बताया है। पर वे आ रहे हैं। तुम्हारी देखभाल के लिए और जब तक तुम ठीक नहीं हो जाओगी, वे यहीं रहेंगे तुम्हारे पास। तुम्हारी सेवा में—परिमल बता रहा है और इसके साथ ही जसुमती का अविश्वास भी बढ़ रहा है।

अब मैं क्या ठीक होऊँगी। पका फल कब देह ही डार से टपक पड़े। अगहन में छियासी पूरे हो जाएँगे। मेरी साथ वालियाँ तो सब गईं। मैं भर हिलगी हूँ—जसुमती धीरे-धीरे बोल रही हैं। उनका एक-एक शब्द स्वर तन्त्रियों से अटकता हुआ निकल रहा है।

माँ तुम्हें अब दादा के आ जाने से अकेलापन नहीं लगेगा—परिमल सांत्वना देकर जैसे अपने कर्तव्य से मुक्त हो रहा है।

जसुमती सोचती हैं कि अनुराग कितने दिन रहेगा। दो दिन चार दिन। जैसे दूसरे लड़के आते हैं और खम्भा छू कर रवाना हो जाते हैं। अनुराग को छोड़ दो तो बाकी तीनों लड़के आराम से हैं। ऐसी नौकरियों में है जो कम से कम क्लेश देती हैं। सुख से रह रहे हैं। पर उनके लिए माँ बोझ जैसी ही है। एक तो शहरों में रहना और वहाँ वाजिब किरायों पर दो या तीन कमरों का घर भर मिलता है। जितना बड़ा शहर उतने ही तंग किराए के घर। वहाँ माँ को साथ रखना एक मुसीबत जैसी ही है। बच्चों को पढ़ने के लिए अलग कमरा चाहिए और एक कमरा उनके लिए। बाकी बचा एक कमरा जिसमें पूरी गृहस्थी जमाकर रखनी पड़ती है। माँ का पूजा का कमरा बिल्कुल अलग-थलग हो जहाँ कोई जूता या चप्पल पहने न जा पाए। उनके लिए अलग से रसोई भी बने क्योंकि वे वह सब कुछ नहीं खा सकतीं जो सभी खाते हैं। कितनी तो अड़चनें हैं। सबसे बड़ी अड़चन तो खुद बहुएँ हैं। उनके मिजाज में सबसे ज्यादा खटकने वाली सास ही होती है। उनकी आज़ादी का आकाश विकार रहित हो, उसमें बन्धनों के बादल का एक कबूतरनुमा टुकड़ा भी न तैर रहा हो। कोई आँख भले ही दूर तक न देख पाती हो, उनकी निगरानी करे यह उनको कतई गवारा नहीं होता।

जसुमती अपने पुस्तैनी घर को छोड़कर कहीं नहीं जाना चाहतीं। हर कमरे में उनकी साँसों की खुशबू व्याप्त है। हर कमरे को उन्होंने जिया है। जिन्दगी के उत्सव, शोक उन्होंने

इसी घर के आसमान के नीचे मनाए हैं। कम से कम नौकरी लगने तक लड़के और बहुएँ इसी घर की सुरक्षा में रहे हैं। बड़के करन की बहू सौदामिनी की पहली जचगी तो इसी घर में हुई है और घर के पहले वारिस संदीप की किलकारियाँ भी इसी घर में गूँजी हैं। जसुमती तो इतनी मगन हुई थीं कि पूरे मुहल्ले में खुद ही मिठाई बाँटती फिरी थीं। जब कि ये काम नाइन करती हैं। पूरे महीने भर उन्होंने घर में बधाए गवाए थे। जसुमती सोचतीं कि लड़कों के पिता जीवित होते तो पूरे नगर को भोज देते। पर उनके न रहने से अब वह बात नहीं रह गई थी। हाथ तंग हो गया था। फिर भी नाती के बरहों पर उन्होंने पूरे मोहल्ले को ज़रूर भोज दिया था।

वे जानती हैं कि बहुएँ तो नकचढ़ी होती ही हैं। फिर वे सभी अच्छे घरों से आई थीं। चाहे जब अनायास उनसे उनकी ठनती रहती थी। इसलिए उनका फैसला यही रहा कि वे रहेंगी इसी घर में। लड़कों को भी सहूलियत हो गई। एक निश्चित रकम माँ के खर्च के लिए वे हर माह भेजने लगे। मोहल्ले की एक कामवाली को उन्होंने स्थाई रूप से माँ की सेवा के लिए लगा दिया। आँगन में बोर करवा दिया कि कभी पानी की तकलीफ़ माँ को न हो। लड़के माँ की तरफ से चिन्तित रहते हुए भी निश्चिन्त हो गए थे।

जसुमती को चैन मिल गया था। बस दिन भर अकेले में काटना पड़ता था। नाती-पोतियों की याद आती और मन मसोस कर रह जातीं। कामवाली लछमी दस बजे तक झाड़ू-पोंछा और खाना बनाकर, जसुमती को खिलाकर फुरसत होकर चली जाती थी और फिर पाँच बजे शाम को आती थी। बाकी इस बीच के पूरे समय जसुमती खाट से दो तीन साल से जैसे बँध कर रह गई थी। गठिया उनको उठने ही नहीं देता था। बढ़ती उमर उनको अशक्त कर रही थी दिन-ब-दिन। अब तो आँखों की जोत ही धुँधली पड़ गई थी कि चीजें अपने आकार में एक धब्बे में तब्दील होकर थरथराती रहती थीं। पर उनकी स्मृति में घटनाएँ आज भी इतनी टटकी बनी हुई थीं कि वे एक-एक बारीकी को जोड़कर चित्र की माफिक खड़ा कर देती थीं। उन स्मृतियों में अनुराग कहाँ था? एक सदा कचोटती रहने वाली टीस उनको विक्षुब्ध करती रहती थी।

अब अनुराग पच्चीस सालों के लम्बे वक्फे के बाद लौट रहा है। एक ख़ौफनाक फासला है पच्चीस सालों का। पूरी दुनिया उलट-पुलट हो जाती है। इन बिछुड़े सालों में एक बार भी अनुराग ने यहाँ किसी की सुध नहीं ली। न कोई चिट्ठी-पत्री और न कभी कोई संदेश। सबसे कट कर क्या करता रहा अनुराग। क्या सब सम्बन्धों और रिश्तों पर विराम लगा कर कोई आदमी रह सकता है? उसके जीवित रहने का अर्थ क्या रह जाता है? दुनिया में बस केवल वह और कोई नहीं। क्या आदमी अपने आप में इतना सिकुड़ सकता है? सब कामनाएँ, इच्छाएँ एक मुट्ठी में समेट सकता है। कोई इस संकुचन की कल्पना भी नहीं कर सकता।

जसुमती याद करती हैं। अनुराग पचास को छू रहा होगा। अब कैसा लगने लगा होगा। उम्र के घुन ने उसको कितना जर्जर कर दिया होगा। वैसा रंग और रूप अब न रह गया होगा जैसा पच्चीस साल पहले था। जसुमती ने चाहा था कि अनुराग ब्याह कर ले। वे तो यहाँ तक छूट देने को तैयार थीं कि अपनी पंसद की कोई जातीय लड़की हो

या दूसरी बिरादरी की भी हो। पर अनुराग ने हाँ नहीं कहा। कहता रहा मेरे जीवन में ब्याह की जगह नहीं है। मैं बँध कर नहीं रह जाऊँगा इसमें? ऐसा क्या कर रहे हो भाई कि बँधना नहीं चाहते। जसुमती समझ ही नहीं पातीं। किसी ने ये ज़रूर बताया था कि अनुराग जुलूस में शामिल होता है, नारे लगाता है, मज़दूरों के बीच उठता-बैठता है। तीन-चार बार जेल भी हो आया है। किसी पार्टी में शामिल हो गया है। पर इससे उसके शादी से इनकार की बात वे समझ नहीं पाई थीं। वे क्या कभी समझ पाई हैं, अनुराग को? इसमें कोई शक नहीं कि अनुराग अपने दूसरे भाइयों से काफी हट कर था। उसके स्वभाव में शुरू से ही एक दृढ़ता थी। एक बार जो ठान लेता था, उससे फिर पीछे हटता नहीं था। इसलिए भाइयों से उसकी कम ही पटती थी। एकदम अलग-थलग था वह उनसे।

गली-मोहल्ले में जब और लड़के और भाई क्रिकेट खेलते होते और अपने पिता से उन्होंने क्रिकेट का सामान खरीदवाने की ज़िद की थी तब ऐसे में अनुराग से पूछा गया तो उसने अपने लिए फुटबाल पसन्द की थी। भाइयों ने इस पर मज़ाक भी उसका उड़ाया था। पर अनुराग को किसी की परवाह नहीं थी। वह अकेला ही फुटबाल खेलता रहता था। वह और उसके सामने दीवार होती थी। दीवार पर वह फुटबाल मारता और लौट कर बाल आती तो उसे फिर किक करता था। दूर से कैरी करके बाल लाता और दीवार को सम्भावित गोलपोस्ट मान कर जोर से लात मारता। बस यही उसका खेल रहता। कोई उसके साथ नहीं खेलता। पर वह अकेला खेल सकता था। अकेला चल सकता था। क्रिकेट अकेली नहीं खेला जा सकती है। कम से कम दो तो होने ही चाहिए। अनुराग अकेले ही चलना चाहता था। यह उसने अपने खेल की अभिरुचि से ही बता दिया था। सपने देखने और उन्हें पूरा करने की ख्वाहिश रखने वाले हरदम अकेले ही होते हैं।

उसके गालों का रंग क्या अब भी वैसा ही होगा? ललछौंह गोरा और गहरे काले बाल वैसा ही होंगे अथवा उनमें चाँदी की रेख पड़ गई होगी। जसुमती पीड़ा में भर जाती हैं कि अब वैसा कुछ नहीं होगा। गालों पर उम्र ने झुर्रियाँ डाल दी होंगी और बालों के बीच सफेद लट ने अपना साम्राज्य जमा लिया होगा। पर वे आज भी अनुराग को उसी छूटे रूप में देखना चाहती हैं। आखिर वे माँ हैं, और चाहती हैं कि उनके बच्चों के लिए उमर ठहर कर रह जाए। पर समय तो निष्ठुर होता है।

जसुमती बहुत आन्दोलित हो उठी हैं। सालों साल वे अनुराग के लिए व्याकुल बनी रही हैं। पर उसने घर से जो किनारा किया तो फिर लौटकर कभी नहीं आया। फिर बाद में उसका वियोग जैसे अभ्यास-सा बन गया। उसका न आना जैसे उनकी आदत में शुमार हो गया।

अब जब उनके छियासी साल पूरे हो रहे हैं और करीब साल भर से वे बीमार चल रही हैं और एकदम अशक्त हो गई हैं। अनुराग का घर वापस लौटना एक उत्सव में तब्दील होता जा रहा है। फिर भी एक अविश्वास उनके मन में चोर की तरह घुसता है कि कहीं न आया तो। हालाँकि बीते समय में ऐसी कोई सम्भावना नहीं बनी। क्योंकि कभी उनके कानों ने सुना ही नहीं कि अनुराग आने वाला है। एक ठहरा हुआ पतझर। लड़कों में किसी को उसका पता ठिकाना मालूम था। तभी तो परिमल उसके आने की सूचना दे रहा है।

इसके पहले किसी ने क्यों नहीं उसका पता उन्हें होने दिया कि वहा कहाँ है, क्या कर रहा है? यहाँ क्यों नहीं लौट रहा है? पर पूछने का वक़्त ही नहीं मिलता था। लड़के और बहुएँ इतनी हड़बड़ी में होते कि उनसे क्या पूछो और क्या तो जवाब वे देते।

छाती में कफ़ इतनी जोर से घरघराती है कि साँस रुकने को ही आती है। वे झुक कर राख से भरी गुरसी में एक गोला थूक देती हैं।

अब कितना जिँगी वे। माह दो माह। पक चुकी है उमर। बस उनकी निगरानी चाहिए और कोई अपना हो पास में सहारे के लिए। वे निश्चिन्तता से मर सकें। आख़िरी समय कोई सिरहाने खड़ा हो। वे शायद कुछ कहना चाहें। कहेंगी क्या पर तसल्ली तो होती है। गैरों के बीच नहीं मरें। उन्होंने कोई बड़ी अपेक्षाएँ नहीं पालीं किसी से, जिसके पूरा न होने का अफ़सोस हो उन्हें। किसी से बहुत चाहा नहीं। तो इस आख़िरी बेला में उनको अब किसी तरह का कोई मलाल नहीं है।

वे लछमी को आवाज़ देती हैं। एक क्षीण-सी पुकार पर चूँकि घर में कोई दूसरी आवाज़ नहीं है इसलिए लछमी सुन लेती है। वह पास आकर खड़ी हो जाती है। वे उससे बाहर आँगन में बैठाने के लिए कहती हैं। लछमी घसीट कर व्हील चेयर पलंग से सटा कर रख देती है। फिर उनको सहारा देकर बैठा देती है और चेयर ले जाकर आँगन जहाँ हल्की धूप है खड़ी कर देती है। इस बीच वे उसे सूचना देती हैं कि अनुराग आ रहा है।

लछमी ने अनुराग को कभी नहीं देखा है और न उसे जानती है। वे फिर कहती हैं—तू उसे नहीं पहिचानती। मेरा दूसरे नंबर का बेटा है। वह आ रहा है। पच्चीस साल बाद।

लछमी वैसे ही खड़ी है। अबूझी सी।

हाँ परिमल के लिए खाना बना लेना, वह आया है। वे फिर कहती हैं। उनकी घरघराहट थम गई है। वे अब आराम से साँस ले सकती हैं।

भइया तो मना कर गए हैं—उसने बताया—कह रहे थे अभी निकलेंगे।

पर गया कहाँ?

बगल में श्रीवास्तव जी के यहाँ—लछमी फिर काम में लग जाती है।

एक दिन सूरज डूबने के पहले अनुराग अपने भूमिगत संसार जंगल से निकल कर अपने छूटे घर के आँगन में आकर खड़ा हो जाता है। वह यादों को कुरेदने की कोशिश करता है। सब कुछ लगभग वैसा ही है जैसा छोड़कर गया था। सिवाय उन वर्षों के जो तिरोहित हो गए थे और जिनका हिसाब खो गया था। उनका लेखा-जोखा आज कोई मायने नहीं रखता था। चीजें अनुराग को बाँध नहीं पाईं। इसलिए उनके छूटे रहने का कोई मोह भी उसके भीतर नहीं जागा।

कितनी कसमकस हुई थी पार्टी के भीतर उसे यहाँ माँ के पास जाने देने के लिए। पार्टी की कितनी तो बैठकें हुई थीं। सीनियर्स के बीच बहसें हुई थीं। मामला ऊपर तक गया। वहाँ भी मतभेद। प्रश्न यहीं आकर अटक जाता था—पार्टी बड़ी है या माँ। पर अन्त में फैसला माँ के पक्ष में ही हुआ। पार्टी ही सब कुछ है। वैचारिकी, वर्चस्व और सैद्धान्तिकी

सब कुछ पार्टी का है। व्यक्ति कुछ भी नहीं है, ममता राह में रोड़े नहीं अटका सकती। पर माँ की उपेक्षा कौन कर सकता है। हर कार्यकर्ता के अपने सामाजिक दायित्व भी हैं। वह जो कुछ कर रहा है, हो चाहे व्यक्तिगत ही पर कर तो वह समाज के लिए ही रहा है। फिर यहाँ तो कामरेड की माँ है और मृत्यु के करीब है। उसकी देखभाल के लिए कामरेड का अपनी माँ के पास जाना आवश्यक है। ज्यादा से ज्यादा एक डेढ़ महीने में माँ गुजर जाएगी और कामरेड फिर वापस आकर पार्टी के दायित्वों का वहन करने लगेगा। तब तक माँ की सेवा सुश्रुषा के लिए कामरेड अपनी माँ के पास रहेगा। पार्टी ने मान लिया कि माँ की सेवा भी कामरेड का काम है।

पार्टी के निर्णय के बाद सहसा अनुराग माँ की यादों में खो गया और वह कुछ समय के लिए भूल-सा गया कि वह एक कामरेड है और पार्टी के घोषित उद्देश्यों के लिए समर्पित है। अपनी युवावस्था के सबसे खूबसूरत और सपने बुनने के वर्ष उसने एक जगह से दूसरी जगह जंगलों और बीहड़ों में पैदल या बाइक पर चलते खपा दिए हैं। कभी उड़ीसा, कभी झारखण्ड, बिहार तो कभी मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र। बस्तर, संधाल परगना, मोतीहारी, पलामू वह नापता ही तो रहा है। ऊपर से जो आदेश मिले हैं या अपने से सीनियरों ने जो कहा है और अपेक्षाएँ उससे की हैं उनको अक्षरशः पालन करने की कोशिश करता रहा है। रातों की नींद और चैन खत्म करता रहा है इसके लिए। कभी विवाह के बारे में सोचा तक नहीं अथवा ये कहें कि ज़रूरत ही महसूस नहीं हुई। सोशल साइन्स में एम.ए. करने के बाद कुछ साल एक कॉलेज में असिस्टेंट प्रोफेसरी की। फिर पार्टी का आदेश मिला और उस नौकरी को छोड़ कर फिर चला गया था। एक पक्की नौकरी को लात मार कर। इतनी व्यस्तता कि अपने लिए कभी सोचने का समय ही नहीं बचा।

आज इतने लम्बे अन्तराल के बाद उसके दिल में एक कमज़ोरी-सी उगने लगी। सम्बन्धों की सुगन्ध अलग ही होती है। सबसे गहरी और व्यापक। काम का नशा उस पर तारी नहीं हो सकता। काम के बीच में न सौहार्द्र होता है और न रिश्तों का स्पन्दन वहाँ महसूस किया जा सकता है। वहाँ विचारधारा और सिद्धान्तों के खूँटे ही खूँटे गड़े होते हैं जो बार-बार रस्सी खींचते हैं और दायरों के बारे में सचेत करते रहते हैं कि इनसे बाहर न निकलना। एक ऐसा लक्ष्य सामने होता है जो निरन्तर आँखों में गड़ता रहता है।

अनुराग भीग-सा गया अपने लौटे हुए परिवेश की उष्मा में। उसने धीरे से पुकारा—माँ!

पूरा घर एक अव्यक्त सन्नाटे में डूबा था। जसुमती बेसुध-सी पलंग पर लेटी थीं। लछमी के आने में कोई घण्टा भर बाकी था। यह कोई इलहाम था या छूटी हुई किसी अपनापन भरी आवृत्ति का रेजोनेन्स। जसुमती ने उस पुकार को पकड़ लिया था।

अनुराग! अनुराग! अनुराग!

वे एकदम हड़बड़ा कर उठ बैठीं और भूल गई कि वे इतनी अशक्त हो चुकी हैं कि बिना किसी दूसरे के सहारे के हिल-डुल भी नहीं सकतीं। पर उस क्षण इतनी ताकत उनके भीतर आ चुकी थी कि उनकी उम्र का तकाजा और सारी अशक्तता हार गई। पर इस प्रयास में गिरते-गिरते बचीं। तब तक आँगन से भीतर कोठे में जसुमती को अनुराग ने देख लिया था। उसने बैग वहीं छोड़ा और दौड़ गया। माँ सँभल गई थीं। अब उनको

कोई नहीं गिरा सकता। अनुराग ने उनको बाहों में भर लिया। पच्चीस साल का ढूँठ हुआ सहारा हरिया आया था। यह अन्तरंगता कितनी देर कायम रही दोनों में से कोई नहीं बता सकता। माँ के आँसुओं से अनुराग की काई रंग की कमीज़ तर हो गई थी। यह ऐसा अंतरंग क्षण था जो सदियों बाद आता है—अपूर्व और अभूतपूर्व।

तू आया तो। अन्तिम बेरा माँ को देखने आ गया—जसुमती का गला भरा गया था। मैं यहीं रहूँगा माँ। अब कहीं नहीं जाना है—अनुराग की आवाज़ में आश्वासन बज रहा था।

क्या? माँ की खुशी का पारावार नहीं था—परिमल ने तो केवल इतना बताया था कि तू आ रहा है। बस!

जब तक तू ठीक से चलने-फिरने लायक न हो जाओगी मैं यहीं रहूँगा तुम्हारे पास-अनुराग ने सहारा देकर माँ को फिर लिटा दिया और चारपाई की पाटी पर बैठ गया।

जसुमती को विश्वास नहीं हुआ। भरी जवानी में जब सपनों को पूरा करने की उमर होती है, हौसले नसों में सनसनाते रहते हैं, ठोस संकल्प लोहे में बदलने लगते हैं, यह निर्मोही बनकर न जाने कहाँ चला गया था।

तू ठीक कहता है—जसुमती पूछती हैं।

हाँ माँ! मैं सही कह रहा हूँ। इसीलिए मैं इतनी दूर से केवल तुम्हारे लिए आया हूँ—अनुराग माँ को विश्वास दिलाना चाहता है। यह कामरेड का वादा है।

माँ नहीं समझती कामरेड के संकल्पों को। जो वे कहते हैं उसे निबाहने के लिए अपना पूरा दम और अपना पूरा जीवन लगा देते हैं। जसुमती की थकी आँखें एक आश्वस्ति में बन्द हो जाती हैं। यह झूठ भी कह रहा हो तो आज आश्वस्ति देता पास में तो बैठा है। भले ही दस-पन्द्रह दिन बाद फुर्र से फिर उड़ जाए पर आज इस क्षण को अपने भरे-पूरे रूप में जी लेने में क्या हर्ज़ है। वे अपने भीतर एक पुलक भर लेती हैं। अन्तिम समय जो एक कचोट उनके जी में ठहरी हुई थी वह पिघलने लगती है।

जसुमती बीच-बीच में अपनी आँखें खोलकर अनुराग को निहारती हैं। वह लुनाई और देह का वह भराव पता नहीं कहाँ खो गया था। चेहरे पर खुरदरी बेतरतीब दाढ़ी उगी थी। एक मोटे लेंस का चश्मा आँखों पर चढ़ा था और देह तो कृशकाय थी ही पहले से। अनायास उनका हाथ कामरेड के चेहरे को छूने लगता है। अनुराग जहाँ अभिभूत होकर रोमांचित होने लगता है वहीं माँ पीड़ा में भर जाती हैं। अपने मिशन के सिलसिले में उसकी निजी भावनाएँ और अनुभूतियाँ छिटक कर न जाने कहाँ चली गई थीं। कभी सोचने का मौका ही नहीं मिला। पर आज माँ ने जब अपना वह विलक्षण स्पर्श दिया तो कामरेड भीग-सा गया। कठोरता में भी कोमलता का अहसास नई ऊर्जा देने लगता है। कामरेड को वंचना का दंश सालने लगता है। माँ के पुलक भरे हाथ के स्पर्श में वह समूचा भीग जाता है।

माँ की पीड़ा ये थी कि भले ही अनुराग ने उम्र के लम्बे मुकाम को छू लिया हो पर चेहरे पर इतनी रुक्षता क्यों आ गई है और देह तो जैसे झुलस गई है। कौन-सा ऐसा कठिन काम वह साध रहा है कि अपनी ही फिकर से वह निफिकर हो गया है।

वहाँ ठीक से खाता-पीता नहीं क्या।

खाता-पीता हूँ। पर भाग-दौड़ बहुत करनी पड़ती है। दिन-रात का भागना। फिर कोई समय निर्धारित नहीं। अचानक ही सब कुछ करना पड़ता है।

पर अपना ख्याल तो सबसे पहले रखना पड़ता है। अब तू उन्चास का हो गया है।

सहसा कामरेड को अपनी उम्र का ध्यान आता है। माँ ठीक कह रही है। उसके बिना इन खाली सालों में माँ उसकी उम्र को जोड़ती रही है जबकि वह भूला-सा रहा है। सहसा उसे चाय की तलब लगी। वह बोला— माँ चाय पियोगी?

अभी थोड़ी देर में लछमी आने वाली होगी। वह चाय बना देगी।

नहीं, मैं खुद चाय बनाकर तुम्हें पिलाऊँगा।

बगल वाला कमरा है रसोई का।

कामरेड को याद आई जंगल की चाय। एलमुनियम के बड़े-बड़े मग। दूध तो अक्सर उपलब्ध नहीं होता। ब्लैक टी पीकर सारी थकान न जाने कहाँ गायब हो जाती थी। रातों को जब जंगल में चलते होते प्रायः निःस्तब्ध केवल एक मिनी टार्च के सहारे तो कोई कामरेड थर्मस में लिए यही ब्लैक टी ऑफर करता और रास्ते की सारी थकान चुकती रहती थी।

अनुराग को शक्कर और चाय की पत्ती ढूँढ़ने में थोड़ा वक़्त लगा। दूध तो जाली वाली अलमारी में रक्खा था। दो कप तैयार कर माँ के पास आ गया। माँ के पीछे दो तकिए लगाकर उनको उसने थोड़ी मशक्कत के बाद पलंग पर बैठा दिया। प्लेट में डाल कर फूँक मार चाय ठण्डी कर माँ को पिलाने लगा। माँ के हाथ काँपते थे और वे प्लेट नहीं पकड़ सकती थीं। अनुराग को याद है जब वह छोटा था माँ उसे इसी तरह फूँक फूँक कर प्लेट से चाय पिलाती थीं ताकि वह चाय अपने कपड़ों पर गिराकर खराब न कर ले।

माँ को चाय पिलाकर अनुराग खुद चाय पीने लगा, खूब सुड़क कर। माँ ने उसे चाय पीते देखा और उनकी आँखें भीगने लगीं। बचपन की एक भी आदत उसकी छूटी नहीं है। न जाने कितनी यादें उनके जेहन में घुमड़ने लगीं। अनुराग सोच रहा था कि माँ को चाय कौन पिलाता होगा। शायद लछमी जिसका ज़िक्र अभी माँ ने किया था। सहसा उसे याद आया कि अपनी इस अशक्तता के चलते माँ ने चाय पीना कहीं छोड़ न दिया हो। खाना खिला देती होगी और गुसल के लिए हाथ पकड़ कर ले जाती होगी। बस इससे ज्यादा सेवा तो न करती होगी।

अनुराग ने बर्तन समेटे और जूठे बर्तनों के पास रख दिए।

जसुमती को अब सन्तोष मिल गया है कि आखिरी वक़्त उसके साथ एक बेटा है। वर्षों का छूटा हुआ बेटा, जिसके लौटने की कोई उम्मीद नहीं थी। कहाँ से लौटेगा, जिसका यही पता नहीं है कि कहाँ गया है। वे अपना भाग्य सराहने लगती हैं कि ये कोई उनके पुण्य थे जिसने उनको बेटे से मिला दिया है। मरते समय उनके दिल में कोई मलाल नहीं रहेगा। अब वे चैन से मर सकेंगी।

सुबह से ही अनुराग मोहल्ले में निकल गया है। कौन-कौन बचा है। उसके बचपन

के संगी-साथी कहाँ हैं, क्या कर रहे हैं? यही उसकी उत्सुकता थी। अधिकतर पुराने लोग तो निपट गए थे। जो उसके हमउम्र बचे थे वे तो अनुराग को इकबारगी पहचान ही नहीं पाए। उसके संगी-साथी शुरू से ही वे लड़के रहे थे जो छोटे तबके से आते थे। रमचरना धोबी तो अपने पैतृक धन्धे में लगा था। उसके लौंडे ने लाउण्डी डाल ली थी और अब वह खुद पैंट शर्ट पहनने लगा था। जंगलिया अहीर मलेरिया में मर गया था और इस बात को पन्द्रह साल बीत गए थे। उसके लड़के सुमरन ने बैंक से कर्जा लेकर डेरी डाल ली थी। गुप्पन और छबीले शक्कर मिल में मज़दूरी करते थे। पिछले साल हड़ताल को लेकर गुप्पन पुलिस की गोली का शिकार होकर मर गया। बाकी मज़दूरों ने फ़ैक्टरी में आग लगा दी। तब से मिल बन्द पड़ी है और छबीले बेकार हो गया। कभी खोमचा लगाता है तो कभी फेरी कर सामान बेचता है। अनुराग की उत्सुकता छबीले से मिलने में हो गई।

अनुराग ने बाहर निकल कर डॉक्टर का पता लगाया। लोगों ने बताया कि डॉक्टर विद्या आलोक की बड़ी शोहरत है। उनके पास आयुर्वेद और एलोपैथी दोनों डिग्रियाँ हैं और डायगोनिसिस बहुत अच्छी है। प्राइवेट प्रेक्टिस करते हैं। फीस मामूली लेते हैं और इलाज़ के साथ-साथ वे अपने मरीज़ से संवाद भी कायम कर लेते हैं, इससे मरीज़ को ठीक होने में बड़ी मदद मिलती है। घर भी आ जाते हैं। पाड़ैनटोला मोहल्ले में घर पर ही उनकी क्लीनिक है। सरकारी डॉक्टर को छोड़कर अनुराग ने डॉक्टर विद्या आलोक को ही तजबीज कर लिया।

संवाद शब्द ने कामरेड को अभिभूत कर दिया था। संवाद ही तो विश्वास अर्जित कर लेने का साधन बनते हैं। आप जिन लोगों के हित और कल्याण के लिए काम करते हैं अगर भाषा बोली के स्तर पर जब तक उनमें घुल-मिल नहीं जाते वे तब तक आपको कतई पसन्द नहीं करते और न आपके अन्तरंग ही बन पाते हैं। जंगलों में आदिवासियों से रूबरू होते यही संवाद तो होते हैं जो सबसे पहले आपको खींचते हैं। अन्तरंगता की तरंगें एक देह के एण्टीना से दूसरी देह के एण्टीना द्वारा ग्रहण की जाती हैं। तभी तो मन मिलता है। उनके सुख-दुख में भागीदारी मिलती है। स्थानीय बोलियों के लिए दुभाषिए रखे जाते हैं जो दोनों ओर संवाद सम्प्रेषित करते हैं। अनुराग कोशिश करता कि वह कितनी जल्दी उस बोली को ग्रहण कर ले ताकि दुभाषिए की आवश्यकता न पड़े। कई बार अनुराग ने देखा है कि वह तब उस सरल समाज के अधिक नैकट्य में आ गया है। उनकी समस्याएँ समझने में उसे सफलता मिली है। एक जो संकोच की आड़ होती है वह हट जाती है। उनको भी लगने लगता है कि यह आदमी जो सामने है वह अपने जैसा है और वे खुलने लगते हैं। तब उनकी पीड़ा के संसार में प्रवेश करने में आसानी हो जाती है। यही निकटता संगठन बनाने और उसे मजबूती देने में काम आती है।

आने के तीसरे दिन देर रात जब डॉ. विद्या आलोक की क्लीनिक में एकाध मरीज़ ही मौजूद था ने अपना परिचय एक वनवासी के रूप में पहले दिया और अपनी असली पहचान छुपा गया। फिर उनसे माँ के बारे में बताया। माँ को क्लीनिक तक लाना कठिन है। एक तो उमर और दूसरे बीमारी से जर्जर काया। ताँगे पर इतने हिचकोले लगते हैं कि प्राण अनायास

निकल जाए। डॉक्टर ने मरीज को घर पर ही देख लेने के लिए दूसरे दिन सबेरे आठ बजे का समय मुकर्रर कर दिया। वनवासी पर डॉक्टर चौंके थे। यह आदमी कहीं से भी वनवासी नहीं दिखता है। पर वे समझदार थे। अनुराग ने उनको संकेतों से सब समझा दिया और वे समझ भी गए थे।

दूसरे दिन डॉक्टर आए और उसके बाद भी आते रहे। माँ का पूरा चैकअप किया। कुछ जॉबें करवाई। बताया शरीर में खून बहुत कम है। हीमोग्लोबिन कम हो गया है। साँस लेने में तकलीफ़ इसीलिए होती है। बुढ़ापे के कारण भूख कम लगती है। दिल भी कमज़ोर है। रक्तचाप भी इसीलिए गड़बड़ है। उन्होंने कहा कि इन्हें फलों का रस दो। दाल का पानी और सब्जियों का सूप पिलाओ। हरदम देखभाल की ज़रूरत है। कुछ ताकत की दवाएँ लिखीं। जाते-जाते बोले- बूढ़ा शरीर है, कितने दिन खिंचता है यह उनकी देखभाल और सेवा पर निर्भर करता है। फिर हंस कर बोले- अगर आप उनको छोड़कर जंगल नहीं जाओगे तो वे ज़्यादा दिन जी लेंगी।

डॉक्टर के जाने के बाद अनुराग विचारमग्न हो गया। डॉक्टर को भी उसके ऊपर भरोसा नहीं कि कब पार्टी का आदेश आ जाए और उसे वापस लौटना पड़े। उधर माँ ने डॉक्टर के जाने के बाद फौरन टोक दिया—क्यों डाक्टर को ले आया? तेरे जाने के बाद कौन तो दवा खिलाएगा? कैसे होगा खाना-पीना? सभी लोग उसे लेकर शंकालु हैं कि उसे जाना है। इस समय उसका आना केवल एक क्षणिक घटना है। जैसे सराय में आकर कोई यात्री ठहर जाता है। पर उसका जाना तो तय होता है।

इस सघन और व्यस्त कठोर जीवन से जिसका वह अभ्यस्त हो गया था यहाँ आना अनुराग के लिए एक स्थान का काम ख़त्म कर दूसरे स्थान की ज़िम्मेदारी सँभालने के लिए प्रस्थान के बीच के समय जैसा अभी लग रहा था। ज़िम्मेदारियों जो पीछे छूट गईं और जो आगे आने वाली हैं, वह अन्तराल। पर नहीं, यहाँ माँ की बीमारी का सच अब सामने था और सहसा ही अनुराग को लगा कि वह इस ज़िम्मेदारी से अपने को लगभग काटे रहा है। यह ठीक है कि उसने अपने आप को अकेला रखा। समय ही नहीं था कि वह अपना जीवन-साथी ढूँढ़ लेता। वह होलटाइमर कामरेड बना रहा। पर इधर माँ की ज़िम्मेदारियों से भरी जलती सच्चाइयों से वह बिल्कुल नावाकिफ़ रहा। हालाँकि और भाई भी थे पर उनके पास समय बिल्कुल नहीं था। पर ज़िम्मेदारियाँ तो सबकी बराबर और एकसाँ होती हैं। वे बँटती नहीं।

अनुराग लग गया माँ की सेवा में। उसी लगन से जैसे यह भी कोई पार्टी का काम हो। नियमित समय पर दवाइयाँ देना, डॉक्टर की बताई खुराक पर अमल करना, उनकी सेवा और उनकी साफ़ सफ़ाई करना। सर्दियाँ आ गई थीं। कोठरी के उस मटमैले अन्धकार से विलग कर अनुराग माँ को बाबूजी की पुरानी आराम कुर्सी पर बैठा देता था। यह कुर्सी पीछे के कमरे में कबाड़ में पड़ी थी। उसने निकाल कर उसे साफ़ किया। उस पर पॉलिश की और नई दरी उस पर लगा दी। माँ को इस पर लेटकर आराम मिलता था। कभी बाबूजी बरामदे में इस आराम कुर्सी पर अधलेटे अख़बार पढ़ा करते थे। फिर जब तक धूप तपाने न लगती माँ को आँगन में बैठना अच्छा लगता था। इस बीच अनुराग शेव और नहाना-धोना

कर लेता था। कहाँ जंगल में महीनों दाढ़ी बनाने का मौका नहीं मिलता। अब वह रोज़ शेव करने लगा था। घर भी साफ़ कर लेता था। हालाँकि लछमी थी जो घर बुहार देती थी। अपने और माँ के मैले कपड़े वह साफ़ कर लेता। आँगन में ही छोटी सी कुड़िया थी मीठे पानी की। एक चापाकल भी लग गया था। मन होता तो तालाब चला जाता।

वहाँ तालाब पर उसका बचपन का दोस्त रमचरना मिल जाता पत्थर पर कपड़े पछोरता। वह अपना काम करता रहता और अनुराग किनारे की सूखी घास पर बैठा उससे बतियाता रहता था। वह उससे बातें कर दुनिया और समाज की नब्ज पहचानने की कोशिश करता रहता था। कुछ नहीं तो माँ के सामने कुर्सी डाल कर बैठ जाता और गोर्की, तुर्गनेव या फिर लूशन को अथवा पार्टी के आदेशों और पम्पलेटों को पढ़ता रहता था।

माँ के भीतर का अकेलापन खत्म हो गया था। पहले दिन भर वे एक निरर्थक माँस के लोथड़े के समान अपनी खाट पर सिमटी पड़ी या बैठी रहती थीं। अब सक्रिय होती जान पड़ रही थीं। वे अब आँगन में उतरती चिड़ियों को देखतीं और उनको चीन्हने की कोशिश करती थीं और प्रायः चीन्ह लेती थीं। घर के पीछे बक्सी जी के बगीचे की सघन पाँत दूर तक फैली हुई थी। तरह-तरह के पक्षी भटक कर आ जाते थे और उनके कोलाहल से घर भरा-सा रहता था। पहले यह कोलाहल उनको जैसे सुनाई ही नहीं पड़ता था अथवा बेसुरा लगता था। अब अर्थवान हो गया था और वे गौर से सुनने लगी थीं। वे लछमी को कुछ अनाज आँगन में बिखेर देने को कहती थीं। मिट्टी के कूड़े में उनके लिए उन्होंने पानी भरवा कर रखवा दिया था।

वे जैसे वापस अपनी ज़िन्दगी में लौट रही थीं। अवसान की बेला में सूरज एक अभूतपूर्व आभा से चमकने लगा था। माँ को यही सब तो चाहिए था। एक तो समय के समन्दर में गुम हुआ खोया बेटा वापस मिल गया था। वह भी एक सेवा भावना के साथ लौटा था कि जसुमती अपने भाग्य को सराहने लगीं। उनकी आँखों में अब बिम्ब ठहरने लगे थे। सहसा एक दिन उन्होंने सामने बैठे बेटे को गौर से देखा, उस पर एक कठोरता ठहर गई है और पाँवों के पंजे यात्राएँ करते रहने के कारण ऐसे कड़े और सहनशील हो गए हैं कि सहसा उनको देखकर दया और ममता उमड़ने लगती थी। जो युवा अनुराग उनकी छवि में रचा बसा था अब उससे बिल्कुल उलट उसकी कठोर छवि यह अनुराग जो कामरेड था, उनकी आँखों के सामने था। जसुमती कामरेड का अर्थ नहीं जानती थीं और ये भी कि अनुराग उन खोये हुए सालों में करता क्या रहा है। अब जबकि वे भीतर से सँवर रही थीं। उनके भीतर जिज्ञासाएँ सिर उठाने लगी थीं। उनको लगा कि बेटा कहीं रफ-टफ काम करता रहा है। तभी तो देखने में इतना रफ-टफ लग रहा है।

कहाँ कौन काम करता था तू?

उस दिन जसुमती ने पूछ ही लिया आखिर। अनुराग ने सुना और उसे समझते देर नहीं लगी कि उसकी उखड़ी-पुखड़ी देह की धारा देखकर माँ ने यह अनुमान लगा लिया है, वह कहीं कोई मेहनत से भरा शारीरिक काम करता रहा है। वह माँ के पास आकर खड़ा हो गया।

मजदूरी करता था—माँ ने फिर पूछा।

अनुराग हँसा। माँ को अब समझाना था। बोला-मजदूरी नहीं करता था पर मजदूरों के बीच रहता जरूर रहा हूँ, माँ। उनके लिए काम करता था। आदिवासियों के बीच रह कर उनके अधिकारों की लड़ाई के लिए उन्हें तैयार करता था। उनके शोषण के खिलाफ उनको जगाता था, माँ। उनकी झोंपड़ियों में रात गुजारता था। उनके हाथों का बना खाना खाता था। उनके उत्सवों में भाग लेता था। पुलिस से मुठभेड़ करता था और उनसे बचने के लिए बीहड़ों और जंगलों में भागता रहता था। उनसे बचने के लिए लगातार भागना पड़ता था वरना वे लोग हमको खत्म कर देते। एक गाँव से दूसरे गाँव, एक जिले से दूसरे जिले और एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश। कभी पार्टी के आदेश पर तो कभी अपने प्राण बचाने के लिए।

जसुमती को आश्चर्य होता है कि अनुराग कोई काम नहीं करता था। यहाँ से कॉलेज की प्रोफेसरी की नौकरी छोड़कर भागा था, और माँ की चिन्ता ये थी कि दूसरे भाई भी कहीं अनुराग का अनुसरण न कर लें। शुरू में वे इस डर को लेकर बहुत चिन्तित रही हैं। धीरे-धीरे उन्होंने इस डर से निजात पाई है। तो किस लक्ष्य को लेकर, क्यों घर से बाहर रहा है बरसों? फिर ये जो कुछ अभी अपने बारे में गिनाया वे तो काम की श्रेणी में आते नहीं। पूछ बैठती हैं— तू कोई काम नहीं करता था तो फिर उनके बीच क्यों रहा?

अनुराग जानता है कि माँ कितनी भोली है। कोई नौकरी-चाकरी नहीं तो वहाँ या कहीं रहने का भला क्या औचित्य हो सकता है। इसलिए माँ को समझा पाना कठिन है। अब यह सोच कर तो उन्हें टाला नहीं जा सकता कि वे कुछ ही दिनों की मेहमान हैं और इसलिए उनको बातों में ही बहलाए रहो। माँ की मृत्यु की कल्पना ही उसके लिए भयावह है। वह यहाँ माँ की मौत देखने नहीं आया है। वह माँ की सेवा करने का मिशन लेकर आया है। बिना मिशन के कोई कामरेड काम नहीं करता। जब तक उसके सामने कोई सामाजिक मकसद न हो वह काम हाथ में नहीं लेगा। वह अपना हर पल जैसे समर्पित करना चाहता है। वह माँ की इतनी सेवा करेगा कि उनको अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में कोई कष्ट न हो।

हाँ माँ—अनुराग बताता है—कोई नौकरी नहीं करता था। पार्टी का काम था और उसे अंजाम देना था। अपने भीतर की पुकार थी और पार्टी का मकसद। इसी के लिए यहाँ की लगी लगाई सुरक्षित नौकरी छोड़ कर भागा था। पार्टी के पास समर्पित कार्यकर्ताओं की टीमें हैं। मुझे भी उनमें से एक टीम में शामिल कर लिया गया था। मैं पार्टी का एक पदाधिकारी भी था और पूरी कमान मेरे हाथों में ही रहती थी। मुझे अपनी जिम्मेदारी का अहसास था। काम और संगठन के सिलसिले में फिर गाँवों और जंगलों में रहना पड़ा। खाने-पीने का इन्तजाम वहीं से होता था। दो जोड़ी कपड़ों और एक जोड़ी जूतों में पूरा साल गुजारना पड़ता था। अक्सर दाढ़ी तक नहीं बना पाते थे। वहाँ ब्लेड नहीं मिलते थे और अक्सर जेबों में पैसे ही नहीं होते थे।

अनुराग चुप हो गया। माँ कुछ समझती हैं और अनुराग का बताया अधिकतर उनकी समझ के परे है। संगठन, पार्टी, कायकर्ता, माँ की जानकारी से बाहर के शब्द हैं। माँ बोली—

तो काहे अपना जी हलकान किए था बेटा। यहाँ लौट आना था। यहाँ नौकरियों की कमी तो नहीं है। एक नौकरी छोड़ कर गया था तो दूसरी मिल जाती।

माँ! कैसे लौट आता? एक मिशन सामने था—पर अनुराग को लगा कि माँ शायद मिशन का अर्थ न जानती होंगी। बोला—एक सपना कहना चाहिए जिसे। सपना जिसे आदमी जीवन भर देखता है। उसको हकीकतों में ढालने के लिए प्रयास करता है। एक पूरा जीवन इसमें खप जाता है। फिर भी सपना है कि पूरा नहीं होता, हकीकत में पूरा नहीं बदल पाता। वही सपना हम सब के जेहन में पल रहा था, उसे पूरा किए बिना कैसे लौट आता। फिर नौकरी की कामना नहीं थी माँ।

सपना-जसुमती चौंकती हैं। किस सपने की बात अनुराग कर रहा है। सपना तो उन्होंने भी अपने बेटों के लिए देखा है। सभी माँएँ देखती हैं ये सपना। बच्चों में अच्छे संस्कार पड़ जाएँ। वे अच्छी-अच्छी नौकरियाँ पा जाएँ। अच्छे घरों में उनके शादी-ब्याह हों। चाँद सी बहुएँ आएँ। नाती पोते हों। एक अच्छे घर-परिवार का सपना होता है कि एक बहुत बड़ा हवादार और आरामदेह घर हो। घर के सामने बहुत बड़ा अहाता हो। मोटर गाड़ी हो। जीवन को और क्या चाहिए। वे सोचती हैं कि इससे भिन्न भी क्या कोई सपना होता है? क्या था अनुराग का सपना?

माँ के चेहरे पर जो तीव्र उत्सुकता उभर आई थी उसे मात्र शब्दों से शान्त कर पाना कठिन जान पड़ रहा था। पर माँ को कैसे समझाया जा सकता था? उनके जो सपने हैं या आम तौर पर जो सपने किसी के होते हैं कामरेड के सपने उनसे बिल्कुल अलग किस्म के होते हैं। उन सपनों में आग होती है, जो निरन्तर धधकती रहती है। उस आग में जलने और झुलसने के अलावा दूसरा कोई विकल्प नहीं होता।

हाँ माँ, सपना। यहाँ बैठे-बैठे पता नहीं चलता कि इस देश के बाशिन्दे जो दूर पास के गाँवों, देहातों और जंगलों में रहते हैं कैसी-कैसी विकट कठिनाइयों में जी रहे हैं—अनुराग बोल रहा है—भयानक और यंत्रणा भरी ज़िन्दगी में जी रहे हैं वहाँ के लोग। वे स्वतन्त्र नहीं हैं कि अपने ढंग से अपना जीवन जी सकें। नरक से भी गया बीता है उनका जीवन। उनके जीवन की संगत दूसरों के जिम्मे लिख गई है, जो सबल हैं, समर्थ हैं। वे सबल जो चाहेंगे वही ये करेंगे। करने के लिए मजबूर हैं वे। कोई और चारा नहीं है उनके सामने। वे अभिशप्त हैं ऐसा जीवन जीने के लिए। पशुओं से भी बदतर और उनसे भी गई-बीती मौत उनको नसीब होती है। इतना हीनतर जीवन होता है उनका। मजे की बात यह है कि वे इसे ही अपनी जिन्दगी की नियति मान लेते हैं। उस जकड़न, उस जाल से निकलने का न तो कोई निदान है और न ही उससे बाहर आने की कोई गुंजाइश।

कौन लोग हैं वे—जसुमती को आश्चर्य होता है—ऐसे मानुष इस धरती पर रहते कहाँ हैं? गिरिजन, वनवासी, आदिवासी, खेतिहर मजदूर, गरीब किसान—अनुराग बता रहा है—इनमें से किसी को भी ले लो। कैसा जीवन वे बिता रहे हैं। इसकी कल्पना करना ही मुश्किल दिखता है। वे महाजनों, ठेकेदारों और भू-पतियों के शोषण के शिकार बनते हैं। सरकारी हिंसा अलग उनका जीवन तबाह कर रही है। उनका जिन्दा रहना मुश्किल हो रहा है। पार्टी का सपना है ऐसा समाज बनाना जो हर तरह के शोषण और गैर बराबरी

से मुक्त हो। सभी को समान रूप से जीने का अधिकार मिले। पर सामाजिक और आर्थिक जकड़न ने उनके जीवन को नरक बना दिया है। उन लोगों को जागृत करने के लिए उन गिरे-पड़े लोगों के बीच रहना पड़ता है। उनको इन सब बातों से सचेत करना पड़ता है। उनको संगठित करना पड़ता है। उनके बीच अपनी पैठ बनाकर उनका विश्वास जीतना पड़ता है। उनको संघर्ष के लिए संगठित करना पड़ता है। यह निरन्तर की सजगता है माँ। इस सपने को सच करने के लिए गफलत की कोई गुंजाइश नहीं है।

जसुमती विचारमग्न हो गई। तो यह जुनून है और इसके लिए बेटे ने अपनी जवानी के सोने से पच्चीस साल होम कर दिए हैं। इसलिए उसके चेहरे पर इतनी झुर्रियाँ लिखी हैं, इतना उसका रंग दब गया है, चलते-चलते उसके पाँव इतने फट कर बिबाइयों से भर गए हैं।

माँ उसके सपने के अर्थ को समझने की कोशिश कर रही है। अनुराग में दूसरों के दुख-दर्द को समझने और उसको दूर करने के लिए ज़ब्बा पैदा हो गया है। फिर भी वे शक्ति होती हैं। समाज के कर्तव्य के लिए भी क्या सपना देखा जाता है?

सपना—वे जैसे फिर प्रश्न करती हैं। अब कमरे के भीतर सिर्फ हवा है और वह प्रश्न उस स्थिर हवा में तिर भी नहीं सकता। सिर्फ टँगा रह जाता है। पर अभी तो अनुराग आया है। अभी वे उसे प्रश्नों से लाद देंगी तो उसे कठिनाई होगी। उनके मन में अनुराग को लेकर जो भी टीस थी वह अब धीरे-धीरे घुल रही है। उसे लेकर जो भी धारणा उनके मन में बन गई थी वह छँटने की कगार पर आ रही है।

अनुराग को आए तीसरा दिन है।

दोपहर के पहले अनुराग तालाब से नहा कर अभी-अभी लौटा है। जंगल में तो नदियों में नहाने का मौका ही नहीं मिला। यात्रा के दौरान पाँव-पाँव अथवा तैर कर नदियाँ पार की हैं। शायद ही कभी सुकून से कोई नदी उसने पार की हो। कपड़ों और कागज़ों की गठरी बनाकर और सिर पर लाद कर असलहा टाँगे तैरते हुए नदी के उस पार सैकड़ों बार गया है। आज तालाब में वह जी भर कर तैरा है। गाँव के सरपंच ने घाट पक्का बनवा दिया है। दुपहर को घाट पर महिलाओं की इतनी भीड़ हो जाती है कि पुरुषों को किसी औघड़ घाट में नहाने के लिए उतरना पड़ता है। अनुराग दुपहर के पहले ही निवृत्त होकर आ गया है।

माँ, इसे हसरत भी कह सकती हो और संकल्प भी। पर सपना भी कोई अटपटा शब्द नहीं है—अनुराग गीले कपड़े अलगनी पर फैलाते अपने आप बोलता जैसे माँ को बता रहा है—हर बड़ा आविष्कार सपनों के माध्यम से ही खोजा गया है। समाज बनाने का सपना भी ऐसा ही है और सपनों में केवल सम्भावनाएँ होती हैं। पर समाज बनाने के इस सपने में इच्छाएँ होती हैं, संकल्प होते हैं। जब बन जाएगा ऐसा समाज तो वह सपनों का समाज ही होगा पर वायावी नहीं बहैसियत मुकम्मिल, ठोस और सान्द्र।

माँ, चुप है। उन्होंने नहीं सुना। पता नहीं उनके दिमाग में क्या घुमड़ रहा है। कामरेड उन्हें सपनों के दूसरे मुहावरे दिखाने के प्रयास कर रहा है। सपना जो केवल व्यक्तिगत या परिवारगत होता है। यह समाज के दिग्दर्शन का सपना है। इसका फलक बहुत फैला

हुआ है। इसमें कहीं संकीर्णता नहीं है। केवल विस्तार है। जहाँ मानव की एक मूलभूत प्रवृत्ति वर्चस्व का तिरोभाव है। वर्चस्व व्यक्ति का नहीं समाज का है। व्यक्ति सब समान हैं। उनमें कोई गैरबराबरी नहीं है।

माँ समझ नहीं रही हैं। उनके मन में फिर घबड़ाहट भर रही है। एक अविश्वास उन्हें घेर रहा है कि पता नहीं किस दिन अनुराग अपने सपने पूरे करने के लिए उन्हें छोड़ कर फिर चल दे। पागलपन भरे सपने, वे सोचती हैं। वह अनुराग के सपने को समझ नहीं पा रही हैं। हालाँकि उसने कहा है कि वह उनके ठीक होने तक कहीं नहीं जाएगा। पर जिस आदमी के मन में फितूर हो उसका क्या ठिकाना। अभी तो पच्चीस साल बाद लौटा है। फिर गया तो लौटेगा ही नहीं। और वह कितने दिन उसकी प्रतीक्षा कर पाएँगी अपनी जिन्दगी के खाली होते समय के कोष की ताकत से।

माँ को एक और जिज्ञासा कुरेद रही है। अनुराग ने कभी घर बसाने की सोची या नहीं। डॉक्टर विद्या आलोक की दवा और उनके सुझावों ने जसुमती की बीमार और बूढ़ी देह में चमत्कार-सा कर दिया है। वे अब अपने आप बिस्तर पर उठ कर बैठ जाती हैं और कभी अनुराग के आँखों से ओझल होने पर डगमगाती-सी ही सही बाहर आँगन में बनी गुसल तक चली जाती हैं। दिखता अब भी उतना ही धुँधला, कटा-फटा और आधा अधूरा-सा। पर उनके जेहन में बहुत से दृश्य और आकार एकदम पुरअसर तरीके से रोशन थे और उनके अभ्यस्त पाँव थके होते हुए भी बिना टकराए चलते थे। अनुराग बीच-बीच में डॉक्टर विद्या आलोक को माँ की हालत के सुधार के बारे में सूचना दे आता था और जो एक तरह से उनका कृतज्ञता ज्ञापन ही होता था।

इस तरह एक माह का समय सरक गया था। चुपचाप।

पर माँ डॉक्टर को कोई श्रेय नहीं देती हैं। जो भी श्रेय है बेटे के लिए सर्वाधिकार सुरक्षित है। माँ और बेटे के बीच में भला एक प्रेक्लिशनर डॉक्टर कैसे अट सकता है। वे कहती हैं—तू न आता अनु! तो मैं तो बिस्तर से ऐसे अटूट बँध गई थी कि मौत ही फिर खींच पाती मुझे। मेरा तो दूसरा जनम हुआ है। सच्ची! तू विश्वास नहीं करेगा। मैंने तेरी कितनी प्रतीक्षा की है। रात के अँधेरों में जब मेरे पास सन्नाटे के सिवा कुछ नहीं होता था तब तू मेरे पास आ जाता था। वे यादें इतनी सजग होतीं कि कुछ क्षणों के लिए मैं भूल ही जाती कि तू मुझसे दूर, बहुत दूर किसी अरण्य में विचरण कर रहा है। एकदम निर्मोही बना।

अनुराग को लगता माँ मोह की बेड़ियाँ डाल रही हैं उसके विबाइयों भरे पाँवों में। वे चाहती हैं कि उनके मरने के बाद भी अनुराग इस घर को फिर से त्यागे नहीं। एक दिन जब वह उनको सहारा देकर बाहर आँगन में ले आ रहा था, अचानक माँ ने पूछा था—अनु तूने कभी घर बसाने की नहीं सोची, बेटा। कभी ख्याल नहीं आया कि जिन्दगी में कहीं दो क्षण ठहर कर अपने लिए सुकून ढूँढ़ ले। किसी को अपनाने का ख्याल तेरे जेहन में नहीं आया कभी?

इन प्रश्नों से अनुराग हमेशा जूझा है। यह एक अहम मुद्दा बना रहा उसकी जिन्दगी में। इस विषय में सोचने की फुरसत ही नहीं मिली उसे या सोचना ही नहीं चाहा कभी

इस मसले पर। ऐसे मामलों में माँएँ दुर्बोध हो जाती हैं हमेशा। उनको समझा पाना बहुत कठिन होता है। घर-गृहस्थी में ही वे जीवन की पूर्णता ढूँढ़ती हैं। अब अगर वह मिशन की बात करेगा तो माँ पहले तो पूछेंगी कि यह मिशन क्या होता है। इसके बाद अगला प्रश्न होगा— मिशन में क्या ब्याह का निषेध होता है? अब समझा पाओ माँ को तो समझा कर देख लो। मिशन ऐसा एकरेखीय मोर्चा होता है, जहाँ अगल-बगल देखने की न तो फुरसत होती है और न इज़ाज़त।

अगर कोई कामरेड अपने जीवन में कभी हारता है तो अपनी माँ के सामने हारता है। माँ की अनन्यता इतनी धारदार होती है कि चट्टान में तल तक छेद करती चली जाती है। अनुराग जिन प्रश्नों और उनसे उपजे मुद्दों से बचने की कोशिश करता और जिन संस्कारों को तिलांजलि देता उम्र के इस मुकाम तक आ गया था, वे आज माँ की आदमकद शंका के सामने हताश हुए खड़े थे। वह इतना लाचार तो तब भी नहीं हुआ था जब तनुजा मजूमदार जैसी कढ़ावर और मजबूत गुर्देवाली कामरेड ने उसके सामने विवाह का प्रस्ताव रख दिया था और यह सब अप्रत्याशित भी नहीं था। तीखे नाक-नक्श और ताम्रवर्णी लम्बी देह वाली तनु की आँखों में जहाँ भविष्य के संकल्पों की गहराई थी वहीं वह रास्ते चलते किन्ही अनाम जंगली फूलों से भी बतियाती चलती थी। किसी रंग-विरंगी तितली को देखकर वह ठिठक जाती थी। वर्षा के बाद शुभ्र आसमान में प्रकृति ने कहीं इन्द्रधनुष उकेर दिया हो तो तनु विभोर-सी खड़ी हो जाती थी सप्त वर्ण रंगों के तरल मिश्रण को निहारती हुई।

तनु कहती—कामरेड! हम तो उस चट्टान की तरह हैं, जिसकी दरारों में से कोई फूल का पौधा जड़ पकड़कर लहराता है तो लगता है कि यह कठोर नहीं है। इसकी काया में कहीं भुरभुरी मिट्टी भी है। कैसे भूल जाएँ हम अपनी कोमलताओं को। ये तो हमारे जीवन के सन्तुलन हैं जो हमारे कर्मों की गति को साधते हैं। वरना हम तो छिटक कर अन्तरिक्ष में पता नहीं कहाँ खो जाएँगे। ये कोमलताएँ ही हमारी गुरुत्व हैं जो हमें धरती से बाँधे रहती हैं।

तनु शायद ठीक ही कहती थी। इसीलिए तो अपने आईएएस और आईपीएस भाइयों वाले कुलीन घर को छोड़कर और अपनी थीसिस—‘आदिवासी, जंगल और समाज: एक राजनैतिक और नृतत्वशास्त्रीय अध्ययन’ पूरा करने के बाद बिना वायवा दिए यहाँ पार्टी के काम से इन घने जंगलों में औचक चली आई थी। कभी थकती नहीं। कभी किसी से डरती नहीं। गम्भीर से गम्भीर मसलों पर भी चुहल से नहीं चूकती। एक आंवा जिसे कर्मठता कहते हैं, निरन्तर उसके उसके भीतर धधकता रहता था।

वह अनुराग की बौद्धिक और विश्लेषण क्षमता से प्रभावित थी। कहीं किसी क्षेत्र विशेष में कोई योजना बनानी हो तो अनुराग की बनाई योजना का तोड़ ढूँढ़ना मुश्किल होता था। फिर उस योजना के अमल में जो उत्साह और जोश होता था, उसकी शुरुआत भी अनुराग स्वयं की पहल से करता था। वह लातीनी अमरीकी देशों की दुर्दशा को दन्तकथाओं की तरह सुनाता था। फिदेल कास्त्रो और चेग्वारा के आक्रमणों और बचावों और उनके संघर्षों के ब्यौरे ऐसे सुनाता था जैसे वह वहाँ स्वयं विद्यमान रहा हो। वह वियतनाम में

अमरीकियों के अत्याचारों और स्थानीय लोगों के प्रतिरोध के किस्से ऐसे सुना डालता जैसे खुद भी वहाँ अमरीकियों के खिलाफ मोर्चे में लड़ा हो। माई लाई जनसंहार में तो अमरीकियों ने दहशतगर्दी की हद कर दी थी कि बर्बरता भी रोने लगी थी। वह बताता तो रोंगटे खड़े हो जाते थे।

इन सबका वर्णन कामरेडों में उत्साह का संचार करने लगता था। दवा के स्तर पर टॉनिक जैसा।

तनुजा एकाध-दो साल ही छोटी होगी अनुराग से। ऐसा नहीं था कि अनुराग तनु की तरफ खिंचा नहीं था। उसमें ज़बरदस्त खिंचाव था। तनु से उसकी लम्बी-लम्बी बहसें होती रहती थीं। उन बहसों में इतनी बौद्धिक आँच रहती थी कि तनु की बातें, उसके तर्क कभी-कभी महीनों अनुराग के जेहन में चक्कर काटते रहते थे।

तनु ने एक दिन ग्रुप के सभी कामरेडों के सामने अनुराग से विवाह का प्रस्ताव रख दिया। बातचीत का रुख एकदम पलट गया।

तनु ही इसके बाद बोली—अब ये मत कहना कामरेड कि एक बड़ा मिशन सामने है और उस मिशन के सामने ये शादी-ब्याह फजूल की बातें हैं। ये कुफ्र है। यार! शादी से कहीं सिद्धान्त ढीले नहीं पड़ते। बल्कि हम और भी ज़्यादा समर्पित होकर काम करेंगे।

अनुराग ने कुछ नहीं कहा था। न हाँ और न ना।

दूसरे या तीसरे दिन तनु ने उसे टोकते हुए कहा था—अगर तुम्हें पार्टी की अनुमति की जरूरत हो तो उसके लिए कोशिश कर सकते हैं। मेरा विश्वास है कि पार्टी को कोई एतराज इसमें नहीं होगा। हम मिशन से डेविष्ट नहीं हो रहे हैं और न जगह छोड़कर जा रहे हैं। हमारा मजबूत अतीत हमारे पीछे छाया की तरह लगा है।

पर अनुराग का मौन नहीं टूटा था। एकाध साल तक तनु ने चुपचाप और मुखर रह कर भी इन्तज़ार किया था। पर अनुराग को पिघला लेना उसके बस से बाहर हो गया था। इसके बाद वह उड़ीसा के आदिवासियों के बीच पोलित ब्यूरो से आग्रह करके काम करने के लिए चली गई थी। तनुजा के जाने के बाद अनुराग ने खुद को एकदम तन्हा पाया था। अनुराग आज भी उसकी कमी महसूस करता है। एक ऐसा अभाव जो कभी पूरा ही नहीं होता। तनुजा के जाने के बाद से उसे जैसे अपने काम से, अपनी निमग्नता से हमेशा असन्तोष-सा बना रहता था।

कुछ सालों बाद अचानक यह समाचार आया था कि जब तनु अपनी एक कजिन की शादी में हुगली गई हुई थी पुलिस ने उसका इनकाउण्टर बताकर उसे मार दिया था। अस्पताल में घायल अवस्था में अचेत होने के पहले उसने नर्स से कहा था—काश! उस क्षण मेरे हाथ में बन्दूक होती... इसके बाद अनुराग महीनों एकदम तन्हा हो गया था और अनायास मायूसी ने उसे घेर लिया था।

उसने माँ को समझाने की कोशिश की थी। उसने बताया कि माँ पार्टी का जो काम होता है, उसमें इतनी गुंजाइश नहीं होती कि कोई कामरेड घर बसा ले। फिर शादी के बाद एक बन्धन पाँवों में बँध जाता है। आजादी में बेड़ियाँ पड़ जाती हैं। चाहे वे कितने ही आजाद ख्याल के होते। घर देखते कि अपना मिशन पूरा करते?

पर माँ इन दलीलों से सन्तुष्ट होती नहीं जान पड़तीं। वे मिशन शब्द को सुनकर ही बौखला-सी जाती थीं। वे पूछती हैं कि तुम्हारे जितने साथी हैं और जो तुम्हारे ऊपर वाले हैं वे क्या सभी के सभी कुँवारे हैं। अनुराग को तत्काल कोई जबाब नहीं सूझता है। अनुराग जैसे दो-चार और हैं। बाकी सभी तो शादी-शुदा हैं। हाँ वहाँ कोई अपना परिवार साथ नहीं रखे हैं। पर गाँव शहर में जहाँ के वे रहने वाले हैं उनके परिवार हैं। कुछ उसकी तरह ही होल टाइमर भी हैं। पर जो जुनून अनुराग में है, वह कम ही कामरेडों में है। उसे तनुजा ने एक मौका दिया तो था। वही झिझक गया। जिन्दगी का रुख ही दूसरा होता उन हालातों में। शायद शक्ति दुगनी हो जाती। पर अनुराग ने सोचा दूसरा छोर-शून्य हो जाती शक्ति। इस सोच पर तनुजा ने कहा था कि जिन्दगी का निर्मम पक्ष क्यों सोचते हो अनु। देखो हम क्या कर सकते हैं। अपने बच्चों को भी हम बहुत शुरू से इस काम में पारंगत कर लेंगे। अनुराग दूसरा पक्ष सोच ही नहीं पाया। अगर वह हाँ कह देता तो शायद तनुजा मारी न जाती। तनुजा का जिक्र अनुराग ने जानबूझ कर माँ के सामने नहीं किया।

अब माँ से झूठ भी कैसे बोले।

तीसरा महीना आधा बीत गया है।

माँ को आँगन में आराम-कुर्सी पर धूप में बैठा दिया अनुराग ने। वह वहीं ज़मीन पर बिछी बोरी पर बैठ कर दाढ़ी बनाने का उपक्रम करने लगा। जिस दिन अनुराग आया था जसुमती ने उसके चेहरे पर अपनी कमज़ोर हथेलियों को फिरोया था और उसके चेहरे पर उन्होंने एक खुरदरी दाढ़ी का अहसास किया था। वह बैग से टिन का पुराना डिब्बा निकाल लाया। उसमें एक टूटा शीशा भी रखा था। गदेली के आकार का घिसा शीशा। लछमी को आवाज़ देकर उसने एक कटोरी में पानी गरम कर देने को कहा। उसी डिब्बे से उसने प्लास्टिक की एक छोटी कटोरी जो लम्बे समय में इतनी चीकट हो गई थी कि उसके रंग की कल्पना करना ही व्यर्थ था। उस पर जो अक्षर कभी उभरे रहे होंगे वे भी मैल में छुप गए थे। उसने कटोरी निकाल कर रख ली और शीशे को उस पर टिकाने की कोशिश करने लगा। एक छितराया हुआ ब्रश जो हिरोशिमा के परमाणु विस्फोट से उठे गुबार और धुएँ के आकार का दिख रहा था निकाल लिया था।

जिस चीज़ ने जसुमती का ध्यान खींचा था वह प्लास्टिक का रेजर था जो सालों के अन्तराल में अपनी चमक पूरी तरह खो चुका था। अनुराग जब टीन के डिब्बे में कोई साबुत ब्लेड ढूँढ़ने की कोशिश कर रहा था जसुमती ने हाथ बढ़ाकर वह रेजर उठा लिया। वे अचानक अतीत में काफी पीछे चली गईं। ऐसा ही रेजर अनुराग के बाबूजी इस्तेमाल करते थे और न जाने क्यों जसुमती को जब वे शेव करते होते गाल कटने की आंशका इस कदर घेर लेती थी कि उनके मुँह से सिसकारी निकल जाती थी। आज फिर इतिहास अपने को दोहरा रहा था।

माँ को रेजर उठाकर देखते पहले तो अनुराग अचरज में पड़ गया कि उसमें कौन-सी ऐसी बात है जो उनको खींच रही है। आखिर वह एक साबुत ब्लेड खोजने में सफल हो गया। उसने माँ के हाथ से वह रेजर ले लिया और नीचे से चूड़ी घुमाने लगा तो रेजर

के दोनों पल्ले इधर-उधर खुल गए। उसमें ब्लेड फँसाते अनुराग बोला-माँ ये रेजर बस्तर के मड़ई में खरीदा था—फिर जैसे उसने धुँधली यादों की परतों में से झाँकते हुए कहा-बीस बाईस साल से कम क्या हुए होंगे।

मड़ई— सहसा जसुमती के पोपले मुँह से फूटता है।

मड़ई माने मेला। बस्तर के आदिवासी मेला को मड़ई कहते हैं। यह मेला साल भर में एक बार लगता है। उन दिनों में बस्तर में अपने तीन और कामरेडों के साथ वहाँ के आदिवासियों के बीच था। इस मेले का इन्तज़ार बस्तर के आदिवासी बड़ी बेसब्री और ललक से करते हैं। बड़ी भीड़ होती है मड़ई में।

लछमी गरम पानी से भरी एक कटोरी को अपने आँचल के छोर से पकड़े रख गई। ब्लेड के रैपर से पकड़ कर उसने पानी प्लास्टिक की कटोरी में उलट दिया। हालाँकि उसकी अँगुलियों में चंहक लग गई। उसने ब्रश पानी में डुबोया और अपनी सूखी दाढ़ी पर फेरने लगा।

अनुराग मेले के बारे में बताने लगा।

मेला एक टेकरी पर बसे भाटीपारा गाँव में तालाब के ऊपर लगता है। वहीं देवी का मन्दिर है और वहाँ शहनाई बजाई जाती है जो दूर-दूर तक सुनाई पड़ती है। वहाँ दो खम्भे गड़े होते हैं जो मेले के लाट कहलाते हैं और इसी लाट से लग कर मेला शुरू होता था। खूब दुकानें सजती हैं। एक दुकान में तो केवल भगवान के कलेण्डर बिक रहे थे। फ्रेमों में जड़ी भगवान की तस्वीरें। वहाँ बड़ी भीड़ होती है उस दुकान में। कुछ तस्वीरें प्रकृति की भी थीं। वे तस्वीरें आदिवासियों को बाँध रही थीं।

दाढ़ी के बालों को मुलायम करने के बाद अनुराग ने ब्लेड चलाया तो खर्र की आवाज़ हुई। दाढ़ी के बाल बहुत बढ़ गए थे और एकदम सख्त पड़ गए थे। वे उस्तरे से ही साफ हो सकते थे पर अनुराग को शायद अभ्यास था। बिना विचलित हुए वह दाढ़ी छीलने में लगा रहा। माँ ने उसकी यह हरकत देखी तो उनके मुँह में सिसकारी भर गई।

साबुन लगा ले अनु- माँ का चिन्तित स्वर उभर आया।

आदत है माँ। वहाँ जंगल में कहाँ साबुन मिलता है। कहाँ गरम पानी भी। महीने दो महीने में कभी-कभार ही जब मौका मिल पाता था तो दाढ़ी बना लेता था।

पर यहाँ तो साबुन है—जसुमती लछमी को आवाज़ लगा देती है। लछमी साबुनदानी रख जाती है। फिर भी अनुराग साबुन का इस्तेमाल नहीं करता है।

कितनी दुकानों में तो मिठाई और शर्बत बिक रहा था। आदिवासियों की एक खास मिठाई होती, क्या तो नाम है उसका- अनुराग रेजर रोक कर कुछ देर नाम याद करने की कोशिश करता है—बोबो और खाजा। खाजा गुड़ से तैयार किया जाता है। उसे गुड़ खाजा कहते हैं। एक और पकवान होता है। उसका नाम याद नहीं आ रहा है। वह छल्ले के आकार का होता है। इन दुकानों पर बड़ी भीड़ होती है।

एक तरफ की दाढ़ी खुरदरेपन में बन गई थी। अब अनुराग दूसरी तरफ रेजर चलाने की तैयारी में था। जब उसने रेजर को पानी में डुबोकर उसमें लगे बाल साफ कर लिए। और फिर- जसुमती ने कहा।

तो माँ गौर से उसकी बातें सुन रही हैं। वह बताने लगा—आसपास के गाँवों से बड़ी भीड़ जुटती है मड़ई में। चारों तरफ बैलगाड़ियाँ दिखाई पड़ती हैं। गृहस्थी का पूरा सामान बिकता है। मड़ई में आने के लिए आदिवासी रंग-बिरंगी कमीजें पहनते हैं। उनकी पगड़ियाँ भी रंगीन होती हैं। औरतों की छटा तो देखते ही बनती है। चाँदी और गिलट के उनके आभूषण धूप में चमकते हैं तो आँखों में चकाचौंध पैदा कर देते हैं। बस्तर की आदिवासी लड़कियाँ जिनके साँवले सलोने चेहरे से झाँकते उनके दाँतों की धवल पंक्तियाँ हीरे की कौंध-सी लगती हैं। मड़ई में आने का उनका उल्लास देखते ही बनता है। आखिर वे इस मड़ई का साल भर इन्तजार जो करते हैं।

जसुमती का मन मेले के इस वर्णन में रम गया है। मेले-ठेले मनोरंजन के साधन होते हैं। उनको याद है जब कस्बे में रामलीला शुरू होती थी, झुलपुटा होते ही गाँवों से बैलगाड़ियों के ठट्ट के ठट्ट आकर मैदान में ठहर जाते थे और आने वाले अपनी जगह मुकर्रर करने के लिए तीन घण्टे पहले से ही बोरा या फट्टा बिछाकर बैठ जाते थे। जिस दिन धनुष यज्ञ होता उस दिन भीड़ मैदान में समाती नहीं थी। राम वनवास के दिन तो पूरा दर्शक समुदाय अयोध्या वासियों के साथ रोता था।

बहुत भोले होते हैं बस्तर के आदिवासी। बल्कि कहना चाहिए हर जगह के आदिवासी। कुदरत की तरह ही सीधे-सादे और निष्पाप। देवी का मन्दिर मड़ई के बीचों-बीच था। भाटी पारा की देवी गंगा बाई अपने देवता गायता के साथ गाजे-बाजे के साथ आकर बैठती हैं। वहाँ लगातार नगाड़े बजाए जा रहे थे। देवी की छोली, बैरकलाठ और मोरछल भी वहीं रखा था। रेटाबन्ड से दुँलार देवी, भोड़ गाँव से भोड़ाइन माता, गोंदाबुड़ी देवी आई थीं। लम्बे बाँसों में उनकी पताका लगी थी। थोड़ी-थोड़ी दूर पर इन देवी देवताओं के आसन लगे थे। देवी के भाव कुछ लोगों को आ रहे थे और उस भाव में वे बेतरह झूम रहे थे। वे चार-पाँच आदमियों के सँभाले भी नहीं सँभल रहे थे। जिनको भाव आते हैं वे कानों में कनरे के फूल खोंसे हुए थे। शहनाई और नगाड़ों की आवाज़ मड़ई के हर छोर पर सुनाई पड़ रही थी। देवियों पर लोग चढ़ावा चढ़ा रहे थे और मान्यताएँ मनाई जा रही थीं। किसी को सन्तान की दरकार थी तो किसी को हारी बीमारी से निजात पाने की। मड़ई में बिछुड़े लोग भी मिल जाते थे। माँ वहीं एक बिसातखाने की दुकान पर ये रेजर दिख गया तो याद आया कि बाबूजी भी तो ऐसे ही रेजर से अपनी दाढ़ी छीलते थे। वहीं से ले लिया था इसे।

शाम होने के कुछ पहले मड़ई उठ गया था अगले साल तक के लिए।

अरे इसे भी याद है अपने बाबूजी का रेजर- जसुमती मुदित हो उठीं। एक छोटा-सा यादों भरा प्रसंग जिसमें माँ और बेटा दोनों सहभागी थे। जसुमती को सहसा लगने लगा कि इतने दिनों अनुराग का वियोग उनके जीवन का बहुत बड़ा हादसा था, अपने तीन और बेटों की उपस्थिति के बाबजूद। परिवार से छूट कर भी कौन कब यादों में उलझ जाता है और कौन-सा प्रसंग सहसा आदमकद होकर अहसासों को महकाने लगता है, यह कोई पहले से नहीं जान पाता।

जसुमती को लगता है कि वे जो अपनी बीमारी, अकेलेपन और बुढ़ापे से हार रही

थीं और जीने की उनकी इच्छा खत्म-सी हो गई थी। वे फिर ज़िन्दगी में लौटने लगी हैं। अगर अनुराग यहाँ बना रहता है और वापस जंगल जाने का रुख नहीं करता है तो वे नई भाषा लिखने को तैयार हैं। वे नहीं जानतीं कि अनुराग की ज़िन्दगी के कौन से मकसद और सपने हैं और क्यों वह परिवार और रिश्तों से कट कर अनजाने लोगों के बीच रह रहा है। अनुराग की जगह कोई और बेटा यहाँ होता उनकी देखभाल के लिए तो वे शायद इतनी शिद्दत भरे आवेग में न आतीं। दूसरे बेटों की चाह उनकी बिलम्ब ही सही उपलब्धता ने खत्म कर दी थी। पर अनुराग तो लगातार अनुपस्थित था और वे सोच भी नहीं सकती थीं कि वह उनके पास लौट आएगा। इसलिए उसके लिए उनके भीतर चाह का एक विकट जज्बा-सा पैदा हो गया था।

पर अनुराग के लिए दूसरे अर्थ थे। वह जिस मकसद से वहाँ आदिवासियों, बनचरों और किसान-मजदूरों के बीच था एक दूसरे बिल्कुल भिन्न मकसद से अपने कर्तव्य के निर्वाह के लिए यहाँ माँ की देखभाल के लिए आया था। बस काम अवान्तर हो गया था। पार्टी अगर अनुमति नहीं देती तो वह फिर यहाँ नहीं आता। लेकिन पार्टी का एक मानवीय चेहरा भी था। विश्लेषणों और सैद्धान्तिकी से अलग हट कर यह बताने के लिए कि एक कामरेड के लिए रिश्तों और खून का भी अहम महत्व होता है। अनुराग की निष्ठा में कोई कमी नहीं पाई गई थी। तो फिर उसे अपने पारिवारिक और नितान्त वैयक्तिक निष्ठा से क्यों वंचित रखा जाए। यह गुनाह पार्टी नहीं करना चाहती थी।

जब वक्त काटने और घूमने-फिरने के लिहाज से अनुराग यों ही घर के बाहर निकल गया जसुमती अपने पाँवों में पंख बाँधे पूरे घर में डोलती फिरीं। जाने से पहले लछमी ने उनको खाट की चौहद्दी में बाँधने की कोशिश की तो वे बिगड़ पड़ीं। वे जो 86 साला जसुमती थीं अब नीले आसमान में उड़ना चाहती थीं।

जसुमती के स्वास्थ्य में आशातीत सुधार हो रहा था। दवाइयाँ और टॉनिक तो पहले भी थे पर नहीं था तो कोई पुत्र पास में। केवल चिड़ियाँ थीं और उन चिड़ियों में रहती थीं कुछ अदद चिन्ताएँ। उनका बुढ़ापा जिसे जीवन के अवसान तक खिंचना था। लड़कों ही इच्छा यही थी कि माँ का आखिरी समय चैन में बीत जाए। इसलिए किसी एक का उनके पास रहना ज़रूरी है। इसलिए सालों से विलुप्त हुए अनुराग का आना जसुमती के जीवन में उनकी डूबती साँसों का फिर से ताजा होकर लौट आना था। इस वजह से अब दवाइयाँ भी असर कर रही थीं और टॉनिक भी। उनकी देह के रेशे-रेशे में जैसे चेतना भर रही थी। वे भूल गई कि वे 86 वर्ष की हो गई हैं।

अनुराग का वक्त नहीं कटता। माँ को दवाई देने और खाना खिलाने के बाद वह दिन भर मोहल्ला दर मोहल्ला घूमता रहता। कभी बसोरन टोला, तो कभी चमरौटी में दिखाई पड़ता। उस छोटे से कस्बे में जहाँ लोग एक दूसरे को भली-भाँति पहचानते थे, अनुराग का इस प्रकार छोटे और विपन्न लोगों के बीच उठना-बैठना और घुल-मिल जाना चर्चा का विषय बना हुआ था। इस पर शायद लोगों को एतराज था। आखिरकार एक प्रतिष्ठित और कुलीन परिवार से वह जुड़ा हुआ था। बहुत से बुजुर्गों की स्मृतियों में अनुराग जगमग करने लगा था। उसके पिता वंशीधर के पास आसपास के इलाके में सबसे ज़्यादा ज़मीनें

थीं। सीलिंग की वजह से अब कुछ ज़मीन ही बची थी। अधिकतर तो उन्होंने सीलिंग कानून लगाने के पहले ही अपने हलवाहों और काम करने वाले खेतिहर मज़दूरों में बिना किसी मूल्य के बाँट दी थीं। फिर अच्छी खासी जो ज़मीनें इसके बावजूद उनके पास बची रहीं वे सब सीलिंग में फँस गई थीं। उन्होंने अपने लड़कों को अच्छी शिक्षा दिलवाई और सभी अनुराग को छोड़कर अच्छे पदों पर लगे हुए थे।

जो नई पीढ़ी इस दरम्यान कस्बे में पैदा हुई थी, वह अनुराग को नहीं जानती थी। इसलिए उनको भी अनुराग के कामों में दिलचस्पी और कौतूहल होता था। अनुराग को बार-बार जंगल याद आते। वे लोग याद आते जिनके बीच रह कर उसने काम किया होता था। कस्बे के बीच अनुराग का मन नहीं लगता। जब तक माँ जिन्दा है उसे यहाँ रहना है। लेकिन माँ की मृत्यु की कामना वह नहीं कर सकता। इसके बाद उसे फिर जंगल लौट जाना है। यहाँ कस्बे में उसका दम घुटता है। पर फिलहाल उसे अभी यहीं रहना है, माँ के पास। उनकी देखभाल और सेवा-सुश्रुषा के लिए।

बसोरन टोला में अनुराग ने देखा कि कस्बे की नगर पालिका ने इस ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया है। जहाँ बड़े और समर्थ लोग रहते थे वहाँ ही नालियाँ बनीं, गलियाँ कुछ पक्की हुईं। कचरा फेंकने के ड्रम वहाँ रखे गए और कभी-कभार सफाई वहाँ कराई जाती रही। बिजली के खम्भे भी वहाँ गाड़े गए। पर कस्बे के बसोरन टोला और चमरौटी के लिए कुछ नहीं किया गया।

उसने कुछ नौजवान लौंडों को समेटा। एक थोड़ा ठीक से दिखते घर के चबूतरे पर वह पालथी मार कर बैठ गया। यह देखकर जल्दी से घर के भीतर से एक ढिलगी-सी खाट उठाकर एक अधेड़ बाहर आया और उसे चबूतरे पर बिछा दिया। अनुराग को खाट पर बैठने का आग्रह होने लगा। पर अनुराग नीचे ही बैठा रहा। उसने एक दो बुजुर्गों का हाथ पकड़ कर अपने साथ ही बैठा लिया। नौजवान उनको घेर कर खड़े हो गए।

उसने उनसे अर्जी लिखने के लिए कागज़ माँगा। उस काली बस्ती में सफेद कागज़ कहाँ से मिलता। उस बस्ती में कोई स्कूल भी नहीं था। खैर दूसरे दिन उसने खुद कागज़ लाने के लिए उनसे कहा। बताया कि जो भी सुविधाएँ इस बस्ती में नहीं हैं उनके लिए वह अर्जी लिखेगा अध्यक्ष के नाम और ज़रूरी हुआ तो इसके लिए उनसे मिलेगा भी। यह बस्ती के लिए नई बात होगी। उनमें से कोई अनुराग को पहचानता नहीं था। पर उसके बाबूजी का नाम चलता था। उस परिचय से उन लोगों ने जाना कि कितना बड़ा आदमी उनकी बस्ती में चबूतरे पर पालथी मार कर बैठा था और उनके लिए अर्जी लिखने वाला था।

अनुराग ने अर्जी लिखी और बस्ती के एक जवान को साथ ले जाकर अध्यक्ष तक पहुँचवा दी। अब बस्ती के लोग उसकी तलाश में उसके घर तक आने लगे थे। आँगन से घर के बड़े दरवाज़े से बाहर गली का नज़ारा दिखता था। आँगन में आराम कुर्सी पर बैठी जसुमती को वे लोग दिख जाते थे। उनके रहन-सहन और पहनावे से उनको यह अन्दाज़ा लगाने में कठिनाई नहीं हुई कि ये कौन लोग हैं जो अनुराग को तलाशते हुए आते हैं। अनुराग की बातों से थोड़ी झलक मिल ही गई थी कि इन लापता हुए पच्चीस सालों में अनुराग किन लोगों के बीच रहा और उनके लिए वह क्या-क्या करता रहा। कुछ ही समय

में अनुराग ने उन लोगों को जैसे जगा दिया। उनको उसने एक साथ इकट्ठा कर लिया था।

जब माह भर होने को आया और टोले की भेजी अर्जी पर कोई कार्यवाही नगर पालिका से नहीं की गई, अनुराग ने टोले के मर्दों और औरतों को जुलूस की शक्ल में नगर पालिका के दफ्तर में भेजा। करीब तीस-चालीस लोग इस जुलूस में शामिल हुए। इसका असर पड़ा। अध्यक्ष ने स्वयं बाहर आकर आश्वासन दिया कि जल्दी ही उनकी माँगों पर विचार किया जाएगा। अनुराग ने जान बूझकर इस जुलूस का नेतृत्व खुद नहीं किया बल्कि उन्हीं में से एक सयाने को आगे कर दिया और उसने ही अध्यक्ष से बात की। दस दिन बाद ही टोले की गलियों की पैमाइश शुरू हो गई और टोले वालों ने हैरानी से देखा कि माह बीतते-बीतते गलियों में खड़जा लगाने का काम शुरू हो गया। यह पहली सफलता थी।

इसी तरह बसोरन बस्ती की राशन की दुकान कभी-कभार ही खुलती थी और जब राशन वाले का मन होता राशन बाँटता था वरना कह देता कि कोटे में अभी राशन नहीं आया है। बस्ती वालों को रोज़ उसके पास भेज कर अनुराग ने उसे मजबूर किया कि वह रोज़ दुकान खोले और ईमानदारी से राशन बाँटे। बस्ती वाले अब खुश थे। फिर एक रोज बस्ती में बजरंगा की लड़की सरोज का विवाह हुआ। उसे चीनी की ज़रूरत थी। खुले बाज़ार में चीनी मँहगी थी और राशन की दुकान से उसे एकमुश्त इतनी चीनी नहीं मिल सकती थी। अनुराग ने हल निकाला। उसने बस्ती के घरों से बीस राशन कार्ड इकट्ठे किए और एक आदमी भेज कर उन पर एक साथ चीनी मँगवा कर बजरंगा को सौंप दी। उसने सिखाया कि काम कैसे निकालना चाहिए। इसके लिए पहले तो अपनी आवाज़ उठाओ और फिर संगठन की ताकत आजमाओ।

किसी लड़के ने एक दिन अनुराग से पूछ लिया—बाबू ये सब कैसे हो गया?

अनुराग ने हँस कर बताया—काम कैसे करना चाहिए और संघर्ष की आदत जब तक न डालोगे इसी तरह वंचित रहोगे। बार-बार लड़ना पड़ता है तब कोई चीज हासिल होती है। पर ध्यान रखो, जो चीज हासिल करते हो उसमें सामूहिकता होनी चाहिए। केवल एक के लिए नहीं, तुम्हें सबके लिए हासिल करना है।

एक दिन पड़ोस की जसुमती की एक हमजोली जानकी बाई जो अपनी बेटी के घर से अरसे बाद लौटकर अपने इस घर आई थीं उनसे मिलने आ गईं। सुख-दुख की बातों का सिलसिला चालू हो गया। जसुमती को अच्छा लगा कि इस जनम में फिर मिलन हो गया। घर जाने के लिए उठते समय जानकी बाई बता गई कि चतुर्भुज मन्दिर में वृन्दावन से एक महन्त आकर ठहरे हैं और रोज शाम को चार बजे से हरि कीर्तन शुरू होता है। अभी एक हफ्ते मन्दिर में रहेंगे।

मोहल्ले के बीच ही चतुर्भुज मन्दिर है। एक बड़े अहाते में फैला हुआ। दूसरे दिन जब अनुराग घर में नहीं था जसुमती ने लछमी को लिया और मन्दिर के लिए चल दीं। लछमी ने लाख मना किया कि भैया जी नाराज होंगे फिर डॉक्टर ने भी अभी चलने फिरने के लिए मना किया हुआ है। पर जसुमती भला क्यों मानने चलीं। मन्दिर से उन्होंने लछमी

को वापस भेज दिया और सत्संग में दूसरी महिलाओं के मध्य बैठ गई। उनके लिए सरक कर जगह बना दी गई। माँ को गए घण्टा भर से ऊपर हो गया था जब टोले से अनुराग लौटा। लछमी ने माँ का पता बता दिया तो वह उनको लेने मन्दिर की ओर चल दिया। वह लछमी की मजबूरी समझ रहा था कि वे मना करने के बाबजूद मानी न होंगी।

मन्दिर के बड़े द्वार से ही बरामदे में बैठी माँ दिख गई। कीर्तन चल रहा था—गोपाल जै जै! गोविन्द जै जै! राधा रमण हरि गोपाल जै जै! पहले महन्त एक पंक्ति गाता फिर भक्त समुदाय जिसमें नर और नारी दोनों शामिल थे उसे दोहराते। महन्त का गला बहुत रसमय था और वाद्यों की ध्वनि के साथ उसका गला रस की वर्षा करने लगता था। कीर्तन अपनी पूरी लय और रागात्मकता पर चल रहा था। यह घोर तन्मयता देखते ही बनती थी। अनुराग मन्दिर के बाहर चबूतरे पर बैठकर माँ का इन्तज़ार करने लगा।

कैसी होती है आस्था और विश्वास की प्राचीर। कोई ढहा नहीं सकता इसे। किस गारे से इसको बनाया जाता है। समाज की मजबूती का आधार ये आस्थाएँ ही होती हैं जो सम्बन्धों को दृढ़ और सामाजिक बनाती हैं। इनकी तन्मयता देखकर कोई घोर नास्तिक भी मान जाएगा कि भागवान होता है। अभी ये तर्क-वितर्क का समय नहीं था। उसे बस प्रतीक्षा करनी थी। आधा घण्टा बाद कीर्तन बन्द हुआ। माँ की बूढ़ी आँखें लछमी की तलाश कर रही थीं पर सामने अनुराग पड़ गया। माँ ने हाथ सहारे के लिए आगे बढ़ा दिया।

अनुराग माँ का हाथ थामे था। उसके सभी सिद्धान्त, तर्क और कर्म उस वक्त माँ के सामने नतमस्तक हो गए थे। गली में उनका हाथ थामे-थामे अनुराग घर के लिए लौट रहा था। अनुराग कई रातों तक आस्था से भरे इस प्रेम और राग पर सोचता रहा। यहाँ अपने घर में अनुराग फिर नए सिरे से सवालियों का सामना कर रहा था।

माँ के स्वास्थ्य में निरन्तर सुधार हो रहा था। माँ जी रही थीं। यह सोच कर अनुराग सन्तोष में भर गया था। हालाँकि पार्टी ने उसे यह सोच कर माँ की सेवा के लिए भेजा था कि बूढ़ी माँ कुछ दिन ही ज़िन्दा रहेगी। वह फिर जंगल लौट जाएगा। पर माँ की सेहत को देखकर ऐसा लग नहीं रहा था कि वे जल्दी यह संसार छोड़ देंगी। अनुराग जिस भूमिगत दुनिया को छोड़कर यहाँ खुले कस्बे में आया था अनभ्यस्त होने के कारण यहाँ उसका दम-सा घुटने लगा था। अनुराग को जंगल शिद्वत से याद आता और उसकी बेचैनी बेइन्तिहा बढ़ जाती।

एक रात खुले आसमान के नीचे अब आँगन में माँ और उसकी चारपाइयाँ अगल-बगल पड़ी थीं और हवा मजे से मन्द-मन्द बह रही थी, माँ की उत्सुकता फिर जाग गई थी। माँ अनुराग से उसके सपने के बारे में सुनना चाहती थीं। उनके मन में अटूट जिज्ञासाएँ थीं। अनुराग भी बताना चाहता था माँ को अपने सपने और उनको पूरा करने के संकल्पों और संघर्षों के बारे में।

एक दिन जब अनुराग घर के बाहर था, जसुमती की नज़र उसके घिसे, मटमैले बैग पर पड़ गई थी। बैग खुला हुआ था और उसमें एक डायरी दिख रही थी। जसुमती ने वह डायरी बाहर निकाल ली। एकजीक्यूटिव डायरी थी, जिस पर कभी बहुत सुन्दर और मनोहर चमड़ा चढ़ा कवर लगा रहा होगा। किनारों पर पीतल के कोने लगे हुए थे, जो

अब धूमिल पड़ गए थे। डायरी में विवरण दर्ज थे पर बिना तारीखों के। कहीं हिन्दी तो कहीं अंग्रेज़ी में लिखावट थी। कहीं नाम लिखे थे तो कहीं स्थानों के नाम दर्ज थे।

माँ अंग्रेज़ी नहीं पढ़ सकती थीं और हिन्दी के अक्षर उनकी बूढ़ी आँखों के फोकस से बाहर हो जाते थे। वे केवल ब्रेल लिपि की तरह उन अक्षरों पर हाथ फेर कर लिखे का अनुमान भर कर सकती थीं। माँ ने अभिभूत होकर एक जगह अनुराग के उस लिखे पर अपनी अँगुलियाँ फिरोई। लिखे शब्दों की संवेदना उनकी अँगुलियों के पोरों में रिस कर मस्तिष्क के तन्तुओं में पहुँच गई थीं।

डायरी...

यहाँ लोग पेड़ के पत्ते खाकर जिन्दा हैं। बच्चे कोई सफेद पदार्थ चाट कर अपनी भूख मिटाते हैं। कभी-कभी ये भी नहीं मिलता है। बेगारी के लिए यहाँ के लोगों की पीढ़ियाँ गुलामी में बँध गई हैं। उन पर कैसे-कैसे अत्याचार होते हैं, लिखे नहीं जा सकते। कोई इनके गृहित जीवन के नरक की कल्पना भी नहीं कर सकता।

माँ ने पूछा है अनुराग से बार-बार उस रात। कैसे होते हैं जुल्म और अत्याचार और कैसे सहते हैं लोग इनको? क्या हैं अनुराग के सपने जिनकी खातिर उसने खुद को निर्वासित कर लिया?

उस रात अनुराग ने अपने सपनों और लोगों के अत्याचार के बारे में बताना शुरू किया था। यह सिलसिला फिर कई रातों तक चला। बीच-बीच में माँ डायरी में लिखे को अपनी बूढ़ी और अशक्त अँगुलियों से सहलाती रहीं। जिस रात ये सिलसिला शुरू हुआ माँ भी उस रात जैसे सुनने को उत्सुक हो उठी थीं। वे उस रात उसके और अपने सपने को तौलना चाहती थीं। अनुराग ने जिसे कर्तव्य समझ कर निवाहा था और जिसकी चर्चा तक से कभी गुरेज किया था आज माँ के सामने उसे कहते बहुत सुख मिला था। एक सिलसिले की तरह उसने माँ को सब कुछ बता डाला। ये जो हालात कहे गए कई रातों तक कहे जाते रहे और आसमान में तारों ने भी गुजारिश की और दारुण दास्ताँ से वाकिफ हुए। भगवान ने भी जो कहीं प्रत्यक्ष नहीं है, एक बड़ी बड़ी ताकत के रूप में सकल ब्रह्माण्ड में व्याप्त है और जो ऊर्जा की तरह अविनाशी और चिरन्तन है अपने नुमाइन्दे सुनने के लिए लगा दिए—सप्तर्षि, ध्रुव, चन्द्रमा, गुरुत्व, अन्तरिक्ष और ब्लैक होल, फैलती सिमटती आकाशगंगाएँ, सकल वनस्पति।

किस्सा सुखू और उसके परिवार का

महाराष्ट्र के एक सुदूर देहात में सुखू और उसके परिवार की दास्ताँ बड़ी हृदयविदायक है। उसके परिवार में उसकी औरत पतिया, दो लड़के सेवक और सुकटा, एक लड़की फटकी और सत्तर साल की बूढ़ी माँ मूसी है। जवान होते लड़के और लड़कियाँ। सुखू के बाप ने कभी गाँव के जमींदार के बाप से तेरह रुपये कर्जा लिया था। वह कर्जा कभी पटा नहीं और ब्याज बढ़ता ही गया। सुरसा के मुँह की तरह। इसे जमींदार ने पटने ही नहीं

दिया। सुक्खू के बाप से सैकड़ों रुपये डकार गया पर कर्जा फिर भी नहीं पटा। ब्याज पटाने के एवज में जवान सुक्खू को जमींदार के घर-खेतों में बँधुआ मजदूर के रूप में काम करना पड़ता था। जमींदार तो चल बसे। उसकी जगह बेटा आ गया। जमींदारी तो सरकार ने खत्म कर दी पर रुतबा कायम रहा। उसमें कोई कमी नहीं आई। बेटा राई रत्ती बाप जैसा। पढ़ा-लिखा। पर संस्कार वही पुराने। इलाके में प्रभावशाली होने के कारण एक पार्टी ने चुनाव का टिकट दे दिया। वह चुनाव जीत गया और इलाका उसकी जागीर हो गई। किसी दूसरे की हिम्मत नहीं थी उसके सामने खड़े होकर जीतने की।

आपातकाल में बँधुआ मजदूरी के उन्मूलन का अभियान चला। सुक्खू और उसके परिवार को मालूम नहीं इसके बारे में और न अपनी स्थिति के बारे में उसे कोई जानकारी। उसे तो बस इतना मालूम है कि उसके बाप ने कर्जा लिया और उसे पटाने के लिए वह जमींदार के घर काम पर लगा है। वह कर्जा पटाने में दता था और अपना तथा अपने परिवार को होम करने में लगा था। कभी गाँव से बाहर निकल कर शहर-कस्बे में गया नहीं कि उसे बाहर की हवा का कुछ गुमान हो पाता। वह जानता भी होता तब भी जमींदार के चंगुल से नहीं निकल पाता। जितने नियम कायदे हैं दूसरों के लिए होंगे। अपने लिए कभी जमींदार बेटे ने नियमों की बेड़ियाँ नहीं डालीं।

सुक्खू को मजदूरी तो कुछ मिलती नहीं थी। बस एक आदमी का भोजन भर जमींदार के घर से मिलता था। दिन में दो बार। काम पूरे परिवार से लिया जाता। उस भोजन में पूरा परिवार सालों जीवित रह कर जी रहा था। कुपोषण और अधपेट रहने से परिवार बस किसी तरह ज़िन्दा रहा। पेट भरने के लिए वे तालाब और कुओं में केंकड़े पकड़ते, जंगल से कन्द मूल खोद कर खाते थे। इलाके में ऐसे सैकड़ों लोग थे जिनको गाँव से बाहर कोई गुजारा नहीं था। सुक्खू की तरह वे ऐसा नारकीय जीवन बिता रहे थे। किसी भी बड़े और खाते-पीते किसान से कर्जा लेकर या अधिया बटाई में खेत लेकर वे ऐसा नारकीय जीवन जीने के लिए मजबूर थे।

हमें मालूम हुआ और इस नरक से उन दीन-हीन लोगों को मुक्त कराने का संकल्प लिया गया। पहले तो ऐसे डेढ़ सौ लोगों के नाम लिखकर जमींदार बेटे और दूसरे सम्पन्न किसानों और साहूकारों को चिट्ठी भेज कर चेताया गया कि वे इन सब को मुक्त कर दे और उनको स्वतन्त्र जीवन जीने दे। उनके श्रम की उचित मजदूरी उन्हें दे। पर जमींदार बेटे और कुछ किसानों ने चिट्ठी की अवज्ञा की। मजबूरन फिर सीधी कार्यवाही का निर्णय लेना पड़ा।

फिर क्या किया तुम लोगों ने- माँ पूछती हैं।

सुक्खू और उस जैसे दूसरे मजदूरों को पहले चेताया फिर उनको संगठित करके जमींदार बेटे और कुछ किसानों के काम छुड़ा दिए गए। कोई काम करने नहीं गया। पहले सब कर्जा माफ करो और हर आदमी के हिसाब से मजदूरी का भुगतान करो। गाँवों में जमींदार बेटे और कुछ बड़े किसानों और मजदूरों के सिवा रहता ही कौन था। दो दिन में ही जमींदार बेटे और किसानों को समझ में आ गया। उनके जानवर भूखे खड़े थे और खेतों में फसल पकी खड़ी थी। उसे देखने-भालने वाला कोई नहीं था। एकाध किसी किसान ने उन पर

जुलम भी टाए और उनको धमकाने की कोशिश की। हमने उन्हीं के तरीके से मोर्चा बाँध लिया मज़दूरों की रक्षा के लिए। अगर गोली चलाओगे तो उसका जवाब गोली से ही मिलेगा। हाथ-पाँव तोड़ोगे तो वही हाल उनका भी किया जाएगा। दस दिनों के भीतर ही ज़मींदार बेटे और दूसरे किसानों को झुकना पड़ा और सभी मज़दूरों का कर्जा माफ करना पड़ा। वे हरेक को अलग-अलग मज़दूरी देने के लिए राजी हो गए। भविष्य के लिए भी उन्होंने हामी भरी।

पर बाद में—माँ जिज्ञासु हो उठी थीं—वे फिर अत्याचार कर सकते थे।

माँ, ज़मींदार बेटे और दूसरे बड़े किसानों को मज़दूरों की एकता की ताकत मालूम हो चुकी थी और मजदूर भी जाग चुके थे। वे जान गए थे कि अत्याचारी को कैसे झुकाया जा सकता है। वे अपने हक के लिए कुछ भी करने को तैयार हो चुके थे। इस काम में बहुत मेहनत और समय लगा। फिर भी हम काफी हद तक कामयाब रहे। हम लोग उनके आसपास ही थे जंगलों और पहाड़ों की कन्दराओं में। जब जरूरत होती हम उनके साथ खड़े हो सकते थे। उनके जाग उठने से आसपास के इलाकों में भी कुछ-कुछ जागृति आ गई थी। अब वैसा शोषण करना जैसा करने के वे अभ्यस्त हो चुके थे और इन्साफ की आवाज को दबाना कठिन हो गया था। हमने उनको सशस्त्र संघर्ष के लिए भी तैयार किया। वे अपनी रक्षा खुद कर सकें और किसी डर और आतंक से डरें नहीं।

उस दिन भी माँ डायरी खोले किसी पन्ने पर अपनी अशक्त अँगुलियाँ फिरों रही थीं।

डायरी...

इतने भोले हैं छोटे किसान कि उनको मालूम ही नहीं कि पट्टा क्या होता है, किसके नाम है? वे जैसे अन्तहीन शोषण के दुष्क्रम में पिसने के लिए तैयार रहते हैं। अपनी दुर्गम और कठिन परिस्थितियों को बदलने के लिए कभी तैयार नहीं होते। जो है उनकी नियति का अंग बन जाता है... डायरी में लिखा है।

आज रात वे फिर किस्सा सुनने के लिए तैयार हैं। उनकी उत्सुकताएँ जैसे एक शगल में बदलती जा रही हैं।

किस्सा एक गाँव में बदनीयती का

मध्य प्रदेश के एक पिछड़े इलाके के एक गाँव का किस्सा है यह। एक बड़े भू-पति की ज़मीनें आसपास के कई गाँवों में फैली हुई थीं और गाँव के वाशिनदे किसान, मज़दूर, बुनकरों को यही मालूम था कि ये सारी ज़मीनें उस बड़े भू-पति की ही हैं। वह बड़ा भू-पति जिसको जब चाहे ज़मीनों से बेदखल कर देता और दूसरे को जोतने-बोने को दे देता। फसल कटने के समय उसका बहुत थोड़ा हिस्सा उस किसान के पास छोड़कर बाकी फसल उठवा ले जाता था। गाँव वालों के सामने एक और मुसीबत थी, वे सभी के सभी उसी भू-पति की जमीन पर बसे हुए थे। इस वजह से वह भू-पति जिससे नाराज़ हो जाता उसका झोपड़ा वहाँ से उखाड़ देता था या उसमें आग लगवा देता था।

चूचूचूचू—माँ के मुँह से निकलता है अनायास संवेदना में डूबा यह उद्गार।

माँ, वहाँ कोई भी उस भू-पति के खिलाफ आवाज उठाने की हिम्मत नहीं जुटा पाता था। उससे रार मोल लेकर वे बेचारे जाते तो जाते कहाँ। उन दिनों हमारा मुकाम शहडोल के जंगलों में था। हमारे पास ऐसी शिकायतें पहुँचीं। पहले तो विश्वास ही नहीं हुआ कि पूरे इलाके में केवल उस भू-पति की जमीनें हों और कोई सरकारी या निजी भूमि न हो। पटवारी बताने को तैयार नहीं था। मालूम पड़ा कि वह इलाके में जाता है तो उस भू-पति की कोठी में ही ठहरता है। कोठी जो एकड़ भर में बनी होगी और उसका परकोटा मील भर से दिख जाता था। मस्त हाथी की तरह भय फैलाती खड़ी थी। आसपास कोई मकान पक्का तक नहीं बना था। बताया गया कि इसके लिए भी भू-पति की अनुमति की जरूरत होती है।

तब तहसील के एक मुलाजिम ने इस अन्याय के परिहार में हमारी सहायता की, जो हमारी तरह ही छोटे तबके के लोगों का हिमायती था। उसने सब रिकार्ड रिकार्ड रूम से निकलवा कर दिखाए। तब मालूम पड़ा कि ऐसे हरेक गाँव में दो तिहाई भूमि पट्टे की थी और शेष भूमि सरकारी और उस बड़े भू-पति की थी। पट्टे की भूमि के मालिक वही किसान थे जिनको भू-पति अहसान करके जमीन जोतने बोनो के लिए देता था और फसल के बड़े हिस्से को बलात् ले जाता था। अपनी ही जमीन पर किसान स्वामी होते हुए भी किराएदारी कर रहे थे।

इसका सबसे बड़ा कारण जानती हो माँ क्या था—अशिक्षा। हमने पता लगाया तो पता चला कि सात गाँवों के बीच एक पाठशाला थी और वहाँ भी शिक्षक महीने दो महीने में आता था, साइकिल से। वह भू-पति नहीं चाहता था कि गाँवों में कोई शिक्षित होकर उसे बाद में चुनौती देने लगे। शिक्षक को भी उसने डरा-धमका रखा था इसीलिए वह भी औपचारिकता निबाहने के लिए गाहे-बगाहे आ जाता था।

अब अगला काम था किसानों, बुनकरों को जानकारी देना कि जिस ज़मीन पर वे किराएदारी कर रहे हैं वह तो उनकी निजी भूमि है और उनकी उगाई फसल उनकी अपनी है और किसी को उनको फसल देने की जरूरत नहीं है। दस गाँवों के लिए हमने चार समूह बनाए। गाँव वालों को एक जगह गाँव से दूर बुलाया गया। जब उनको बताया गया कि ज़मीनें तो उनकी निजी हैं और जहाँ जिन ज़मीनों पर वे मकान बनाए हैं, वे या तो सरकारी हैं अथवा उनकी निजी। बहुत कम ज़मीनें भू-पति की हैं। उनको पहले तो विश्वास ही नहीं हुआ और वे यह बात मानने को तैयार नहीं हुए। तब कोशिश करके उनको उनकी भूमियों का खसरा दिलाया गया। कलेक्टर के यहाँ अर्जी दिलाई गई। तब उनको कहीं विश्वास हुआ। उनको इतनी-सी बात समझाने में बड़ी मशक्कत करनी पड़ी।

वो भू-पति मान गया—माँ का प्रश्न था।

वो क्यों मानने चला। उसकी सत्ता और मनमानेपन को चुनौती मिल रही थी। उसने अपने आदमियों से हमें घिरवाने की कोशिश की, गाँवों की गलियों में वह स्वयं और उसके आदमी हथियार लिए धमकाते घूमते रहे कि अगर कोई हमारे बुलाने पर गया तो जान से हाथ धो बैठेगा। पहले तो गाँव वाले डरे और कई बार ऐसा हुआ कि हम दिन भर

गाँव वालों का इन्तजार गाँव के बाहर किसी मन्दिर या पेड़ के नीचे बैठे करते रहे और कोई नहीं आया। भू-पति ने पुलिस में हमारे खिलाफ रिपोर्ट भी कर दी कि कुछ हथियारबन्द लोग गाँव वालों को हिंसा करने के लिए उकसा रहे हैं। पुलिस ने भी उस भू-पति का ही पक्ष लिया। पुलिस हमारी तलाश में लग गई। पुलिस ने भी गाँव वालों को डराया। हम लोगों के खिलाफ गाँव में एक भी गवाही नहीं मिली पर पूरे क्षेत्र में प्रचार किया गया कि क्षेत्र में नक्सली घुस आए हैं।

इन गाँवों की समस्या हमारे लिए चुनौती बन गई थी माँ। डर के कारण कोई बुलाने पर आता नहीं था। एक तरफ वह भू-पति उनको डरा रहा था और दूसरी ओर पुलिस। इसके बाद भी गाँव वालों के भीतर सुगबुगाहट पैदा करने में हम सफल हो गए थे। पुलिस से बचने के लिए कुछ दिनों के लिए हम सब लोग भूमिगत हो गए। तीन महीने बाद फिर से काम शुरू हुआ। अबकी बार हर गाँव के लिए एक समूह बनाया गया। बजाय गाँव के बाहर बुलाने के गाँव के भीतर ही गाँव वालों को बुलाने का निर्णय लिया गया। रात के दस बजे सन्नाटे में समूह गाँव में घुसता था और ढिबरी की रोशनी में बैठकें होती थीं। दो-तीन माह में हम लोग गाँव वालों का विश्वास पूरी तरह जीत पाए और उनको समझा पाए कि अपने खेतों की फसल किसी को नहीं देना है। किसी तरह उन लोगों को अगली लड़ाई के लिए तैयार कर पाए। बताया कि बिना संघर्ष किए कुछ मिलने वाला नहीं है। उन सबसे यह कबूल करवाया गया कि आगामी कृषि वर्ष में अपने खेत में अपना स्वामित्व मान कर खेती करेंगे और भू-पति से नहीं पूछेंगे। उसे फसल का कोई हिस्सा न देंगे।

ऐसा नहीं था माँ कि भू-पति को हमारी किसी गतिविधि की जानकारी नहीं मिली। पर वह उन्हें रोकने में कामयाब नहीं हो पाया। उसके बुलाने पर गाँव वालों ने जाना बन्द कर दिया। पहले तो यह कि उसे मालूम था कि हम लोग हथियारबन्द हैं और दूसरे प्रायः रात के अँधेरे में अपनी गतिविधियाँ चलाते हैं। ये ऐसे लोग हैं जिनको अपने प्राणों की परवाह नहीं है। प्राणों का भय उसे भी था बल्कि कहीं ज्यादा था। उसे दोहरा भय था। एक तो हम लोगों से और दूसरा गाँव वालों को जमीनों के बाबत जानकारी हो जाने से। इस काम में तकरीबन डेढ़ साल का समय लग गया। भू-पति बीच-बीच में गाँव वालों को तंग करता रहता था और उनको भय दिखाता रहता था। पर हमने गाँव वालों को इतना जागृत कर दिया था कि वह भू-पति उनका ज्यादा कुछ नहीं बिगाड़ सकता था। जब अगला जुताई का समय आया तो गाँव के लोगों ने अपने-अपने खेतों में बिना भू-पति से पूछे जुताई शुरू कर दी। भू-पति बस दूर से देखता भर रहा। उसकी हिम्मत किसी को रोकने की नहीं हुई। बाद में मालूम पड़ा कि वह भू-पति निराश होकर शहर में ठेकेदारी करने लगा है। तो माँ ऐसे हालातों में हम लोग काम करते हैं। हम तो यही चाहते हैं कि अन्याय के ये स्रोत न रहें और हरेक हो अपना हक मिले।

उस दिन सुबह की पहली गाड़ी से माँ को देखने करन सबसे बड़ा बेटा आ गया था। उनका माँ से मिलना भी तीन साल बाद हो रहा था। जबकि उनके पास अपनी नौकरी की चिन्ता के अलावा न तो कोई मिशन था और न कोई सपना पूरा करने की धुन। पर सबसे ज्यादा

चिन्तित वही लग रहे थे। जैसे दुनिया भर का बोझ अपने कंधों पर उठाये हुए हैं। उनका ब्लड प्रेशर अक्सर उखड़ा रहता था। कुछ-कुछ दिल के मरीज थे। भोजन कम करते थे दवा की गोलियाँ ज्यादा खाते थे। वे अनुराग से दो साल बड़े थे पर देखने में दसियों साल बड़े दिखते थे।

कामरेड के आने पर वे बड़े प्रसन्न थे कि उसके आने से माँ की सेहत में आशातीत सुधार हुआ है।

आते ही कामरेड से पूछ बैठे- अभी तो रुकोगे न?

अनुराग समझ गया कि वे उसको लेकर चिन्तित हैं कि कहीं यह बीच में छोड़कर न चला जाए तो माँ की चिन्ता फिर सिर पर सवार हो जाएगी।

अभी तो फिलहाल हूँ—उसने भी गोलमाल—सा उत्तर दिया।

करन को इस जवाब से सन्तोष नहीं हुआ। पर अभी फिलहाल तो अनुराग माँ के पास था। करन दो दिन रुके और कामरेड को माँ के इलाज के लिए काफ़ी रुपये देकर चले गए। जैसे अपनी जिम्मेदारी से उनको निजात मिल गई हो। उनके चेहरे पर सन्तोष की जड़ता छा गई थी। अनुराग ने उनके सामने खुद को असहज पाया था।

वृन्दावन के महन्त तो मन्दिर से कब के रुखसत हो गए थे पर माँ अब नियमित रूप से मन्दिर जाने लगी थीं। कभी लछमी तो कभी कामरेड, अक्सर कामरेड ही उनको वापस घर ले आता था। उनको मन्दिर में अपने जैसी बूढ़ियाँ मिल जाती थीं। उनसे सत्संग हो जाता था और वे कामरेड के बारे में बताना नहीं भूलती थीं। अब तो कामरेड की बताई बातें भी वे उनको बता देती थीं कि उनका बेटा जंगल में रहता था और गाँवों में कैसे कौतुक करता रहता था। इस तरह माँ कामरेड की लम्बी अनुपस्थिति की भरपाई कर लेती थीं।

एक दिन फिर माँ की अँगुलियाँ डायरी के किसी खुले पन्ने पर दस्तक दे रही थीं।

डायरी...

कितना असुरक्षित होता है, एक आदिवासी और छोटे तबके के आदमी का जीवन। कोई भी गाँव का सबल और सम्पन्न उनको मार देता है। पुलिस रिपोर्ट नहीं लिखती। कभी-कभी पुलिस ही किसी शिकायत या शक के बिनाय पर उनकी हत्या करने से नहीं चूकती। इसकी शिकायतें होती हैं और बाद में मामला ठण्डे बस्ते में दफना दिया जाता है।

माँ को पता नहीं क्या सुख मिलता है पुराने मटमैले कागज़ के पृष्ठों में लिखे पर अपनी अँगुलियाँ फिराने से।

वह बरसात की ही कोई रात थी जिसका ज़िक्र उस रात कामरेड माँ के सामने कर रहा था। शाम से ही पहले हल्की टिपर-टिपर शुरू हुई फिर बूँदों ने तेजी और बड़ा आकार पकड़ लिया और इसके साथ ही पानी बरसने का शोर बहुत बढ़ गया। रात के गहराते अँधेरे में जब जीवन की गतिविधियाँ मन्द पड़ गई थीं वर्षा ने ज्यादा शोर मचाना शुरू कर दिया था।

माँ अपने कमरे में अपनी चारपाई पर लेटी थीं और कमरे के दरवाज़े के सामने एक खाट डाले कामरेड लेटा था। आँगन में बरसात की झड़ी लगी हुई थी। हल्की फुहारें उसे

भिगो रही थीं। इसलिए उसने दरी के बजाय चटाई खाट पर बिछा रखी थी। माँ दो बार आग्रह कर चुकी थीं कि वो भीगे नहीं और अपने कमरे में चला जाए। पर कामरेड पर जुनून सवार था।

उसने कमरे की ओर शरीर को घुमा लिया। हाथ का टेक बनाकर सिर ऊपर उठा लिया और कहने लगा—

किस्सा जिन्दा दफन करने का

तकरीबन पन्द्रह साल पहले की बात है। उस शाम तेज बारिस हो रही थी। इतनी तेज कि नाले उमड़ने लगे थे और रात उतरते ही हवा के बढ़ते वेग ने बारिस को डरावना बना दिया था। जब समीप के गाँव से आए एक ग्रामीण ने जो जंगल में हमें खोजता आया था बताया कि यहाँ से तीन कोस दूर गाँव नरियाबिल में एक आदिवासी युवक मूला को जमींदार विक्रम ने मूला की औरत गन्धी और गाँव के लोगों के सामने जिन्दा जमीन में दफन कर दिया है।

माँ, सुन रही हो। जिन्दा दफन कर दिया था उस आदिवासी युवक को गाँव के जमींदार ने। अब ऐसी खबर सुन कर वहाँ जंगल में रुक कर सुबह का इन्तजार करने का कोई अर्थ नहीं था। तय किया गया कि अभी इसी वक्त उस गाँव नरियाबिल की ओर कूच कर दिया जाए। रास्ता दिखाने के लिए वह ग्रामीण साथ में था ही। मैं, कामरेड बिजन और जगमोहन ऐसी बरसात में निकल पड़े। रास्ते में कितने ही नालों को जो उस रात प्रचण्ड वेग से बह रहे थे हमने पैदल या तैर कर पार किया। तीन घण्टे बाद गाँव में पहुँच पाए।

एक टापरे में गन्धी अध बेहोश-सी मिली। उसके मुँह से आवाज़ ही हादसे की हैवानियत की वजह से नहीं फूट रही थी। आस-पास के टापरे वाले दहशत के कारण जिन्होंने इस दृश्य को देखा था कुछ नहीं बोल रहे थे। आधी रात के लगभग बहुत समझाने-बुझाने पर वे कुछ बोलने लायक हुए। जो कुछ बताया गया वह बहुत डरावना था।

एक दिन पहले मूला को जो जमींदार के यहाँ बँधुआ था उसे गाँव से दस कोस दूर जहाँ उस जमींदार की पथरीली और ऊबड़-खाबड़ जमीन थी देखभाल के लिए भेजा गया। वहाँ कोई फसल नहीं उगी थी पर मूला को उसकी औरत से दूर करने के लिए भेज दिया। यह जमींदार की चाल थी। मूला का गौना अभी दो माह पहले ही हुआ था। इसका कोई विरोध मूला कर नहीं सकता था। वह जानता था कि जमींदार इन्कार करने पर अपने लठैतों से उसे पिटवाएगा।

बीती रात गन्धी को जमींदार ने रात के समय बुलवाया। पर गन्धी नहीं गई। वह जमींदार की नियत को ताड़ गई थी। पर ऐसा हो नहीं सकता था कि जमींदार खामोश बैठ जाता। उसने अपने आदमी गन्धी को पकड़वाने के लिए उतनी रात को भेजे। गन्धी अपने टापरे में नहीं मिली। वह पाँच टापरे छोड़ अपनी चचेरी बहिन रूपा के टापरे में छुप गई थी। सबेरे मूला को सन्देश भेज कर बुलवाया गया। पूरा वाक्या सुन कर नया खून जोश खा गया। वह सीधे जमींदार के पास चला गया। मूला के बाप और महतारी ने उसे बहुत समझाने की कोशिश की लेकिन वह माना नहीं।

पहले तो जमींदार ने उसे बँधवा कर उसकी पिटाई कराई पर जब इतने पर भी मूला शान्त नहीं हुआ और पुलिस-कचहरी की धमकी देने लगा तो फिर जमींदार ने अपनी हवेली के पिछवाड़े एक बड़ा गड्ढा खुदवाया और मूला के बाप-महतारी और गन्धी के सामने टोले वालों को बुलाकर जिन्दा ही मूला को जमींदोज कर दिया।

हमने उतनी ही रात बरसते पानी में कामरेड बिजन के साथ मूला के बाप और टोले के तीन चार लोगों को दस मील दूर पुलिस थाने में रपट लिखवाने के लिए भेज दिया। हमें मालूम था कि पुलिस जमींदार के खिलाफ इतने जघन्य अपराध के बाबजूद रपट नहीं लिखेगी। उल्टे पुलिस वालों ने मूला के बाप और साथ गए लोगों को वहीं थाने में बैठा लिया। कामरेड बिजन ने इस पर वहीं से 'पार्टी हेडक्वार्टर' से सम्पर्क किया। इस घटना के छः माह बाद पुलिस गाँव में आई। जमींदार इस बीच फरार हो चुका था। गाँव वालों और घर वालों की उपस्थिति में जहाँ मूला को जिन्दा दफनाया गया था खुदाई शुरू हुई। कुछ ही देर में मूला का कंकाल बरामद कर लिया गया। कंकाल जाँच के लिए डॉक्टर को सौंप दिया गया।

हम लोगों ने सोचा कि अब तो जमींदार पुलिस द्वारा पकड़ ही लिया जाएगा, उसके ऊपर हत्या का मुकदमा चलेगा। घर वालों की गवाही होगी और उसे फाँसी या उम्र कैद की सजा हो जाएगी। फिर एक दिन उस गाँव से लौटते जब पता लगाया तो पता चला कि मूला की औरत अपने मायके चली गई है और मूला के माँ-बाप जमींदार के डर से कहीं दूसरी जगह बसेरे के लिए चले गये हैं। जमींदार अपनी हवेली में मौजूद था। जब हमने पुलिस थाने में सम्पर्क किया तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा।

जानती हो माँ क्या हुआ। जमींदार के खिलाफ हत्या का मुकदमा खारिज हो गया। डॉक्टर ने अपनी रिपोर्ट में लिख दिया था कि जो कंकाल मिला था वह बैल का कंकाल था। जमींदार ने डॉक्टर को खरीद लिया था और डॉक्टर का जमीर पूरी तरह मर गया था। तभी तो उसने ऐसी झूठी रिपोर्ट दी। इस प्रकार उस जमींदार का हत्या के बावजूद कुछ नहीं बिगड़ा। हम लोगों ने बाद में मूला के माँ-बाप का पता लगाने की बहुत कोशिश की पर उनका पता नहीं चला। पता नहीं उनको भी मूला की तरह जमींदार ने कहीं जिन्दा न दफना दिया हो।

एक दिन माँ ने फिर डायरी खोल ली है।

डायरी...

शोषण और अत्याचार की कहानी खतम नहीं होती। हर बार जमींदार और ठेकेदार ही जीतते हैं। हम लोग छोटे तबके के अशक्त और लाचार लोगों को जगाने की कोशिश में लगे रहते हैं। पर सफलता के आसार कम ही रहते हैं। क्योंकि पुलिस और प्रशासन इन गरीब और वंचित लोगों का साथ नहीं देता है।

अनुराग ने उस रात फिर बात आगे बढ़ाई।

शाघद दो साल के अरसे बाद मूला की पत्नी गन्धी का सुराग लगा था। वह एक कस्बे में सिलाई सेंटर चला रही थी। कुछ सामाजिक संगठनों से उसके सम्पर्क बने हुए

थे। उन संगठनों की भेजी गई बार-बार की शिकायतों का कुछ असर हुआ था। डॉक्टर का तत्काल उस इलाके से तबादला कर दिया गया था और गाँव वालों की गवाही से उस जमींदार के खिलाफ मुकदमा चल रहा था। जमींदार गिरफ्तार भी हुआ था। पर पैसे और वकीलों की मदद से उसे जमानत मिल गई थी।

ऐसी-ऐसी घटनाएँ हैं माँ कि देख सुन कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। जमींदारों, ठेकेदारों की कोयला की भट्टियाँ चलती हैं लोहा गलाने के लिए। जब कभी भट्टियाँ बिगड़ जाती हैं तो आदिवासियों को जो उनके यहाँ काम पर लगे होते हैं उनमें से एकाध को उन कोयला भट्टियों में झोंक दिया जाता है।

किस्सा शेर के शिकार के लिए जिन्दा बच्चे के चारे का

एक और वाक्या है माँ कि एक जमींदार को शिकार का बहुत शौक था और उसके यहाँ जो भी मेहमान आता था उसको वह शिकार के लिए अवश्य ले जाता था। किसी विशिष्ट मेहमान के आने पर शेर के शिकार का आयोजन किया जाता था और चारे के रूप में किसी आदिवासी लड़के को रस्सी से बुने जाल में बन्द कर किसी पेड़ से इस ऊँचाई तक जमीन से ऊपर लटका दिया जाता था कि जंगली जानवर की उछाल से दूर रहे। अमूमन तो शेर के चारे के पास पहुँचने से पहले ही उसे मार दिया जाता था। पर कभी-कभी शेर चारे का शिकार कर लेता था और तब जमींदार लड़के के मारे जाने पर उसके बाप को मामूली-सा मुआवजा देकर शान्त कर देता था। एक लड़के के मारे जाने पर दूसरा लड़का तलाश लिया जाता था। इस आयोजन के लिए जमींदार के घर आने वाले मेहमानों की कोई कमी नहीं थी और साल भर में दो या तीन ऐसे हादसे हो ही जाते थे।

लड़के के घर में उसकी मौत का मातम कुछ दिनों तक मनाया जाता था फिर पेट के लिए कसमकस की दौड़ में सब कुछ भुला दिया जाता था। क्योंकि सबसे बड़ी जठराग्नि होती थी जो सब कुछ जला के राख कर देती थी और उसकी दहक में जिन्दगियाँ झोंक दी जाती थीं और होठों से उफ तक नहीं निकलने दी जाती थी।

ऐसा ही एक अभागा बाप हमारी जानकारी में आया था, माँ। वह उसका अकेला लड़का था। मचान पर बैठे जमींदार और उसके खास मेहमान को जंगल की ठण्डी हवा के झोंकों ने उनींदा कर दिया था, और शेर बेखौफ आगे बढ़ता चला आया था। लड़का भी डर भूल कर मोटे रस्से के बने जाल में शायद सो गया था अथवा शेर को देखकर उसकी घिग्घी बँध गई थी और वह कुछ बोल नहीं पाया था। रस्सी के जाल के कारण शेर लड़के को घसीट कर तो नहीं ले जा पाया था पर उसका एक हाथ चबा गया था और पंजे की भरपूर ताकत ने लड़के का काम तमाम कर दिया था। लड़के के बाप को मुआवजा के बतौर केवल तीन सौ रुपये जमींदार ने दिए थे।

कामरेड घनश्याम ने उससे पूछा—तुम ऐसे खतरनाक काम के लिए लड़के को क्यों जाने देते हो? जबकि अमूमन चारे के रूप में पाड़ा या बकरी काम में लाते हैं।

वह आदिवासी जिसका नमा रिड़कू था, बोला— साब! हमें तो पता ही नहीं चलता कि जमींदार कब लड़के को अपने साथ लेकर गया है। सबेरे ही उसे ले जाकर जंगल में

बनी अहरी में छोड़ दिया जाता है। कुछ पैसों का लालच रहता है। जमींदार की बन्दूक उठाने का सुख और गर्व भी लड़के को रहता है। फिर लड़कों को रोमांच भी रहता है जंगल का।

तुम्हें पता चलता है तो मना क्यों नहीं करते जमींदार को?

साब उनकी प्रजा। कैसे मना कर सकते हैं। जीने न देंगे। अपनी जमीन से बेदखल कर देंगे। पीटेंगे और कहीं दूसरी जगह काम भी तो नहीं मिलता है। पूरे इलाके का यही हाल है।

रिड़कू को किनारे कर हमने जमींदार से बात की और उसकी इस अमानवीयता के लिए उसे धिक्कारा भी। पर उसने साफ इन्कार कर दिया। हमारा उससे पूछना उसे रिड़कू की हेकड़ी लगी। उसके साम्राज्य को जैसे चुनौती मिल गई थी। वह तिलमिला उठा था। उसने पहले ही झटके में इन्कार कर दिया। हम जानते थे माँ कि पुलिस में रिपोर्ट करने से कोई फायदा होने वाला नहीं है। पहले तो पुलिस जमींदार के खिलाफ रिड़कू की रपट ही न लिखेगी और अगर दबाव और डर में लिख भी ली तो कोई कार्यवाही शायद ही करे।

इसलिए जमींदार की शिकायत पहले तो जंगल विभाग में ही कराई गई कि शेर और दूसरे जानवरों का अवैध शिकार जमींदार कराता है। उसके घर से ऐसे शिकार किए जानवरों की खालें बरामद की जा सकती हैं। दूसरी शिकायत मानवाधिकार आयोग को की गई। इसके बाद जमींदार के होश ठिकाने आए। जंगल वालों ने उसकी हवेली में छापा मार कर हिरण, नीलगाय और एक शेर की खाल बरामद कर ली। सींग और दाँत मिले। एक गैर लायसेंसी बन्दूक भी पकड़ी गई। उसे तीस हजार रुपये रिड़कू को बतौर मुआवजा भी देने पड़े। इसका असर समाज के दूसरे लोगों पर भी पड़ा। उन्होंने अपने लड़कों को शेर के चारे के लिए भोजना बन्द कर दिया।

हमने वहाँ स्कूल खोलना चाहा पर पुलिस और जमींदार के नकारात्मक रवैए के चलते इसके लिए कठिन संघर्ष करना पड़ा। जमींदार और पुलिस स्कूलों और किसी भी प्रकार की शिक्षा और स्वरोजगार इकाइयों को बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं थे। उनके आतंक के साम्राज्य को इससे चुनौती मिलती थी और मनमानी का जो दुष्प्रक्र उन्होंने चला रखा था, उसके बन्द हो जाने या कम हो जाने कर डर था। वे जिस प्रकार दमन चला कर अपनी सत्ता जो उन वंचित तबकों पर बनाए रखे थे वह ध्वस्त हो जाती।

डायरी खोल कर उसमें लिखे अक्षरों पर हाथ की अँगुलियों को फिरोना जैसे माँ का शगल हो गया है। जब अनुराग उनकी आँखों के सामने नहीं रहता वे डायरी खोल लेती हैं।

डायरी...

आदिवासी दलित एक जानवर से भी गया बीता जीवन बिताते हैं। बहुत से इलाकों में एकदम गरीब, दरिद्र, हरिजन और आदिवासी ही मजदूरी के लिए मिलते हैं। तरह-तरह के दास हैं— कमिया, सेवकिया, चरवाहा, हलवाहा, जानवर। ये अपने मालिक की सेवा कई रूपों में करते हैं। अपने मालिक के जानवर चराते हैं, उनके खेतों में हल जोतते हैं, फसल काटते हैं, घर द्वार से सम्बन्धित अनगिनत काम करते हैं। जो दास कुटुम होते हैं उनकी औरतें और बच्चे भी भू-पति के यहाँ काम करते हैं। इनके घर की जवान औरतों पर भू-पति

का अधिकार होता है। मजदूरी पूरा परिवार करता है, पर मालिक के घर से खाना केवल एक आदमी को मिलता है। अब एक आदमी के खाने से पूरे घर का गुजर-बसर कैसे हो। इसलिए जंगल से लकड़ियाँ चुन-चुन कर बेचते हैं। जंगल में कन्द और मूल खोदते हैं और फल बीन कर लाते हैं और उसे खाकर गुजर-बसर करते हैं। बस किसी तरह जिन्दगी जीते साँस लिए जाते हैं। ये जौ, लुकमा, सत्तू जो मिल गया उसे खाकर गुजारा करते हैं। कितना ही औरतों के अधिकारों और बराबरी की बात की जाए पर इन इलाकों में ये बातें एकदम बेमानी हो जाती हैं।

ये लोग दूसरी जगह जाकर काम नहीं कर पाते। जंगल, खदान और कारखाने में कहीं इनके लिए नौकरी नहीं जुटती। इसलिए पेट पालने के लिए गुलामी करने लगते हैं और यह गुलामी पीढ़ी दर पीढ़ी चलती है। ये काम से भागना भी चाहें तो इनके मालिक इनको पकड़वा कर बुरी तरह पिटाते हैं। जीवन के संस्कार और पेट की आग बुझाने के लिए ये कर्जा लेते हैं और ये कर्जा एक जीवन में तो नहीं पटता है। वह कर्जा इनकी औलादों को चुकाना पड़ता है बेगारी करके।

इनके ऊपर जो अत्याचार होते हैं और जो अत्याचार के तरीके अपनाए जाते हैं उन्हें सुन कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। पेड़ से बाँध कर उल्टा लटका दिया जाता है। कोड़ों से पीटा जाता है। इनके मुँह में पेशाब की जाती है। जलती धरती पर नंगे पाँव खड़ा रहने को मजबूर किया जाता है। कोई रास्ता ही इनके लिए नहीं बचता। जैसे सब रास्ते बन्द हैं इनके लिए। बस सतत गुलामी किए जाओ।

माँ को सुनने की चाह लग गई है। जब भी अनुराग फुरसत में होता है वे अपने कामरेड बेटे के मुँह से पीड़ा की दुनिया की दास्ताँ सुनने कि लिए तत्पर हो जाती हैं। इन पीड़ाओं को केवल अनुराग जैसा कोई भुक्तभोगी ही जान सकता है और दूसरा कोई तो कल्पना भी नहीं कर सकता। उसकी कल्पना की सरहदें आ जाती हैं। संवेदनाएँ औंधे मुँह नीचे गिर पड़ती हैं। माँ के चेहरे पर जो लुनाई इन दिनों आ गई है उसमें ये दास्ताँ सुन कर दरारें आने लगी हैं। शायद अकेले में वे ईश्वर से प्रश्न करती होंगी—ये कैसी दुनिया तूने बनाई है, जहाँ कोई बाहरी आपदा नहीं है। अपने ही बन्दों की दहशतें और हरकतें उनके जीवन को दूभर बनाए हुए हैं।

कभी-कभी तो माँ सो जाती हैं सुनते-सुनते और सितारों की भी आँखें झकने लगती हैं और कभी-कभी हवा एकदम शान्त पड़ जाती है, हैरत में भर कर। पर कामरेड के भीतर तो एक आग लगी है जो उसे थमने नहीं देती है। उनके दर्द, उनकी पीड़ाएँ उसे टीसती हैं। उनकी तकलीफें उसे सुइयों-सी छेदती हैं। उनकी गुलामी उसे जकड़ती है। वह कैसे सोए? पच्चीस साल उसके निरन्तर जागने के प्रमाण हैं। लम्बे सालों का रतजगा। एक निरन्तर बेचैनी ने उसे जगाए रक्खा है। अपने जीवन के सुख और सुविधा को भूल गया है। माँ की देखभाल के लिए आना उसके उन्हीं रतजगों का विस्तार है। पार्टी ने आदेश दिया—जाओ और अपनी माँ की देखभाल करो। उनका अन्तिम समय सुख से बीते आज तुम्हारा यही कर्तव्य है और यही है प्रतिबद्धता। तुम्हें अपने काम और सपने से विलग नहीं किया गया है। केवल एक चेंजओवर है कुछ समय के लिए। जो जुड़ाव दूसरों के

लिए और समाज के लिए है, अपनी माँ के लिए तो वह जुड़ाव प्राथमिकता पर रहेगा। जाओ कामरेड अपनी माँ को देखो। अभी तक तुमने दूसरों को देखा, दूसरी मिट्टी, हवा और पानी को देखा। आज अपने घर को देखो, ममता की उस गन्ध को सूँघो जिससे सालों तुम अलग रहे एक मिशन की खातिर। अब उस सुगन्ध से तरोताजा हो जाओ और फिर अपने सपने की तरफ लौटो निर्द्वंद्व और निशंक।

कई रातों देर तक वह आँगन में टहलता रहा है माँ के सो जाने के बाद। उसके कानों में जंगल आवाज़ देने लगता है। वह उस आवाज़ को अनसुनी नहीं करना चाहता बल्कि और भी सचेत होकर उस आवाज़ को सुनने लगता है। वह जंगल का आदमी है। जंगल उसे बुलाता है। माँ की सेवा से छूट कर वह वापस जंगल लौट जाएगा। तो क्या उसे जल्दी है? क्या वह माँ की मौत का इन्तज़ार कर रहा है? ये प्रश्न उसके अन्तर को कुरेदते हैं। पहले फुसफुसाहटों में फिर तेज़ स्वर में। वह कहता है—नहीं! नहीं! एकान्त तपिश में बदल जाता है।

वह क्यों माँ की मौत चाहेगा। उसे कोई जल्दी नहीं है। वह तो परिणति की बात कर रहा था। वह तो उनकी सेवा के लिए आया है। माँ की मौत की कामना करके अपनी सेवा की इतिश्री करने नहीं आया है। माँ की दिनों दिन ठीक होती सेहत ने उसे चिन्ता में नहीं डाला है और न बीतते समय ने उसे झिंझोड़ा है। वह तो जो सामने है उसकी चिन्ता में लगा है। वहाँ जंगल में रहते यहाँ माँ चुपचाप गुजर जाती तो वह एक दो दिन के लिए उदास हो जाता, बस। वह माँ की ममता को झटक कर और एक सुरक्षित कैरियर छोड़कर यहाँ एक सपना पूरा करने के लिए आया था। सपने आसानी से तो पूरे नहीं होते। पूरी उम्र खप जाती है, पूरा जीवन लग जाता है। फिर यह सपना किसी एक की सुख-समृद्धि का सपना तो है नहीं। एक सिद्धान्त के पूरे होने और सबको सुखी करने का सपना है। एक पूरी व्यवस्था को बदल देने का सपना है। एक दमनकारी प्रवृत्ति और शोषण करने वाली मंशा को तहस-नहस करने का सपना है। यह आसान नहीं है। सदियाँ लग गई इस वंचनाकारी व्यवस्था के बनने में। संघर्ष करने वाले आम लोगों के हौसलों पर कहीं पाला लग गया और बीच में नियति आ गई हुई है। वही जो राम रुचि राखा, भाग्य आड़े आ गया, धर्म की व्याखाएँ अड़ गई—जो समरथ है वही ईश्वर है। स्वर्ग और नरक की कपोल कल्पनाओं ने कर्म को लुठित और कुण्ठित कर दिया। परिवर्तनकारी न बनो, बदलो नहीं बस भोगो और भोगते रहो। पिसो और पिसते रहो। यही जीवन-चक्र है। इसे स्वीकार करो। भाग्य द्वारा रचित कर्म करते चलो गर्हित कर्म।

माँ फिर डायरी के पन्नों को खोली हैं।

डायरी...

कितनी तकलीफ होती है एक पूरी पीढ़ी को, उनके समाज को शोषण के चक्र में पिसते देखना। अकारण गुलाम बनी पीढ़ी को गन्ने की तरह पिरते देखना किसी नरक-दर्शन से कम नहीं होता। इन्सान को उसकी प्रतिष्ठा दिलाने का स्वप्न देखना कोई गुनाह नहीं होता, शोषण और दमन के इलाकों में उन लोगों के बीच में उनकी भलाई के लिए काम करना

कोई अपराध नहीं है। पर व्यवस्थाएँ इन कामों को बर्दाश्त नहीं कर पातीं। उन्हें हर जगह विरोध दिखता है, हर जगह चुनौती दिखती है। यहीं संघर्ष शुरू होता है। फिर रातों रात भागना पड़ता है। पूरे अरण्य में भाग-दौड़ के सिवा कुछ नहीं। एक मिशन पूरा नहीं हो पाता और व्यवस्था के टारगेट की जद से भाग जाना पड़ता है। कहीं कोई आन्दोलन ठीक से खड़ा हो नहीं पाता कि परवाना आ जाता है मिटाने का, ध्वस्त करने का। गोलियाँ चलती हैं, वहशी तरीके अपनाए जाते हैं। व्यवस्था को अपनी नाक कटने की बड़ी चिन्ता रहती है। आन्दोलन अगर खड़ा हो गया तो कहीं की न रहेगी व्यवस्था। यथास्थिति बनी रहे। इसलिए इन आन्दोलनों को, जागृति को तोड़ दो, नेस्तनाबूद कर दो। फिर न पनप पाए इसलिए पूरी तरह कुचल दो। सब तरह के हथकण्डे जायज और नाजायज लगा दिए जाते हैं। सुधार करने वाले परिवर्तन की कामना करने वाले, अपने वजूद को मिटाने का विरोध करने वाले समाज के दुश्मन करार दिए जाते हैं। उनके लिए पुलिस के यातना गृह खुले हैं। दफाओं के तूफान चल रहे हैं...

डायरी सहसा माँ ने बन्द कर दी है।

अक्सर कामरेड रातों में शुक्र तारे के प्रकाशमान हो जाने तक भोर के स्वागत में ऐसे ही टहलता रहता है। पाँवों के नीचे झाड़ियाँ और चट्टानें नहीं, आँगन में बिछे आत्मीय पत्थर हैं। चारों तरफ घेरे कठिन अँधेरा नहीं, धीमी रोशनी है। जंगली जानवरों की सिहरन पैदा करती आवाज़ें नहीं घर और बस्ती की शान्त फिजाएँ हैं।

बस्ती के छोर पर एक पुराने जमाने की लम्बी चौड़ी हवेली है जो मन्नू दादा के पुरखों की बनावाई हुई है। अब इसके मालिक मन्नू दादा हैं। एक अरसे से ठेकेदारी करते हैं। पहले पुल और रोड बनाने का ठेका लेते थे। कुछ समय से खनिज उत्खनन का ठेका लेने लगे हैं। एक दफा एमएलए का चुनाव लड़ कर हार चुके हैं। पर राजनीति में दिलचस्पी कम नहीं हुई है। उनके जितने भी और जैसे भी धन्धे हैं वे बिना राजनीति के संरक्षण के नहीं चलते। इसलिए वे राजनीतिक दलों को खुल कर चन्दा देते हैं सरकार चाहे किसी की बने उनके ऊपर सत्ता की मेहरबानियाँ बनी रहें।

उनके नाती पुनीत का कनछेदन संस्कार था। न्यूता आया था। माँ जानती थीं कि अनुराग तो जाएगा नहीं। इसलिए माँ को जाना था। वहाँ मन्नू दादा की अलग महफिल जमी थी। वहीं माँ कुछ सुन कर आई थीं मन्नू दादा और उनके आदमियों के मुँह से। उन्होंने बताया था कि वे उनके अनुभव हैं जो उनके देखे और सुने हैं। माने एकदम आग में तपे और सोने जैसे खरे और जो चित्र उन्होंने खींचे वे अनुराग के बताए वर्णनों से एकदम भिन्न और अलग थे। वे मानों अलग गाथा कह रहे थे। माँ को अनुराग की बातों में अविश्वास नहीं शंका हुई थी। माँ का मन तो देखो कैसे मन्नू दादा की बातों में बौरा गया था। जो बातें हुई कभी उनके अहसासों में नहीं रहीं और वे इतनी पढ़ी-लिखी भी नहीं थीं कि उन पर तर्क कर सकतीं या उनका विश्लेषण करतीं।

रात में ब्यारी खत्म करते ही अनुराग को सिगरेट की तलब लग आई। कभी-कभार जंगल में सिगरेट वह पी लिया करता था। आज इतने दिन बाद उसे फिर तलब लगी।

उसने अपना बैग तलाशा और एक कोने में उसे मुसकी हुई दो सिगरेटें मिल गईं। वह बाहर चबूतरे पर निकल आया। एक पुराने व्यर्थ से दिखते लाइटर से उसने सिगरेट सुलगाई और चबूतरे पर चहल-कदमी करते उसने कश लेना शुरू कर दिया।

सिगरेट खत्म कर वह भीतर आँगन में आया। बाहर का दरवाज़ा उसने बन्द कर लिया। वह पालथी मार कर अपनी खाट पर बैठ गया। माँ का दुबला चेहरा उसके सामने था। माँ एक बड़े तक्रिए पर अधलेटी थीं।

अनु! तू तो कहता था कि वे लोग जिनके लिए और जिनके बीच तू काम करता है बड़े सीधे-साधे लोग होते हैं—गरीब, असहाय, दलित और बेसहारा। आज तो उनके बारे में सुन कर आई हूँ कि कहीं-कहीं वे हथियार रखते हैं। पुलिस को कुछ नहीं मानते, वे हत्याएँ करते हैं। थानों में हमला करके असलहा लूट कर ले जाते हैं। बारूद बिछा कर पुलिस की गाड़ियाँ उड़ा देते हैं। उनको वे लोग क्या तो कह रहे थे न...नक्स...हाँ...नक्सली!

अनुराग को समझते देर न लगी कि मन्नू दादा के यहाँ माँ क्या सुन कर आई हैं। वे तो ऐसा बोलेंगे ही क्योंकि वे भी उसी शोषक वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं जो उनका उत्पीड़न करने में लगे हैं। उनका जीवन और ज़मीन ख़त्म करने वालों में से हैं।

वह धीमे से हँसता है—माँ। जिन्हें तुम नक्सली कहती हो वे लोग सीधे-सादे आदिवासी हैं। इससे अधिक कुछ नहीं। उनको हथियार तो मन्नू दादा जैसे लोगों के कारण ही रखने पड़ते हैं। उनके जो हत्यारे चेहरे हैं वे इन्हीं लोगों ने तो बनाए हैं। उनके पास दूसरे रास्ते भी तो नहीं।

माँ प्रतिवाद कर देती हैं—पर मन्नू तो बड़ा नेक आदमी है। उसने मन्दिर के कच्चे आँगन में संगमरमर लगवा दिया है। पूरी चारदीवारी पक्की करवा दी है। देखो तो मोहल्ले का मन्दिर कैसा चमकने लगा है। वह तो बड़ा धर्मात्मा है।

हाँ माँ, ऐसे धर्मात्मा और सदाचारी दिखने वाले लोग ही तो अत्याचार करते हैं। ये पण्डे पुजारियों पर तो दयावान हो जाते हैं। मन्दिरों और आश्रमों को दान देते हैं। नए मन्दिर और धर्मशालाएँ और खैराती अस्पताल बनवाते हैं। अनाथालयों को चन्दे देते हैं। पर दूसरी ओर आदिवासियों, दलितों का घोर शोषण करते हैं। ऐसे-ऐसे अत्याचार करते हैं कि देख-सुन कर दिल दहल उठता है। उनके लिए इनके मन में न दया है और न ममता। यहाँ तक कि कोई सहानुभूति भी नहीं है। ये मजदूरों, दलितों, छोटे किसानों और बुनकरों के लिए मौत की सौगात लाते हैं। इनके पास केवल धन होता है। दिल और दया नहीं होती—अनुराग बिना किसी उत्तेजना के बता रहा है।

क्या कहता है तू—माँ शंका और असमंजस में घिरी हैं। एक ओर मन्नू दादा हैं। इलाके में उनकी इज्जत है। बहुत धनवान हैं। लोग तो कहते हैं कि वे कस्बे की नाक हैं। पुरखों का नाम उन्होंने ऊँचा किया है। पर वे अनुराग की बात पर भी कैसे अविश्वास करें जिसने पच्चीस साल दलितों और वंचितों के बीच एक सपना पूरा करने के लिए खपा दिए।

अनुराग एकदम शान्त है। जंगल के एकान्त और संघर्षों ने उसको धैर्यवान बना दिया है। फिर माँ को हकीकतें कहाँ मालूम हैं। मन्नू दादा जैसे ठेकेदारों का असली चरित्र कहाँ उनके ध्यान में आ पाता है। ये ठेकेदार ही तो हैं जो जंगल का ठेका लेते हैं और

प्रशासन के साथ मिलकर आदिवासियों पर जुल्म ढाते हैं। पुलिस प्रशासन इनके ही साथ होता है।

माँ, ये जो मन्नू दादा हैं, छोटे ठेकेदार हैं। बड़े-बड़े ठेकेदारों के नीचे काम करते हैं। इनके असली चरित्र कहाँ तुम्हें मालूम हैं। आदिवासी इलाकों में जाकर ये कहीं बीड़ी पत्ती का ठेका लते हैं। आदिवासियों से जम कर काम लेते हैं और मजूदरी के नाम पर चवन्नी-अठन्नी देते हैं। इतनी सस्ती मजूदरी दुनिया में कहीं नहीं दी जाती है। इतने कम पैसों से इनका पेट भी नहीं भर सकता। उनकी औरतों पर इन ठेकेदारों की बुरी नज़र होती है। इनकी औरतों को अकेले पाने पर ये ठेकेदार और उनके कारकून उनको छोड़ते नहीं। इज्जत और जीवन दोनों लेने को हमेशा तत्पर रहते हैं। यही ठेकेदार इनसे जंगल में जड़ी बूटियों की खोज भी कराते हैं और दुर्लभ जड़ी बूटियों के बदले में मजूदरी यही चवन्नी-अठन्नी देते हैं। इसी तरह भट्टा ठेकेदार है। भट्टे वाला खेत किसी आदिवासी का होता है और कुछ कर्जे के एवज में खेत हो जाता है उस ठेकेदार का और वही हाड़तोड़ मेहनत में लगा होता है वह खेतवाला आदिवासी। सरकारी इमारतें और सड़क बनाने वाला ठेकेदार भी आदिवासी इलाकों में इसी तरह का विकट शोषण करता है।

अनुराग बता रहा है।

कहाँ तक गिनाऊँ माँ, एक किस्सा हो तो बखान करूँ। मन्नू दादा जैसे ठेकेदारों का जब आतंक इतना बढ़ जाता है कि सीमाएँ तोड़ने लगता है तब ये सीधे-सादे प्रकृति की गोद में बसे आदिवासी मजबूरी में हथियार उठाते हैं। उनकी शिकायतों पर पुलिस ध्यान नहीं देती। बल्कि उल्टे उनके खिलाफ दमन चलाती है। उनको किसी भी धारा में हवालात में बन्द कर देती है। उनकी जमानतें नहीं होने देती। ठेकेदारों से बड़ी दुश्मन पुलिस होती है। आदिवासियों की थोड़ी-सी चेतना और जागृति पुलिस की नींद हराम कर देती है। जबकि आदिवासियों का पूरा उपक्रम अपनी और अपने साधनों की रक्षा करने की होती है। वे तो पुलिस की हिंसा के सामने ठहर ही नहीं पाते। जो अन्याय या अत्याचार आदिवासियों के खिलाफ होते हैं उनके मददगार पुलिस वाले ही होते हैं। पुलिस उनकी जायज बातें नहीं सुनती। वे उनको बचाते नहीं बल्कि उस अत्याचार और उत्पीड़न की प्रक्रिया में खुद शामिल हो जाते हैं। जिनको रक्षा करनी चाहिए वे ही भक्षक बन जाते हैं। जन-सेवा की आड़ में असली भक्षक का चेहरा उन्हीं पुलिस वालों का होता है।

अब तुम ही बताओ, माँ कि ये ठेकेदार कैसे दयालु हो गए? क्या तुम सोचती हो कि मन्दिर या दिवाला बनवा देने से इनका असली चेहरा छुप जाता है? इनके ये कैसे आचरण हैं अमानवीय और घिनौने? तब भी क्या इनको अच्छा माना जा सकता है? वे तो अपना काला चेहरा छुपाने के लिए धर्म की आड़ ले लेते हैं। बताओ माँ, अगर किसी के पास पैसा है तो क्या उसका सामाजिक कर्तव्य यह नहीं बनता कि वह उस बदहाल तबके की शिक्षा की व्यवस्था करे जो उससे वंचित है? लेकिन वह यह जोखिम भरा काम नहीं करेगा क्योंकि शिक्षा पहचान देती है और जब इनके चेहरे पहचान लिए जाएँगे तो विरोध होगा। तब शोषण अपने आप रुकने लगेगा।

अनुराग की बात खत्म नहीं होती। वह हजार आयामों में बँट कर आसमान में फैलने

लगती है। माँ सुने या न सुने पर शब्दों का आगाज बना रहता है। शब्द तो अविनाशी होते हैं।

माँ डायरी के पन्नों में लिखे शब्दों को टटोल रही हैं। उन पन्नों में लिखा है—

डायरी...

सरकार को जन अदालतों और अन्याय का विरोध करने वाले मंचों और संगठनों से अन्यतम चिढ़ है। पुलिस की नज़रों में ऐसे सभी व्यक्ति और संगठन और उनका समर्थन करने वाले लोग संदिग्ध हैं। पुलिस और प्रशासन जान-बूझकर इस बात की अनदेखी करता है कि जो सरकारी अदालतें हैं वे दलित, आदिवासी और छोटे-मोटे तबके के लोगों की पहुँच के बाहर हैं। जन अदालतें बिना किसी खर्चपात के संक्षिप्त फैसले कर निर्णय देती हैं और अपने दिए फैसले शीघ्र लागू करवा देती हैं। इस वजह से ये अदालतें आदिवासी समाज में अपना वजूद बनाए हुए हैं।

माओवादी हिंसा या सशस्त्र संघर्ष आदिवासियों का पहला नहीं आखिरी और मजबूरी भरा विकल्प है। वे इसलिए शस्त्र उठाते हैं क्योंकि उनकी माँगें सीधे और शान्तिपूर्ण तरीके से सुनी ही नहीं जातीं। पुलिस का जो दमन अपनी तीव्रता में इनके ऊपर जितनी आक्रामकता से आता है, उससे बचने के लिए आदिवासी खुद को शस्त्रों से लैस करते हैं। गिरफ्तारी, प्रताड़ना से बचने के लिए फिर जंगल ही सुरक्षा देता है और वही घर लगने लगता है। आदिवासी अपनी मिट्टी, पानी और आवास के लिए जरा भी प्रतिरोध करते हैं या असहमति जताते हैं तो उन पर माओवादी होने का आरोप लग जाता है। तब फिर आदिवासी के पास विकल्प बचता है केवल यही कि वह माओवादी बन जाए और शस्त्र उठा ले।

एक रात अनुराग ने ये किस्सा माँ को सुनाया।

किस्सा कम मजदूरी देने और उसके प्रतिरोध का

एक राज्य के सुदूर इलाके का वाक्या है ये। उस इलाके में इसी शोषण और मनमानी को रोकने के लिए आदवासी चेतना मंच के नाम से एक जागृति संगठन बनाया गया था। इस मंच के सदस्य जहाँ इस प्रकार का कोई शोषण और अत्याचार देखते थे, कोई अन्याय चलता देखते थे, किसी आदिवासी युवती पर कोई बलात्कार होते सुनते थे उस जगह पर जाकर प्रतिरोध करते थे। मसलन एक ठेकेदार के यहाँ उन्होंने चवन्नी मजदूरी का विरोध किया और उस ठेकेदार को मजबूर किया कि वह सरकार द्वारा निर्धारित न्यूनतम मजदूरी दे। ज्यादा प्रतिरोध होने पर ठेकेदार न्यूनतम मजदूरी देने को तैयार तो हो गया और उसने लगभग आधे से ज्यादा मजदूरों को उसी हिसाब से भुगतान भी कर दिया पर इसके बाद जब मंच के सदस्य लौट कर आए उसने पुलिस थाने में सदस्यों के खिलाफ धमकाने और लूट की नामजद रपट लिखा दी। रपट में उसने उन मजदूरों के नाम भी लिखा दिए जिनको उसने पूरी मजदूरी का भुगतान दबाव में किया था।

पुलिस ने उस रात तक आधे से ज्यादा सदस्यों को गिरफ्तार कर हवालात में बन्द कर दिया। कायदे से तो पुलिस को मंच का साथ देना चाहिए था क्योंकि वे शान्तिपूर्ण

ढंग से माँग कर रहे थे। पर पुलिस ठेकेदारों से अनुग्रह पाई होती है और हर आदिवासी उसको संदिग्ध दिखता है।

पुलिस ने आरोप गढ़ कर चालान अदालत में पेश कर दिया और जिस दिन अदालत में मंच के सदस्यों को पेश करना था पुलिस थाने से अदालत तक करीब डेढ़ किलोमीटर रास्ते में मंच के सदस्यों को हथकड़ी हाथों में डाले पैदल चलवाया। हथकड़ी के मामले में सुप्रीम कोर्ट के दिशा निर्देश हैं कि जघन्य अपराधों में ही हथकड़ी डाली जाए। मंच के सदस्यों पर केवल धमकाने और शान्ति भंग करने भर के आरोप थे। लूट की शिकायत सही नहीं मिली क्योंकि किसी गवाह ने इसकी पुष्टि नहीं की और न ठेकेदार ही सही-सही बता पाया कि लूट किस तरह हुई। इन आरोपों के चलते किसी जघन्य अपराध को अंजाम नहीं दिया गया था। पूर्व में भी सदस्यों के खिलाफ कोई अपराध दर्ज नहीं हुआ था और न वे किसी आपराधिक गतिविधियों में ही संलग्न पाए गए थे। अदालत से किसी तरह जमानत मिली तो मंच के सदस्य सीधे दिल्ली गए और उन्होंने सुप्रीम कोर्ट में इस हथकड़ी प्रकरण के खिलाफ याचिका दायर कर दी। एक स्थानीय फोटोग्राफर ने उस अवसर की कुछ फोटो खींच ली थी, जिसे मंच के सदस्यों ने हासिल कर लिया था। सुप्रीम कोर्ट ने राज्य शासन, तेरह पुलिस अधिकारियों/कर्मचारियों और एक आईएएस एसडीओ के खिलाफ नोटिस जारी कर दिए। पहले तो इस तरह की घटना को पुलिस की ओर से नकारा गया लेकिन जब वादियों की ओर से अदालत में फोटोग्राफ्स पेश किए गए तब कहीं पुलिस ने इस बात को स्वीकार किया। सबसे बड़ी अदालत ने अपने शुरूआती फैसलों से शासन-प्रशासन को हिला कर रख दिया। किसी के पास जवाब देने के लिए शब्द नहीं थे। अन्त में एक आईएएस अफसर और नौ पुलिस वालों के खिलाफ सख्त टिप्पणी की गई और उनको कोई जिम्मेदारी वाला पद न देने का निर्देश कर दिया गया। यहाँ तक कि सबसे बड़ी अदालत ने इस चूक के लिए जिले की अदालत तक को फटकार लगाई। अब बताओ माँ अन्यायी कौन है जो अन्याय कर रहा है वो या जो अन्याय का विरोध कर रहा है वो?

माँ तुम देख पाती कि कितनी भयानक तस्वीरें हैं आदिवासी इलाकों की। अब तो माँ सरकारों को विकास का भूत सताने लगा है। इसके लिए प्राकृतिक साधनों के अधिक से अधिक दोहन करने की होड़ लग गई है। जंगलों को काट कर पहले ही बंजर कर दिया है। अब पहाड़ों को खोदा जा रहा है।

पहाड़! माँ आश्चर्य से कामरेड का चेहरा हेरती हैं।

हाँ माँ! पहाड़ सदा सर्वदा से आदिवासियों के देवता रहे हैं। जंगल और पहाड़ उनके जीवन हैं। उनसे वे आवास पाते हैं लकड़ी और भोजन पाते हैं। पहाड़ों से निकली नदियाँ उनको पानी देती हैं। उनके जानवरों की प्यास बुझाती हैं। यहाँ तक कि पंछियों को भी भोजन और पानी ये नदियाँ देती हैं।

क्या हुआ इन पहाड़ों और नदियों को—माँ आतुरता से पूछती हैं।

अनुराग उठ कर बाथरूम जाता है। आराम से चल कर खाट पर बैठता है और माँ की ओर देखता है। अपने जीवन की इस अस्त बेला में उनकी उत्सुकताएँ जवान हो रही

हैं। जीवन भर कुछ जानने की उनको ज़रूरत ही नहीं रही। अनुराग उनसे उनकी जानने की हदों से बहुत दूर था, जंगल और पहाड़ों के बीच। भला वे कैसे जान पातीं ये सब।

बताता हूँ माँ—उसकी फिर एक सिगरेट पीने की तलब लग आई पर उसने इस इच्छा को किसी तरह दबा दिया।

माँ फिर डायरी के पन्नों को छू रही हैं और अक्षरों से निकली चेतना उनकी नसों में प्रवाहित हो रही है।

डायरी...

बड़ी-बड़ी दैत्याकार कम्पनियाँ हैं। जैसी एक कम्पनी अँग्रेजों की इस देश में आई थी और बाद में यहाँ राज करने लगी थी। उससे भी बड़ी और ताकतवर। ये कम्पनियाँ सरकारों की भी परवाह नहीं करतीं। कई देशों में उनकी शाखाएँ फैली हुई हैं। उनके पास पूँजी की ताकत है, प्रभाव और बाज़ार की ताकत है और उस ताकत के पीछे बड़ी-बड़ी सरकारें हैं, पूँजीपति हैं, आतंक फैलाने वाले माफिया हैं, हथियार बेचने वाले नेता और व्यवसायी हैं। वे जो बड़ी कम्पनियाँ हैं, बड़े-बड़े ठेके लेती हैं। खनिजों के ठेके। लोहा, चाँदी, अभ्रक, अलम्यूनियम धातुओं का खनन करा रहे हैं और ये सब खनिज कहाँ मिलते हैं, माँ पहाड़ों में। पहाड़ जो आदिवासियों के बसेरे हैं। जिनमें घने जंगल लगे हैं, जिनसे नदियाँ निकलती हैं। उन पहाड़ों का खनन हो रहा है जो आदिवासियों के देवता हैं। सरकार ने उन पहाड़ों यानि आदिवासियों के देवताओं को बेच दिया है। सरकारें इन कम्पनियों को ठेका देती हैं और पुलिस को उनकी मदद के लिए लगा देती है।

ऐसे में वे आदिवासी कहाँ जाकर रहें। पहाड़ छीने जा रहे हैं, जंगल उजड़ रहे हैं और नदियाँ सूख रही हैं। उनका पूरा परिवेश नष्ट हो रहा है तो क्या आदिवासी समाप्त हो जाएँ। ये धरती पुत्र हैं। इनसे सीधा और प्रकृति का मित्र कोई और नहीं हो सकता। ये जंगल पालते हैं। ये पहाड़ों की रक्षा करते हैं। ये नदियों को पोषते हैं। ये जितना प्रकृति को जानते हैं उतना कोई नहीं जानता। इन पहाड़ों में प्राकृतिक सम्पदा भरी पड़ी है। यही आदिवासियों के स्वाभाविक निवास हैं। पहाड़ों और नदियों के सिवा आदिवासियों के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती। आदिवासी समाजों में कोई गैरबराबरी नहीं होती है। सच्चा लोकतन्त्र उनके यहाँ ही है। उनके सीधे-सादे समाज में कोई जात-पात नहीं है। है भी अगर तो कोई ऊँच-नीच नहीं है, सामाजिक स्तर पर। उनके उत्सव बिना तामझाम के होते हैं। उनके समाज में शोषण नहीं होता, माँ। कोई सामाजिक अन्याय उनमें नहीं है। इसी का सपना हमारी पार्टी और संगठन देखता है कि आदिवासियों जैसा गैरबराबरी का समाज बनाया जाए।

माँ सहसा डायरी बन्द कर देती हैं। वे दिन भर गुमसुम सी रहती हैं। आज दिन भर अनुराग भी घर में नहीं रहा। रात को खाने के बाद माँ अपनी खाट पर अधटिकी बैठी सहसा अनुराग से पूछ बैठती हैं—क्यों खोद रहे हैं पहाड़?

माँ की क्षीण आवाज़ जिसमें गजब की तरलता भरी है उस रात में जिसमें हवा के झोंके थे और आसमान पर तारों की बिरादरी मौजूद थी, सुन पड़ती है। कभी-कभी अनुराग

को लगता कि माँ सुन नहीं रही हैं और उसकी आवाज़ उनकी खाट तक उतरा कर लौट आती है।

बिना सन्दर्भ के माँ का यह प्रश्न अनुराग को गफलत में डाल देता है। पर पहाड़ तो जलती हुई सच्चाई है। वह जबाब देता है—मुनाफा कमाने के लिए। समाज में एक तबका ऐसा बन रहा है, माँ, जिसे दुनिया की सारी सम्पत्ति चाहिए और वह भी दूसरों की कीमत पर। दूसरों का जीवन छीन कर, उनकी ज़िन्दगी नरक बनाकर ऐसा विकास वे कर लेना चाहते हैं। ऐसे लोग शहरों में रहते हैं। महानगरों में रहते हैं। जंगल जमीन से इनका सरोकार केवल इतना रह गया कि वह उनकी स्वार्थपूर्ति का साधन बन कर रहे और इसके लिए वे किसी भी स्तर तक नीचे उतरने को तैयार हैं। अपना मुनाफा पक्का करने के लिए वे हर हथकण्डे में विश्वास करते हैं।

हर एक पहाड़, नदी और हर छोटे-मोटे जंगल के लिए अनगिनत ठेकेदारों, सैकड़ों बड़ी-बड़ी कम्पनियों, निगमों से सरकार का समझौता हो गया है। खनिजों को खोदने के ठेके दे दिए गए हैं। इससे जंगल और पहाड़ नष्ट हो रहे हैं। आदिवासियों का जीवन खतरे में पड़ रहा है।

हाँ, माँ मैं सच कह रहा हूँ। मध्य प्रदेश, उड़ीसा, आन्ध्र प्रदेश और महाराष्ट्र राज्यों में जहाँ ये जीवन दायक पहाड़ हैं, नदियाँ हैं, आदिवासी हैं, वही है हमारी कर्मभूमि। वही हमारे और हमारे जैसे कितने ही दीवानों की कर्मभूमि है। हमारे सपनों की जगह। जिस जगह हम चाहते हैं कि यह मुनाफाखोरी बन्द हो, आदिवासियों का संहार और शोषण बन्द हो। वे आदिवासी अपने निवास के सौन्दर्य और सरलता के साथ जीवित रहें। एक निडर और निर्विघ्न जीवन जीएँ। यही हमारा और उन आदिवासियों का सपना है।

सरकार नहीं सुन रही क्या—माँ का अगला प्रश्न आता है चुपचाप और कुछ देर के लिए अनुराग चुप हो जाता है। जैसे जबाब ढूँढ़ रहा हो कि बात कहाँ से शुरू की जाए।

कहता है—माँ, यही तो असली समस्या है कि सरकार खुद तकरार की मंशा में आ गई है। सरकार किसी समस्या का निराकरण न कर उसे उलझा देती है। उसे इन मुनाफाखोरों को भी खुश रखना है क्योंकि इनसे उसे चुनाव के लिए चन्दा मिलता है और दूसरी तरफ आदिवासियों के कल्याण की बात भी कहती है। वह हमें और हम जैसे लोगों को दुश्मन मानती है क्योंकि उसकी स्वार्थपूर्ति में हम विघ्न डालते हैं और सरकार के इरादों की पोल खुल जाती है। हम आदिवासियों को जागृत कर रहे हैं, उनके अधिकार उनको बता रहे हैं, पर्यावरण के प्रति उनको सचेत कर रहे हैं कि पहाड़ खोद डाले गए, तो ये नदियाँ सूख जाएँगी, जंगल खत्म हो जाएँगे। सरकारी हिंसा से लड़ने के लिए उनको हथियाबन्द करते हैं कि अपनी रक्षा करना खुद सीखो। उनको हथियार चलाना सिखाते हैं। हथियार के साथ उनको सुरक्षा का भी पाठ पढ़ाते हैं। सरकारी पुलिस बल इतनी अधिक है माँ कि उनके मुकाबले में ये आदिवासी बहुत कम हैं। जिन्हें मन्नू दादा जैसे लोग खतरनाक कहते हैं। इन पुलिस बलों पर सरकार करोड़ों रुपये हर साल खर्च करती है। जबकि इससे काफी कम रुपयों में सरकार उस क्षेत्र का कायाकल्प कर सकती है और आदिवासियों का जीवन खुशहाल बन सकता है।

सोचो तो माँ, जिनके आवास उजाड़ने को कोई आए, उनको मिटाने की कोई युक्ति करे तो पहले तो वे नरमी से काम लेंगे और उनको रोकने के लिए चेष्टा करेंगे। यह सब शान्तिपूर्ण ढंग से होगा। लेकिन जब इस शान्ति को भी अपराध की श्रेणी में रख दिया जाता है और इसका विरोध डण्डे और गोली से होने लगता है तो एक दिन ऐसा आता है जबकि वे भी अपनी सुरक्षा के लिए हथियार उठा लेते हैं। वे भी प्रतिरोध को ठान लेंगे। वे भी बन्दूक की गोली का जबाब गोली से ही देंगे। सरकार के पुलिस की संख्या बल और हथियार बल की तुलना आदिवासी तो कर नहीं सकता। इसलिए वह छापामारी करता है असावधान पुलिस और प्रशासन पर हमले करता है। इससे जन-जीवन अस्त-व्यस्त होता है। तनाव बढ़ता है, भय का माहौल पैदा होता है। अपनी बात मनवाने के लिए ऐसे काम भी कर दिए जाते हैं कि उससे सार्वजनिक जीवन में परेशानियाँ खड़ी हो जाती हैं। ऊपरी तौर पर लगता है कि ये बहुत ज्यादाती हो रही है। पर तनिक सोचो कि सरकारी हिंसा और ज्यादातियों की तुलना में ये कुछ भी नहीं है। किसी कदर पुलिस और प्रशासन जीवन के सर्वस्व से जुड़े सवालों को शान्तिपूर्ण ढंग से नहीं सुनना चाहते हैं। उसके लिए फिर एक ही उपाय बचता है कि उनके खिलाफ हथियार उठा कर उनको सुनाया जाए। सरकार अपने प्रचार के बल पर इन घटनाओं को बढ़ा-चढ़ा कर सामने लाती है।

लगा कि माँ को नींद ने घेरना शुरू कर दिया है। अनुराग ने बात बन्द कर दी दूसरी रात तक के लिए। अब तो माँ ही प्रश्न उठाती थी।

दूसरे दिन जब अनुराग दैनिक कामों से फारिग हुआ तो दिन के ग्यारह बज गए थे। चार-पाँच दिनों से दाढ़ी नहीं बनाई थी इसलिए दिनचर्या में ये जुड़ गया। नहाने के लिए तालाब चला गया। वहाँ उसका बचपन का साथी मंगू मिल गया। वह अभी तीन-चार दिन पहले ही कस्बे लौटा था। पास के शहर की डालडा फैक्टरी में काम करता था। अपने परिवार को भी साथ ले गया था। उसकी पत्नी भी आसपास के कुछ बड़े घरों में काम कर लेती थी। इसलिए ज़िन्दगी कुछ आसान हो गई थी। कस्बे में थोड़ी-सी ज़मीन थी और बूढ़े माँ-बाप भी यहीं रहते थे और एक कच्चा गिरा घर भी था। यही मोह आदमी को उन जगहों में खींच लाता है बार-बार। थोड़ी-सी ज़मीन भी मन में लालच बाँधे थी। उसका बाप जब तक काम लायक था उसमें सब्जी भाजी पैदा कर लेता था और काम चलता रहता था। अब वह जमीन मंगू अधिया को दे देता है। उसी से साल भर का आसरा जोड़े रहता है। उसके दो लड़के हैं और स्कूल में पढ़ते हैं।

इतने दिनों बाद मिले थे सो बातचीत का सिलसिला कुछ खिंच गया था। मंगू ने जब अनुराग से उसके बारे में पूछा कि कहाँ रहे इतने दिन तो अनुराग के जबाब पर वह चौंका था। उसने बताया था—जंगल।

जंगल में कहाँ—वह हैरान था।

अनुराग ने हँस कर कहा था—एक जंगल थोड़े ही। जहाँ-जहाँ है, नदियाँ और पहाड़ हैं। आदिवासी और मजदूर हैं। छोटे किसान और दलित हैं। वहाँ विचरता रहा।

जंगल में तो जंगली जानवर रहते हैं। उनसे डर नहीं लगा?

आदमी से बड़ा जंगली जानवर कोई दूसरा नहीं। बस उन्हीं से भिड़ता रहा—अनुराग ने समझाने की कोशिश की।

मंगू अकबक अनुराग को देखता रहा। अनुराग ने कहा— देख भाई। क्या तू नहीं चाहता कि तुझे एक अच्छी जिन्दगी मिले। एक ऐसा काम और व्यवसाय कि तुझे कल की चिन्ता कम से कम रहे। तेरी बीवी को परिवार का खर्च पूरा करने के लिए कहीं दूसरी जगह काम न करना पड़े। तेरे बेटे अच्छी तालीम पाएँ। अस्पतालों में तुझे कोई ढंग से देखे। कोई शोषण न हो, ऊँच-नीच न हो। सबके साथ समानता का व्यवहार हो। एक ही आदमी के पास सारी जमा-पूँजी इकट्ठी होकर न रह जाए। तू ही क्यों अपने मोहल्ले के किसनू, सांभा, रामगरीब, लकुट, भुवन सबके साथ समानता का व्यवहार हो।

हाँ-हाँ क्यों नहीं। ये तो अच्छी बात होगी।

बस मैं उसी काम में लगा हूँ। जंगल में आदिवासी रहते हैं और सबसे ज्यादा शोषण के शिकार वही हो रहे हैं। यहाँ तक कि उनका वजूद तक खतरे में पड़ गया है। इसलिए मेरा रहवास जंगल है।

मंगू कुछ समझा और कुछ नहीं।

अनुराग जैसे ही घर लौटा तो कुछ ही देर बाद बसोरन टोला से सरमन आ गया। उसने बताया कि टोला में सरकारी राशन की दुकान खोलने का आदेश हो गया है। अगले सोमवार से सरकारी आदमी राशन लेकर बैठेगा।

अनुराग ने खुशी व्यक्त की।

किसी चीज़ को पाने के लिए उसके लिए संघर्ष करना पड़ता है। जो अधिकारी है उनको जगा कर बताना पड़ता है वरना सब सोए पड़े रहते हैं।

सरमन के साथ ही अनुराग निकल गया। उसने दुपहर का खाना भी वहीं खाया। टोले वालों ने उसे हाथों-हाथ लिया। शाम को जब अनुराग लौटा तब तक माँ मन्दिर चली गई थीं। उसे और कोई काम नहीं था। माँ के इन्तज़ार में वह मन्दिर के चबूतरे पर जाकर बैठ गया और सोचने में लग गया।

आज दिन भर डायरी माँ के सिरहाने ही रखी रही। डायरी से शब्द रिस रहे थे जैसे बलुही गगरी से पानी रिसता है। शब्दों ने माँ को भिगो कर एक घेरा बना लिया था।

डायरी...

इन विकास योजनाओं से करीब पाँच करोड़ आदिवासी विस्थापित हुए हैं और इसके लिए सरकार ने एक लाख पचास हजार हेक्टेयर जमीन का अधिग्रहण कर लिया है। विस्थापितों में मुझी भर लोगों को भी सरकार बसा नहीं पाई है। उनके लिए किसी तात्कालिक सुविधा का भी इन्तज़ाम नहीं कर पाई है।

उड़ीसा के दक्षिण में निचली पठारी पहाड़ियों में डोगरिया कोंध आदिवासी रहते हैं। ये कोंध आदिवासी पहाड़ों को देवता मान कर पूजते हैं। बाक्साइट के उत्खनन के लिए इन पहाड़ों को बेचा जा रहा है, विकास के नाम पर। कहाँ जाकर रहेंगे कोंध आदिवासी?

तेरह राज्यों यानि तमिलनाडु से लेकर बंगाल के बीच के जंगली भू-भाग को दण्डकारण्य

यानि लाल कारीडोर में सरकार ने नक्सलियों या माओवादियों से निपटने के लिए आपरेशन ग्रीन हण्ट शुरू करने का निर्णय ले लिया है। इन्हीं इलाकों में आदिवासी अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहे हैं। इन इलाकों में जीवन की न्यूनतम सुविधाएँ भी उपलब्ध नहीं हैं। इन्हीं इलाकों में सरकार विकास का सर्वनाशी बीज बो रही है। यही हमारा कर्मक्षेत्र भी है और सपनों का इलाका भी। यही इलाके सरकारी दमन के गढ़ बन गए हैं। सरकार ने लाल आंतकवाद शब्द को गढ़ लिया है। माओवाद के खिलाफ सरकार ने कमर कस ली है।

सितारों की छाँव में माँ आँगन में खाट पर बैठ गई थीं। अनुराग भी फुरसत में हो गया था। खाना खाने के बाद उसे सिगरेट पीने की तलब लग आई। वह घूमने का बहाना कर गली में निकल गया था।

लौटा तो माँ सुनने को उत्सुक लग रही थीं।

तो माँ, विकास के नाम पर सरकार आदिवासियों को उजाड़ने में लगी है। दुनिया की बड़ी-बड़ी कम्पनियों को जिनके कारोबार कई देशों में फैले हैं ठेका दिया गया है। जंगल, उसके भीतर के पेड़, खनिज सम्पदा और नदियों पर कम्पनियों का अधिकार हो गया। इन कम्पनियों के हित के लिए सरकार ने अपना पुलिस अमला तैनात कर दिया। किसी कम्पनी को पानी बेचने का अधिकार मिल गया तो उसने क्षेत्र के आदिवासियों के पीने और सिंचाई के पानी के लिए उनको वर्जित कर दिया। वे नदियों में न तो मछली मार सकते थे और न जंगल में किसी पेड़ की एक टहनी तक काट सकते थे।

जब आदिवासी इसका विरोध करती है तो पुलिस उन पर अलग-अलग धाराएँ लगा कर हवालात में बन्द कर देती है। कुछ पर तो टाडा कानून भी लगाया गया जो शासन के खिलाफ युद्ध करने वालों और आंतकवादी गतिविधियों में संलग्न रहने वाले अपराधी किस्म के लोगों पर लगाया जाता है। अपने हक की आवाज़ उठाने पर आदिवासियों को नक्सली मान लिया जाता है।

माँ के गले से एक धीमी आवाज़ निकलती है जो उनके जागते रहने का संकेत है।

किस्सा फर्जी मुठभेड़ों और गिरफ्तारियों का

माँ एक गाँव का किस्सा है, रात को पुलिस ने उस गाँव के दो घरों में छापा डाला। आधी रात से ऊपर का समय था। दोनों घरों से पुलिस ने एक-एक मरद को उठाया। एक घर का तो वह युवक ही था। मुश्किल से तेईस चौबीस साल का। पिछले साल ही उसका ब्याह हुआ था। उन घरों में रोना-गाना मच गया। एक पुलिस वाले ने उन मरदों को ले जाते समय कहा था कि कल सुबह तक वे घर आ जाएँगे। एक केस में उनकी गवाही लेना है। पर वे एक हफ्ते तक भी जब घर नहीं लौटे तो उनके घर वालों को चिन्ता हुई। घर वालों ने गाँव के प्रधान को बताया। प्रधान ने अपने जनपद के ब्लाक प्रमुख को बताया। ब्लाक प्रमुख ने कोतवाल को खबर की। कोतवाल ने ऐसी किसी गिरफ्तारी से इन्कार किया। उसने बताया कि उसके यहाँ से किसी को भी किसी गाँव से नहीं उठाया गया है। तो फिर वे कौन थे जो पुलिस की वर्दी में आए थे और मरदों को उठा कर ले गए। ब्लाक

प्रमुख ने कहा तो फिर इसकी रपट लिखो कि अज्ञात व्यक्तियों ने पुलिस की वर्दी में उनको अगवा कर लिया है। पर इसके लिए कोतवाल राजी नहीं हुआ।

माँ, वह राजी कैसे होता। पुलिस ने ही उन्हें उठाया था। पर कहीं उनकी गिरफ्तारी कागजों में नहीं बताई गई थी। कोतवाल झूठ बोल था। अन्त में अगवा हुआओं के परिवार वालों ने क्षेत्रीय विधायक को पकड़ा। उसने कोतवाल को धमकाया कि मामला विधानसभा में उठेगा। तब वह डरा और दो दिन बाद उसने उस युवक को तो छोड़ दिया। पर दूसरे व्यक्ति को जो अधेड़ था, नहीं छोड़ा। उसे कहाँ से छोड़ते। उसे तो पुलिस ने उसी रात गोली मार दी थी। उसका शव जरूर पुलिस ने बरामद करा दिया, सड़ी-गली हालत में चार दिन बाद। नदी के छिछले पानी में उसकी लाश पड़ी थी। एक हफ्ते पहले उसे मार दिया गया था। बाद में कोतवाल ने कबूल किया कि वह नक्सली था और पुलिस की गश्त के समय उसे देख कर भागने लगा था। पुलिस ने आवाज़ देकर उसे रुकने का आदेश दिया पर जब वह नहीं रुका तो उसे गोली मार दी। पुलिस के पास इस बात का कोई सबूत नहीं था कि उस कथित नक्सली के पास कोई असलहा क्यों नहीं मिला। अगर वह निहत्था था तो फिर वह नक्सली कैसे हो गया। पुलिस के पास इन सवालों का कोई जवाब नहीं था। फिर संगठन ने ये मामला अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से उठाया। दोषी कर्मचारी निलम्बित किए गए और उनके खिलाफ हत्या का मुकदमा कायम हुआ। मामला अभी अदालत में चल रहा है।

महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश के ऐसे दर्जनों गाँव हैं, जिन गाँवों के सैकड़ों की संख्या में आदिवासी नक्सली बता कर मार डाले गए अथवा उनको टाडा के तहत गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया। जिन घरों के आदमी या औरतें नक्सली बता कर मारे गए वे घर छत्रहीन होकर उजड़ गए। कोई कमाने खाने वाला नहीं बचा। उन घरों की विपदा का अनुमान नहीं लगाया जा सकता, माँ। इसकी टोह न तो शासन-प्रशासन लेता है और न नेता और सामाजिक कार्यकर्ता। कुछ आदिवासी जेल में ही मर गए। उसका कारण जंगल जैसा वातावरण उनको जेल में भला कैसे मिलता और जेल भी नरक के दूसरे रूप हैं। कभी इन जेलों का न तो निरीक्षण होता है और न कैदियों की हालात के बारे में कोई जानकारी ली जाती है कि वे किन परिस्थितियों में रह रहे हैं अथवा उनको कैसे रखा जा रहा है।

दस-दस और चौदह-चौदह साल आदिवासी जेल में बिता देते हैं फिर भी उनके खिलाफ मुकदमों का निराकरण नहीं होता। टाडा कानून खत्म हुआ और आदिवासी जेल से बाहर तो आ गए पर उनके खिलाफ चल रहे मुकदमे खत्म होने को नहीं आ रहे हैं।

एक आदिवासी गादू जेल में पागल हो गया पर उसे पागलों के वार्ड में नहीं भेजा गया। दूसरे कैदी उसे चिढ़ाते और जेल वार्डों की निगाह बचा उसको पीटते। इसी पिटाई और जेल प्रशासन की उपेक्षा का शिकार होकर गादू एक दिन मर गया। पर कहीं उसके नाम के आगे उसके पागलपन का जिक्र दर्ज नहीं है। उसके दूसरे जो साथी उसके साथ जेल में बन्द थे उनसे हकीकत का पता चला। बहुत कोशिश करने के बाद उसके परिवार को मुआवजा मिल पाया।

दूसरी रात अनुराग ने इसी तरह का एक और किस्सा माँ को सुनाया जो यों था।

किस्सा बलात्कार और फर्जी मुकदमों का

एक गाँव में पुलिस सुरक्षा बलों ने गाँव की दो युवतियों और एक अर्धेड़ आदिवासी महिला के साथ सामूहिक बलात्कार किया। इसके बाद वे सुरक्षा बल के लोग सरपंच को पकड़ कर ले गए और उसकी छाती पर बन्दूक अड़ा कर धमकाया कि अगर यह मामला उन लोगों ने उठाया तो समूचे गाँव में आग लगा देंगे और पूरे गाँव पर टाडा लगा दिया जाएगा और सालों के लिए जेल में बन्द कर दिया जाएगा। लेकिन मामला उठा। गाँव वाले और सरपंच इस धमकी के बाबजूद डरे नहीं और शिकायत हुई। सुरक्षा बलों ने बौखला कर तीन तेज़-तर्रार आदिवासियों को पकड़ लिया। उन पर टाडा और आर्म्स एक्ट लगाया। ज़ुर्म ये कि वे नक्सलियों के हिमायती हैं, उनको खाना-पानी और सुरक्षा देते हैं, पुलिस के खिलाफ सुराग देते हैं।

पुलिस ने औरतों को भी टाडा कानून में बन्द किया। वे जवानी में जेल गईं और अर्धेड़ हो जाने पर जेल से छूटीं। मजे की बात ये रही कि किसी पर भी पुलिस आरोप सिद्ध नहीं कर पाई। इस प्रकार उनकी ज़िन्दगी के सबसे अच्छे साल जेल की सलाखों में बिना किसी अपराध के खल्लास हो गए। आदलतें भी पुलिस के झूठ पर विश्वास कर लेती हैं।

माँ, आदिवासी समाज का अस्सी प्रतिशत हिस्सा ऐसा है जिन तक सरकारी योजनाओं का कोई असर नहीं पहुँचा है। वे भगवान भरोसे रह रहे हैं। न उनके इलाकों में शिक्षा का कोई प्रबन्ध है, न सरकारी राशन की पहुँच है। किसी को इस बात की फिकर नहीं है कि वहाँ उनको पीने का पानी उपलब्ध है या नहीं। वहाँ के निवासी जैसे बिना सरकार के रह रहे हैं। वहाँ तक सरकार की कोई पहुँच नहीं है। सरकार की कोई रुचि भी इन आदिवासियों के बीच अपनी पैठ बनाने की नहीं है। हाँ सरकार की निगाह इस क्षेत्र के खनिजों पर ज़रूर लगी है। सरकार यहाँ आदिवासियों को बेदखल कर बड़ी परियोजनाएँ लगाना चाहती है।

आदिवासी अपने आवास को किसी भी कीमत पर बचाना चाहते हैं और इसके लिए वे हथियारबन्द हो रहे हैं। माँ, हालात इतने विकट और नियन्त्रण से बाहर चले गए हैं कि सरकार दमन पर उतर आई है। सरकार के नाम पर इन इलाकों में सुरक्षाकर्मियों यानि पुलिस के डण्डे और बन्दूकें हैं जो सरकार के होने का अहसास कराते हैं। इन इलाकों के रहवासी पूरी तरह जंगल पर निर्भर हैं और अब सरकार इन जंगलों को ही नष्ट करने पर अमादा है ताकि देश में कुछ और अमीर बड़ जाएँ। जो पहले से अमीर हैं उनकी तिजोरी और भर जाए, विदेशी आका खुश रहें। सरकार के लिए इन इलाकों में विकास का अर्थ इनके सहज जीवन को नष्ट कर देना है। सरकार जितना खर्च इन इलाकों में तैनात सुरक्षा बलों और पुलिस पर करती है ताकि इन आदिवासियों पर जो अपने वजूद की लड़ाई लड़ रहे हैं नकेल कसी रहे, उतने खर्च से दस गुने कम खर्च में पूरे क्षेत्र के आदिवासियों के जीवन को सँवारा जा सकता है, उनके जीवन में खुशहाली लाई जा सकती है। पीने के पानी की कोई योजना चलाई जा सकती है और उनके लिए स्वास्थ्य सुविधाओं की बहाली की जा सकती है।

इन इलाकों में जब किसी नदी पर पुल बनता है तो आदिवासियों की चिन्ता बढ़ जाती है। पुल बनने का अर्थ है कि अब ठेकेदारों और बाहर के लोगों का इन इलाकों में निर्बाध प्रवेश और शोषण के नए अध्याय की शुरुआत। ये ठेकेदार यहाँ आकर जंगल नष्ट करेंगे, उनके आवासों को नुकसान पहुँचाएँगे, उनको कर्जा देकर उनकी ही जमीनों से उनको बेदखल करेंगे। उनको मजदूरी के नाम पर इतना भी न देंगे कि वे अपने पूरे परिवार का एक जून का पेट भर सकें। सरकार का तर्क होता है, पुलों के द्वारा दुर्गम इलाकों को जोड़ना जो दूसरे अर्थ में विकास कहलाता है। जो इस कथित विकास का विरोध करता है वह आतंकवादी है, नक्सली है। इसे सरकार नक्सलियों की उपस्थिति बताती है। ये नक्सली भोले आदिवासियों को बरगलाते हैं, उन्हें हथियार उठाने के लिए उकसाते हैं। इसलिए इनको काबू में रखने के लिए सुरक्षाबलों की तैनाती की जाती है। ताकि आर्थिक सुधारों और विकास के मार्ग में कोई रोड़ा न अटका पाए।

कई रातें ऐसे ही बिना किसी चर्चा के निकल गईं। न जाने क्यों माँ ही चुप रही आई। अनुराग ने भी कोई किस्सा नहीं छेड़ा। फिर एक रात उसने माँ से पानी का किस्सा कहना अपने-आप शुरू कर दिया।

किस्सा नदी के पानी बेचने का

फरवरी की वह मादक दुपहर थी माँ, जब हम चार जन गम बूट पहिने पहाड़ियों से घिरे जंगल के उस इलाके से गुज़र रहे थे। आधी धूप और आधी छाँह से गुजरते हुए। पंडकी का सुर रह-रह कर आता है। पूरे वन प्रांतर में कठफोड़वा की यकसां किट-किट-किट किसी मंत्र ध्वनि की तरह गूँजती है। झाड़ झंखाड़ हवा भरने से जैसे अपने होंठों से फिस-फिस स्वर निकालते हैं। अनाम-सी धीमी खुशबू फेफड़ों में घुल कर बाहर निकलती है तो हवा पुलक उठती है। पाकड़ के पेड़ की किसी टहनी से वनसुग्गों का एक इन्द्रधनुषी झुण्ड सहसा पत्तों और टहनियों के बीच से उड़ जाता है जैसे बादलों के बीच से सहसा बादलों का पट खोल कर सूरज उग आया हो। बाँस की सुरमई लचक भरी डालियों के पास कहीं से मैना का मीठा स्वर बज उठता है। जामुन की डालें हवा के बहाव में झूमती जैसे हमारे स्वागत में खड़ी हो गई हों।

हम सब एक जन-अदालत में जा रहे हैं। एक जंगल के पचास मड़ई के बसे गाँव में यह अदालत लगनी है। निहत्थों और हाशिए पर आए लोगों की अदालत जो संक्षेप में कारगर फैसले करती है। देश की अदालतें इनकी पहुँच से बहुत दूर और बेहद खर्चीली हैं। इन अदालतों के निर्देशों पर चलने वाली पुलिस पूरी तरह दमनकारी है और ऐसी अदालतों और पुलिस पर उनको भरोसा नहीं है।

दुपहर लटके हम लोग उस गाँव में पहुँच गए थे। हमारे पहुँचते ही अदालत का काम शुरू हो गया। पहले एक दो गाँव के स्थानीय मसले पेश हुए और उस पर अदालत में विचार कर फैसला दिया गया जिसे दोनों पक्षों ने स्वीकार कर लिया। फिर एक ऐसा मसला आया जिसमें हमारी राय माँगी गई। गाँव से आधा किलोमीटर दूरी पर बहने वाली गाछिन नदी पर से गाँव के एक आदमी भंगेरी को परियोजना वाले लोगों ने पकड़ लिया था। भंगेरी का कसूर ये था कि वह नदी से मछलियाँ पकड़ रहा था।

गाँव का मुखिया जब परियोजना वालों से मिला तो उनका जबाब था कि उन्होंने नदी का ठेका ले लिया है और उसके पानी, मछलियों पर उनका अधिकार है। भंगेरी ने जितनी मछलियाँ पकड़ी हैं उतनी कीमत का काम करा के ही वे भंगेरी को आज़ाद करेंगे।

खैर एक दो दिन में भंगेरी छूट ही जाएगा। चिन्ता की बात ये है कि वे कहीं नदी के पानी पर प्रतिबन्ध लगाकर गाँव वालों को पानी भरने से न रोक दें। अभी भंगेरी को रोका है कल गाँव वालों को मना कर देंगे। मुखिया ने ये भी बताया कि वे यानि परियोजना वाले नदी का पानी बोटलों में बन्द कर बेचेंगे। इसके लिए सरकार से उनको परमिट मिला है।

समस्या सचमुच गम्भीर थी। पानी के बिना तो गाँव प्यासा मर जाता। कोई दूसरा स्रोत पानी का था नहीं। पहाड़ पर एक झरना था पर इसके लिए पहाड़ पर चढ़ना एक समस्या थी। सदियों से गाँव वालों के पुरखे इसी नदी के पानी पर निर्भर रहते आए थे। इसलिए ये संकट अभूतपूर्व था।

हमने सुझाव दिया कि इस समस्या के निदान के लिए एकमात्र उपाय संघर्ष ही है। पर पहले तो पोस्टर चिपका कर उनको आगाह किया जाए। अगर इससे मान जाते हैं तो ठीक। वरना इन लोगों के खिलाफ जंग का एलान किया जाएगा। अगले एक महीने तक लगभग रोज ही परियोजना के जंगल में बने दफ्तर में पोस्टर चिपकाए गए। पेड़ों के तनों और चट्टानों पर हैण्डबिल लगाए गए। आगे कस्बे तक में पोस्टर चिपकाने का काम किया गया। इसका कोई असर नहीं हुआ। उल्टे परियोजना वालों ने स्थानीय प्रशासन से मदद लेकर पुलिस बुला ली। अब पुलिस नदी के लम्बे किनारों पर गश्त करती रहती। इतना जरूर हुआ कि किसी ने गाँव वालों को पानी भरने से नहीं रोका। भंगेरी को तो चौथे दिन ही छोड़ दिया गया।

पर खतरा टला नहीं था। किसी भी दिन पानी के लिए मना किया जा सकता था। अब इस गाँव के साथ आसपास के दस गाँव वाले और शामिल हो गए थे। इन गाँवों से एक जत्था परियोजना के सीओ से मिलने के लिए शान्तिपूर्ण मार्च के साथ रवाना हुआ। पर जत्थे को देखते ही पुलिस ने हवा में गोलियाँ छोड़नी शुरू कर दीं। जत्थे के लोग भागे तो नहीं पर उनको मिलने भी नहीं दिया गया। दूसरे दिन सुरक्षा बल वाले गाँव आए और आठ लोगों को पकड़ कर ले गए। इन आठ लोगों में दो औरतें बिछी और नायना भी शामिल थीं।

आन्दोलन फिर भी शान्त नहीं पड़ा। पन्द्रह दिन बाद फिर एक जत्था रवाना हुआ और उसे भी मिलने नहीं दिया गया। फिर कुछ दूसरे गाँव से भी गिरफ्तारियाँ की गईं। जब यह पाया गया कि अपनी माँगों पर शान्तिपूर्ण ढंग से की गई कार्यवाही पर भी कोई सुनवाई नहीं हो रही है और पुलिस उत्पीड़न और दमन बरकरार है और उनके नाजायज बचाव में सरकार ही सामने आ गई है, तो फिर यही सोचा गया कि अब हिंसा का रास्ता अपनाने के अलावा कोई उपाय शेष नहीं बचा है।

एक गहरी काली रात दस लोग तैयार होकर गए। उनके पास बन्दूकें थीं और हौसले थे। वे लुकते-छुपते गए और सीओ का अपहरण उसके आवास से करके ले आए। उसे

दूर जंगल में ले गए। सुरक्षाबलों की पहुँच से दूर दुर्गम स्थान पर। दूसरे दिन परियोजना के ऑफिस में कोहराम मच गया था। सुरक्षाबल वाले बेहद बौखलाए हुए थे। उन्होंने गाँव में कहर मचा दिया। बच्चों तक को उन्होंने अपनी हिंसा का शिकार बनाया। लेकिन बाद में शायद सोचा गया कि इससे सीओ की जान जा सकती है उन्होंने हिंसा तो बन्द कर दी पर उसे छोड़ने के लिए दबाव बढ़ाने लगे। दूसरे गाँव के मरदों और औरतों को पकड़ कर वे ले गए। पूरा इलाका पुलिस छावनी बना हुआ था।

सीओ को अगवा करने वालों ने जब तक सीओ से यह नहीं लिखवा लिया कि वह नदी के पानी के इस्तेमाल को नहीं रोकेगा और न किसी को मछली पकड़ने से मना करेगा उसे नहीं छोड़ा। छूटने के बाद सीओ एक घण्टे के लिए भी वहाँ जंगल के परियोजना के दफ्तर में नहीं रुका। उसने कहा कि वह नौकरी छोड़ देगा और वह जंगल से भाग गया। यह संघर्ष लम्बे समय तक चलता रहा। नया सीओ आया तब भी कोई सुधार नहीं आया। एक दिन गाँव वालों ने सुरक्षा बलों की एक लारी ही बारूद से उड़ा दी। दस सिपाही मारे गए। इसके बाद परियोजना के दफ्तर में अफरा-तफरी मच गई। स्थानीय प्रशासन ने लाख सुरक्षा के आश्वासन दिए पर कोई भी वहाँ रुकने को अब तैयार नहीं था। अन्त में परियोजना बन्द हो गई और उन्हें वहाँ से भागना पड़ा।

अनुराग को घर लौटे दस माह का समय बीत गया था।

माँ की आँखों में जिन्दगी की चमक भर गई थी। जहाँ पहले नज़र में धुँधलापन था और छाती में टूटती साँसों की थरथराहट की गम्भीर आहट थी वहाँ अब गौरियों की चहचहाहट भर गई थी। उनके डगमगाते जिस्म में एक चुस्ती आ गई थी। दवा, दुआ और सेवा सब उनको लग रही थी। लग रहा था कि दो तीन साल तक अब कोई उन साँसों को डिगाने वाला नहीं है। किसी माँ को इससे बड़ी खुशी भला क्या होगी कि उनका एक बरसों से छूटा बेटा अचानक उनके जीवन की अवसान बेला में उनके पास लौट आया है।

अनुराग को सन्तुते-गुनते माँ को लगा था कि यह जो उनका बेटा अनुराग है वह किन्ही दूसरे तन्तुओं से बना है। दूसरों से अलग हट एक सर्वथा भिन्न मिट्टी का बना। सबसे अलग और अनूठा। उसके ऐसे सपने हैं जिनमें अपने लिए कुछ नहीं, समाज और उसके सबसे निचले तबके के लिए है, जो कुछ है। उसका सपना है एक समतावादी, शोषणविहीन समाज बनाने-रचने का। यह आसान नहीं है। जबकि पूरी सत्ता इस सपने के खिलाफ उठकर खड़ी हो गई है। जो दूसरों के जीवन को सुरक्षित करने के लिए अपने जीवन को होम करने की ठाने हो उससे बड़ा कर्मवीर कौन हो सकता है। जबकि कदम-कदम पर मौत उसको गले लगाने को आतुर खड़ी हो। सपनों की खासियत यही होती है कि वे देखे जाएँ पर जब कोई इन्हें हकीकत बनाने पर तुल जाए और इन्हें ही सच मानने लगे तो उनके सामने तो सब कुछ बौना लगने लगता है—प्रतिष्ठा, सफलता, सम्पन्नता और आदर्श।

माँ को सहसा लगा कि वे बेटे के सपने को मान्यता दे बैठी हैं। अनुराग के मुँह से ये हकीकतें सुनकर किस व्यक्ति को शर्म न आएगी, किसका कलेजा मुँह को न आ जाएगा। किसका सिर न घूम जाएगा। उन्हें लगा कि वे बेटे के सपने के सामने बौनी पड़ गई हैं। उन्होंने बेटे की आँखों में एक पूरा निष्पाप जंगल देख लिया था जहाँ उसका सपना पल रहा था।

माँ ने मन ही मन कहा—नहीं! उन्हें अब जीने का हक नहीं है। जल्दी से जल्दी उन्हें अपनी इस काया को खत्म करना होगा। जब तक वे जिन्दा रहेंगी बेटे की ज़िम्मेदारी उनके लिए बनी रहेगी। उनके जीने का अर्थ है बेटे के पाँवों में बेड़ियाँ डाले रहना। उसके सपने उनके सपनों से बड़े हैं। स्वयं को निष्प्राण कर उनको बेटे को स्वतन्त्र करना होगा। जब तक वह यहाँ रहेगा उसकी आँखों में जंगल झूलता रहेगा। उसका वजूद जंगल की हवा है। उसके सपने ही अब उसके प्राण हैं, उसकी शक्ति है।

एक दिन अनुराग ने सहसा देखा कि नाली के पास एक नीली छोटी गोली पड़ी है। फिर दूसरी ब्राउन रंग की गोली पलंग के नीचे पड़ी मिली और एक आँगन में। उसने सोचा ऐसे ही माँ के हाथ से छिटक गई होंगी। पर दूसरे और तीसरे और उसके अगले दिन भी यही हुआ तो उसके कान खड़े हुए। एक दिन उसने माँ को गोली फेंकते और दवाई की शीशी भी नाली में लुढ़काते खुद देख लिया।

उनकी तबियत भी गिरी-गिरी दिखी। वह समझा नहीं। पूछा—माँ आजकल दवा नहीं खा रही हो। जबकि तुम्हारी सेहत इससे बनने लगी है और तबियत में बहुत सुधार आ गया है।

अब मुझे कोई दवा नहीं खानी है। बहुत दवा खा ली। कब तक इस देह से चिपकी रहूँगी—माँ ने दो टूक कहा।

फिर तबियत कैसे ठीक होगी तुम्हारी?

क्या करूँगी तबियत ठीक करके। मेरा अब मर जाना जरूरी है।

क्यों ऐसा कहती हो माँ?

तो क्या कहूँ। तुझे इस तरह अपनी सेवा-सुश्रुषा में बाँध कर मैं तेरे ऊपर अत्याचार कर रही हूँ। तेरे जो सपने हैं उनको कुचल रही हूँ। नहीं बेटा, मैं मर कर तुझे आजाद करना चाहती हूँ। तुम जहाँ से आए हो वहीं जंगल लौट जाओ कामरेड—माँ का स्वर जिसमें कोई थरथराहट नहीं बल्कि दृढ़ता है उसके कानों में पड़ता है।

कामरेड शब्द का अर्थ माँ अच्छी तरह जानने लगी हैं—ऐसा व्यक्ति जो पार्टी के सिद्धान्तों के लिए एक सपना अपने मन में पाल ले और उस सपने को पूरा करने के लिए अपने पूरे जीवन हो होम कर दे। अनुराग के मुँह से बार-बार उसने ये शब्द सुने हैं—कामरेड, प्रतिबद्धता, जुनून, सैद्धान्तिकी, नक्सली, रेड कारीडोर, माओवादी। अब इन शब्दों के अर्थ जानने के लिए माँ को किसी व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। ये शब्द उनकी साँसों में बँध गए हैं।

एक दिन माँ ने अपने सिरहाने से निकाल कर अनुराग की डायरी उसे वापस कर दी तो वह चकित रह गया। क्या माँ ने डायरी पढ़ ली है? वह कयास नहीं लगा पाया।

माँ ने दवा एकदम बन्द कर दी और हफ़्ते भर के भीतर ही वे चारपाई से जा लगीं। अगले हफ़्ते उनके प्राण पखेरू उड़ गए। कामरेड अनुराग उनके दाह संस्कार तक रुका रहा। भाइयों ने संस्कार की गहमा-गहमी में उससे नहीं पूछा कि वह अब क्या करेगा। श्मशान से बाहर निकलते एक शब्द अनुराग के कानों में गूँजा-जंगल लौट जाओ कामरेड! एक साँझ वह अपने घर से निकल गया। किसी जंगल की राह में वह मिल सकता है अपने सपने को पूरा करने के लिए। कामरेड की साँसें अब जंगल में ही बन्द होंगी।

नोट—यह कथा लिखने की प्रेरणा पुण्य प्रसून वाजपेयी के जनसत्ता और अन्यत्र छपे लेखों से मिली। उनका आभार मानता हूँ।

कहानी लिखने का दबाव बनाने, बार-बार इसके लिए टोकने और सामग्री उपलब्ध कराने में मेरे अन्तरंग डॉ. विद्याप्रकाश तिवारी, उपाध्यक्ष इष्टा, म.प्र. ने अहम् भूमिका निबाही है। वैसे भी वे मेरे सुख-दुःख के साथी रहे हैं। कहानी को इस रूप में प्रस्तुत कर पाने के लिए उनका भी बहुत-बहुत आभार।

विरासत

✍ वंदना राग

गो न समझूँ उसकी बातें गो न पाऊँ उसका भेद

—गालिब

आज फिर पिता, पिता की तरह नहीं, छाया की शक्ल में दोपहर के सपने में सरपट, किसी लम्बे सफर पर जाने को आतुर से गुज़र गए। जब तक उन्हें ठीक से देख पाता, चारों ओर गुच्छा-गुच्छा कुहासा हवा में झूल गया। हवा भारी हो गई और अँधेरा छा गया।

बड़े लोग छोटे कैसे हो जाते हैं? बड़े लोगों को कोई छोटा बनाना चाहता ही क्यों है? बड़े लोग जैसे बड़े कलाकार, फनकार। शोहरत वाले बड़े लोग, राज्यों वाले बड़े लोग...! बड़े लोग जैसे वाजिद अली शाह...लखनऊ का बादशाह! अंग्रेज़ों ने कैसे उसे बेदखल कर लखनऊ से बाहर खदेड़ दिया! बड़ा आदमी था वह। फिर भी? कहते हैं, जब जा रहा था, कह रहा था, “जब छोड़ चले लखनऊ नगरी, पूछो न हमपे क्या गुज़री?”

बड़े लोग, जैसे पिता।

मैं दोपहर में कभी नहीं सो पाता हूँ। सिर्फ इतवार का दिन ही वह दिन होता है, जब मैं दोपहर में दो घड़ी आराम करता हूँ। आज वह भी सम्भव नहीं लग रहा है। दीपावली आ रही है, घर की साफ-सफाई मुझे ही करनी है। मुझे ही फिर जुटना होगा...! दिल्ली में तो आजकल फेस्टीवल प्लानर्स मिलते हैं। बड़े लोग अपने घर की साफ-सफाई, डेकोरेशन और पार्टी का इंतज़ाम उन्हें ही दे देते हैं।

मैं बड़ा आदमी नहीं हूँ।

घर साफ करने की क्षुद्र बात मन में लाने के बाद, मैं फिर पिता पर लौटकर आता हूँ। याद आता है, जब हम लखनऊ में रहा करते थे, तो कितने ठाठ थे हमारे। तब जब हमारा बचपन था। तब जब पिता एक बड़े रूआबदार पद पर बैठा करते थे। तब जब, यूँ ही तफरीह के लिए हम भाई-बहन, पिता के दफ़्तर तक टहलते हुए चले जाया करते थे। पिता का दफ़्तर, घर से बहुत दूर नहीं था। हम सँभलकर फुटपाथ पर चला करते थे, छोटी का हाथ थामे। वह भी बहुत सँभल कर छोटे कदमों से फुटपाथ नापती जाती थी और गिनती जाती थी,

एक-दो-तीन।

हम दुलार से छोटी को कभी-कभी अपनी हथेलियों की मदद से थामे हुए, हवा में उछाल देते थे। वह खुश होकर कहती थी—पचास-और हम पिता के दफ़्तर के पास होते थे। इतना ही नज़दीक था, पिता का दफ़्तर। सचमुच इतना कि उस फुटपाथ पर अन्य

चलने वाले लोगों की नज़र से भी ओझल ही रहते थे हम। कोई नहीं कहता था, देखो तीन छोटे बच्चे अकेले ही फुटपाथ पर कहीं जाने को निकल पड़े हैं।

पिता के आलीशान कमरे में पहुँच हम आलीशान हँसी के साथ कहते थे,
“हम थम्सअप पिँगे।”

उस समय कोक और पेप्सी इस देश में आकर पूरी तरह छाए नहीं थे और बड़े लोग और उनके बच्चे जिनकी संख्या कम थी, थम्सअप ही पीते थे। छोटी कभी थम्सअप पूरा नहीं पी पाती थी। दो घूँट पीने के बाद वह बोतल मुझे पकड़ा देती थी और मैं गटगट पीते हुए बड़े और समर्थ भाई होने का फर्ज निभाता था। पिता हँसते थे, धीरे-धीरे एक निडर ऊँची हँसी। अपने कद से बहुत ऊँची हँसी। पिता का कद छोटा था, लेकिन उनके उच्च अधिकारी उनका बहुत आदर करते थे और कहते थे, पिता तो नेपोलियन हैं।

पहली बार हमारे सामने पिता को नेपोलियन कहे जाने पर छोटी सहम कर चुप हो गई थी। बाद में रूआंसी होकर बोली थी,

“पिता तो पिताजी हैं, नेपोलियन नहीं।”

छोटे भाई ने उसके अबोध ज्ञान पर, उसकी चोटी खींचते हुए कहा था।

“पगली अंकल ने तो पिता को नेपोलियन जैसा कहा था, नेपोलियन नहीं और नेपोलियन तो फ्रांस का सम्राट था, बहादुर—इतिहास में नाम है उसका।”

छोटे भाई और बहन की उम्र में कम ही फासला था। छोटा भाई बहन को अक्सर ही चिढ़ाया करता था, जैसे बहुत प्यार करने वाले भाई अपनी बहनों को चिढ़ाया करते हैं। मैं दोनों से बड़ा होने के नाते दोनों के बीच सुलह करवाया करता था। बहन छोटे भाई से समझाने पर भी नहीं मानी थी, वह देर तक कहती रही थी,

“पिता सिर्फ पिता हैं, सम्राट-वम्राट नहीं।”

मैं उस दिन देर तक अपने दो मंज़िले, आलीशान घर की छत पर अकेला बैठा सोचता रहा था, पिता को मैं कैसे अधिक पसन्द कर पाऊँगा, सिर्फ पिता की तरह या सम्राट जैसे पिता की तरह!

दिल्ली का यह फ्लैट जिसमें आज हम रहते हैं, दो बेडरूम और एक ड्राइंग रूम का है। तीन चार वर्ष पहले की ही तो बात है, जब एक सुबह मैं नहाकर, अपनी कमीज़ के बटन दुरुस्त करता हुआ ऑफिस जाने की जल्दी में था, तभी मैंने पिता को पहली बार बहुत जोर से चिल्लाते हुए सुना था। मेरे माथे पर पसीना चुहचुहा गया था। क्या हो गया पिता को?

पिता कह रहे थे,

“मोहन अडवाणी, तुम अपने आपको समझते क्या हो? तुम्हें मैं बार-बार फोन लगाता हूँ और तुम लगातार व्यस्त होने का ढोंग करते हो? मेरी रकम लौटाते क्यों नहीं?”

मोहन अडवाणी के नाम से मैं परिचित था, लेकिन इससे पहले पिता कभी भी उसके नाम को लेकर चिल्लाए नहीं थे। इससे पहले वे कितनी ही बार मोहन अडवाणी की चर्चा मुझसे कर चुके थे। कैसे उनकी नौकरी के दिनों के समय से मोहन अडवाणी की कम्पनी पिता की कंसलटेंसी की फीस के रूपए दबाए बैठी थी। कैसे रिटायरमेंट के कई वर्षों बाद

तक पिता पैसा माँगना टालते रहे थे लेकिन आज परिस्थितियाँ बदली हुई थीं और क्या एक इज्जतदार आदमी को किसी दूसरे आदमी का पैसा रोकना शोभता है? यह तो नीति के खिलाफ़ बात हुई। 'नीति' बोलते वक्त वह मेरी पत्नी और मुझे 'तुम लोग क्या समझोगे' वाली निगाहों से देखने लगते थे। पिता ने इस तरह कई बार मोहन अडवाणी की इस बात को सुनाने के बाद और मेरे से अपने मन लायक जवाब न पाने के बाद कहा था कि अब वे मानेंगे नहीं, अब वे बेधड़क होकर मोहन अडवाणी से पैसे माँग लेंगे। पिता की इस बात को भूल वश मैंने धमकी की तरह नहीं लिया। मुझे यह भी नहीं लगा कि पिता अपना शील संकोच त्याग देंगे और एक बड़ी कम्पनी के बड़े चेयरमैन से अपनी बारह साल पहले की बकाया रकम इस अंदाज़ में माँग बैठेंगे। मैंने नहीं सोचा था "मोहन अडवाणी...SSS" वही मोहन अडवाणी, जो कल तक सिर झुकाकर पिता को सर-सर कहते नहीं थकता था, आज पिता को इतने दयनीय दृश्य में कैद कर लेगा कि मैं उससे आजीवन घृणा करता रहूँगा।

पिता फ़ोन पर बात करते वक्त जो खड़े हुए थे, ठीक वैसे ही अब तक खड़े थे और हाँफ़ रहे थे। मैंने और पत्नी ने मिलकर उन्हें सोफ़े पर बिठाया। पत्नी पहले पानी लाई फिर उसने मुलायमित से पूछा,

“पिताजी चाय लाऊँ?”

उन्होंने बिना पत्नी की ओर देखे कहा,

“नहीं।”

उस दिन की उनकी उस आवाज़ को कभी न भूल पाने वाली कुछ चीज़ों की तरह मैं कभी नहीं भूल पाऊँगा। वह गला बझी हुई आवाज़ थी। वह एक ऐसे योद्धा की आवाज़ थी, जो अपनी गलती से नहीं हारता। उसके अपनों का छल उसे हरा देता है और वह हतप्रभ रह जाता है, क्योंकि अपनों द्वारा रचाई गई साजिश की कल्पना तो उसके लिए असंभव रही थी।

इस घटना के साथ ही मैं अचानक अपने बचपन के दिनों के शहर लखनऊ पहुँच जाता हूँ और पिता के इर्द-गिर्द के उस आभामण्डल को खोजता हूँ। लेकिन फिर मैं जल्द ही एक झटके से दिल्ली वापस लौट आता हूँ। अब मैं उस आभामण्डल में प्रवेश कर सूराख करने वाले दुश्मनों को खोजता हूँ। मुझे आश्चर्य होता है, उन दुश्मनों में मोहन अडवाणी नहीं है। उन दुश्मनों में मोहन अडवाणी जैसा एक भी व्यक्ति नहीं है। उन दुश्मनों में मुझे 'सरकार' नाम की व्यवस्था दाँत चियारे खड़ी नज़र आती है। उसकी संरचना आक्टोपस जैसी है और उसकी लम्बी शाखाएँ मेरे घर के अन्दर तक घुस आई हैं। हद तो तब होती है, जब मैं अपने आपको उसी सरकार का मुकुट उठाए चलता पाता हूँ। पूरी धार्मिक निष्ठा के साथ।

आज जिस फ्लैट में मैं रह रहा हूँ, वह पिता का ही बनवाया हुआ है। बाहरी दरवाज़े पर मेरे पिता का नाम खुदा हुआ है। घर की सारी डाक पिता के नाम से ही आती है। फ्लैट की सीढ़ियाँ उतरने पर लोग मुझे पिता के बेटे के रूप में ही नमस्कार करते हैं। मेरे पिता के नाम की रोशनी, उनके रिटायर होने के इतने वर्षों बाद भी पूरी सोसायटी में जगमगाती

रहती है। लेकिन इसके बावजूद मैं अजीब सी कश्मकश में अपने को फँसा हुआ पाता हूँ। जब मैं पिता के लिए इतना कृतज्ञ होकर सोचता हूँ, तो पिता के दुश्मन के रूप में मैं अपने आपको कैसे देख लेता हूँ? और वह भी सरकार से हिला-मिला सा होके?

सच तो यह है कि इस देश के अधिकांश नागरिकों की तरह, सरकार से मेरा नाता, चुनाव के दौरान ही प्रकट होता है और वोट देने के साथ समाप्त हो जाता है। वोट देते वक्त, एक पढ़ी-लिखी इच्छा, मुझे ज़रूर तंग करती है। वह कहती है, सही सरकार का चुनाव करो जो तुम्हारा कुछ भला कर सके। इस देश के भले के बारे में मैं बहुत नहीं सोच पाता हूँ। मैं उन उत्साही लोगों से भिन्न हूँ, जो वोट देने के बाद इस आशा में बैठे रहते हैं कि उनके वोट का सदुपयोग हो और उनकी सरकार बने। वैसे लोग, अपने से भिन्न मतवालों को 'तुम्हारी सरकार' कहकर बातें करते हैं। वे अपनी सरकार को लेकर लगभग कट्टर किस्म के हो जाते हैं।

पिता मुझसे अलग हैं। उनकी राजनीति में हमेशा से बहुत रुचि रही है। लेकिन वे भी किसी पार्टी या विचारधारा को लेकर कट्टर किस्म के कभी नहीं रहे हैं। इधर के वर्षों में मगर मुझे न जाने क्यों लगने लगा है कि वे अपनी राजनैतिक विचारधारा और पार्टी को लेकर आग्रही होते जा रहे हैं। वे खुलकर ऐसा कुछ कहते नहीं, इशारा भर कर देते हैं।

मेरे दिमाग में पिछले लोकसभा चुनाव की बात कौंधने लगती है। पिता को अपने बजाज स्कूटर पर बिठाकर मैं वोट दिलवाने ले गया था। पिता को स्कूटर पर बैठने में दिक्कत होती थी। वे जीवन भर कार में चले थे। मुझे याद है, बचपन के दिनों में हमारे पास एक नीले रंग की फियेट कार हुआ करती थी। उससे जब हम स्कूल जाया करते थे तो स्कूलवालों पर बहुत भारी प्रभाव पड़ता था। मेरे दोस्त, अपने माँ-बाप को मेरे बारे में शान से बताते थे,

“हमारा दोस्त गाड़ी से स्कूल आता है।”

उस समय कम लोगों के पास कार होती थी और उससे भी कम लोग उसका स्कूल जाने के लिए इस्तेमाल करते थे। मैं जब भी पिता को स्कूटर पर ले जाता था, बहुत धीरे-धीरे स्कूटर चलाता था। जिससे पिता को कोई असुविधा न हो। वोट डालने वाले स्थान पर बहुत सारे सोसायटी के परिचित लोग मिल गए। पिता ने उनको नमस्कार किया और वोट डालने चले गए। लौटते वक्त उनके चेहरे पर कई तरह के रहस्य नाच रहे थे। उन्होंने मुझसे नज़र मिलाने के बाद प्रत्याशियों के प्रचार के लिए लगे ऊँचे पोस्टरों में से एक की ओर देखा। हठात् मेरी नज़र भी उधर चली गई। वह किसी नौजवान लड़के का पोस्टर था, जो किसी नई बनी पार्टी से खड़ा हुआ था। उस पार्टी का नारा भी वहाँ छपा हुआ था।

“समय रहते व्यवस्था बदलो।”

तो क्या पिता ने एक नगण्य पार्टी के छुटभैया नेता को अपना वोट दे डाला था और वो यह बात मुझे जतला देना भी चाह रहे थे। मैं जब तक कुछ समझ पाता, सोसायटी के सारे परिचित हमारे नज़दीक चले आए। वे सब पिता से कहने लगे,

“कैसे हैं!”

“अब तबीयत कैसी है?”

“बहुत दिनों से टहलने नहीं आए?”

“अब पार्क के एक हिस्से में हम योग करते हैं।”

“कुछ लोग भजन भी गाते हैं।”

“ये नई गतिविधियाँ हैं।”

“कल से आइए, आप आएँगे तो हमें अच्छा लगेगा।”

वे सब हाथ जोड़कर सिर झुकाए, ऐसे बात कर रहे थे जैसे पिता को वे किसी भव्य आयोजन में चीफ गेस्ट होने की दावत दे रहे हैं। मैंने देखा पिता वैसे ही भीने-भीने ढंग से मुस्कुराए, जिस ढंग से तब मुस्कुराया करते थे, जब हम लखनऊ के दिनों में उनके दफ्तर जाया करते थे और वे अपना काम निपटाते हुए, हमारे लिए मुस्कुराहट के क्षण निकाला करते थे। पिता को यूँ देख मैं खुश हो गया और उन्हें स्कूटर पर पीछे बिठाते हुए बहुत उमंग से बोला—

“पिताजी अपनी सुबह की सैर फिर से शुरू कीजिए न। लोग आपको कितना पूछते हैं।”

मैं जानता था, पिता को टहलने के अलावा किसी भी प्रकार की वर्जिश पसन्द नहीं। योग भी नहीं। मैं यह भी जानता था, पिता को पार्क में बैठ भजन गाने वाले लाचार और बे काम के लगते थे। फिर भी बड़े दिनों बाद पिता के होठों पर पुरानी वाली मुस्कुराहट देख मैं बोरा गया था। मैं सड़क पर ध्यान केन्द्रित कर बहुत धीरे-धीरे कंकड़-पत्थर बचाते हुए स्कूटर चला रहा था, जब पिता आदत से अधिक जोर लगाकर बोले,

“अब तुम भी मुझे सरकार की तर्ज पर रिटायर करना चाहते हो?”

यह सुनते ही मेरे हाथ स्कूटर के हैंडल पर अनायास ही कस गए। मैंने ऐसा क्या कह दिया था? मैंने तो पिता को खुश करने के लिए एक बात कही थी। एक सहज बात। लेकिन पिता ने उसे सरकार की मंशा के साथ जोड़कर मुझे वही बना दिया था, जिसका मायावी ढंग से मैं बार-बार मन में चित्रण करता था। मैंने कहीं पढ़ा है कि दुनिया के कुछ वैज्ञानिक मानते हैं कि इस पृथ्वी पर घट चुकी, घट रही या भविष्य में घटने वाली सारी बातों की मनुष्य कल्पना कर सकता है। उन्हें लिख सकता है। उनके चित्र बना सकता है। तभी खोजें भी सम्भव हुई हैं।

तो क्या मैं, जो मन में इन मायावी चीजों को देखने लगा हूँ उसके पीछे कुछ सच्चाई ही है!

लोकतन्त्र में तो सरकार अपने लचीले नियमों से ही चलेगी। सरकार ने किसी बदनीयती से पिता को रिटायर नहीं किया था। पिता की उम्र हो चुकी थी। यह सच है कि पिता ने अपने संस्थान की खूब सेवा की। फिर भी उन्हें एक्सटेंशन नहीं मिला। हो सकता है, उस वक्त के लिए यह सम्भव नहीं रहा होगा। बाद में अखबारों में पढ़ा, उसी संस्थान ने पिता के साथ रिटायर होने वालों को अपने और साझे संस्थानों में कई उच्च पदों पर नियुक्त किया।

छोटा भाई जो अब मुंबई में रहता है, कहता है कि पिता को इस बात का सदमा

लगा है। छोटी जो अब आगरा में रहती है समझदारी से कहती है, भला रिटायरमेंट का भी सदमा हो सकता है? पिताजी के तीन स्वस्थ बच्चे हैं, एक बहू, दामाद है। एक पोता और इतनी ही प्यारी नातिन है (यह बोलते हुए वह अभिमान से अपनी चार वर्ष की बेटी को गोद में दुबका लेती थी)। नातिन की भोली बातों से पत्थर भी हें-हें कर हँस पड़े, फिर पिता जी क्यों नहीं हँस सकते? इतना भरा पूरा तो जीवन है उनका!

हम आपस में माँ की बातें कम ही करते थे। माँ पिता के रिटायरमेंट और लखनऊ से दिल्ली शिफ्ट होने के बाद पाँच ही वर्ष हमारे साथ गुज़ार पाई थी। माँ का जाना, हमारे लिए मृत्यु जैसे दुःख से पहले पहल बावस्ता होना भी था। इससे पहले हमने किसी को मरा हुआ नहीं जाना था। माँ के जाने के बाद घर में पैदा हुई खाली जगहें हमें बेतरह डराने लगी थीं। इसीलिए घर में जहाँ-जहाँ माँ रहा करती थी, उन जगहों को हमने अलमारी, कुर्सी और सुन्दर लैंपों से ढँक दिया था। माँ के जाने के बाद हम पूरा ध्यान पिता पर ही उँड़लते थे। फिर पिता क्यों सदमाग्रस्त रहते थे? पिता ने मोहन अडवाणी से इस तरह क्यों बात की?

रिटायरमेंट के तुरन्त बाद ऐसा नहीं लगता था कि पिता परेशान हैं। बल्कि उस वक्त तो उन्होंने अपने उन्हीं तीन उच्चाधिकारियों के साथ वित्तीय सलाहकारों की एक कम्पनी बनाने की सोची, जो पिता को कभी फाइटर, कभी उलझनों को सुलझाने वाला मास्टर और कभी आदर्श अधिकारी कहा करते थे। इन तीनों अधिकारियों में पिता को नेपोलियन कहने वाले अधिकारी शामिल नहीं थे।

पिता जब नौकरी में थे तो रात दो-दो बजे तक जगकर ऑफिस की फाइलें निपटाते रहते थे। फाइल निपटाने के बाद फाइल को वे फर्श पर ज़ोर से पटक देते थे। रात को पटकने की यह आवाज़ बहुत ऊँची मालूम देती थी। हम भाई-बहन उसे सुन चौंक कर उठ जाते थे और फिर पिता की आदत को याद कर हँसते-हँसते सो जाते थे।

रिटायर होने के बाद भी पिता का रात को देर तक जगने का रवैया कायम रहा। वे ड्राइंग रूम में बैठे-बैठे टीवी पर वे बारी-बारी से हिन्दी-अंग्रेजी सभी चैनलों पर समाचार देखा करते थे। रात को देर तक एक बुदबुदाती आवाज़ कमरों में फैली रहती थी। मेरी पत्नी को जल्द सोने की आदत थी। उसे जल्दी उठ बेटे को स्कूल भेजना होता था। बहुत सारी तैयारी करनी पड़ती थी। उसे पिता का देर तक जागना अच्छा नहीं लगता था। वह कहती थी,

“इस तरह तो पिताजी की तबीयत खराब हो जाएगी।”

पिता की बनाई कम्पनी की पहली मीटिंग हमारे ही घर हुई। पिता उस दिन कुछ अधिक व्यग्र दिखे। वे बार-बार मेरी पत्नी और बेटे को कहते रहे,

“वे लोग बड़े आदमी हैं, तुम लोग अच्छे से पेश आना।”

मेरी पत्नी पिता के निर्देशों को सुन तंग हो चुकी थी, लेकिन फिर भी मुस्कुराती जा रही थी। उन दिनों माँ भी हमारे साथ थी। वह भी पिता के साथियों को नमस्कार कर जा चुकी थी। माँ ने खूब महीन और महँगी सूती साड़ी पहन रखी थी। वह बहुत गम्भीर लग रही थी। माँ के पास एक ज़माने में देर सारी महँगी साड़ियाँ थीं, लेकिन पिता

के रिटायरमेंट के बाद वो उन्हें विशेष अवसरों पर ही पहनती थी। माँ के जाने के बाद मेरी पत्नी ने उनमें से कुछ साड़ियों को अपने लिए रख लिया। लेकिन पत्नी ने उन साड़ियों को कभी पहना नहीं। मैं सोचता हूँ, शायद माँ की याद के दुःख से बचने के लिए उसने उन साड़ियों को नहीं पहना।

मेरी पत्नी ने माँ से बहुत सारी बातें सीखीं, उनमें सबसे ज्यादा पिता का ख्याल रखना है। फिर भी पिता, पत्नी की देखभाल से खुश नहीं होते। उनकी इच्छा रहती है कि मेरी पत्नी, उनकी बगल में बैठ उनसे राजनीति पर बातें करे। देश की हालत पर चिन्ता व्यक्त करे। वे टीवी पर समाचार देखते-देखते कभी-कभार हवा में सवाल टॉक देते, बिहार में कभी लैंड रिफॉर्मस होंगे कि नहीं? मेरी पत्नी को बिहार की भूमि व्यवस्था में कोई रुचि नहीं। वह बेचारी तो महानगर दिल्ली की इस छोटे से फ्लैट की भूमि व्यवस्था सुधारने में लगी रहती है। पिता अपने सवालियों का मेरी पत्नी से जवाब न पा निराश हो जाते हैं मगर वे पत्नी को कभी दशाते नहीं। वे उसकी पीठ पर हाथ रख कहते हैं :

“बैठ जाओ थोड़ी देर, थक गई होगी।”

मैं सोचता हूँ, मेरी पत्नी भी गजब है। थोड़ी देर बैठकर पिता से देश की हालत पर बात क्यों नहीं कर लेती? लेकिन मैं उससे कुछ नहीं कहता। मैं ही कौन-सा इन सब बातों में रुचि रखता हूँ? फिर भी मैं पिता के पास बैठ जाता हूँ और कहता हूँ :

“पिताजी, बिहार नहीं सुधर सकता, वहाँ जाति दंश इतना है!”

पिता सहमत नहीं होते। सच जानते हुए भी सहमत नहीं होते। वे मूलतः बिहार के ही हैं। वहीं पैदा हुए पले-बढ़े। इस नाते, मेरे मूल में भी बिहार ही है, लेकिन जब मैं जाति व्यवस्था की बात करता हूँ तो पिता मेरी ओर नाराज़गी से देखते हैं, मानों मैं उनका बेटा नहीं कोई और हूँ। मैं कोई ऊँची जात वाला हूँ और इसीलिए भूमि सुधार नहीं चाहता। उनके अन्दर ज़रूर ही कोई डेढ़ा विचार कुलबुलाता है, तभी वे हड़बड़ा कर दवा की एक गोली खाते हैं और मुझे कहते हैं :

“जाओ, तुम्हें ऑफिस के लिए देर हो रही है।”

हालाँकि, पिता मेरे ऑफिस की संरचना और उसके नियम कानूनों से चिढ़ते हैं। कहते हैं, इस तरह के दफ्तर आदमी का खून चूस लेते हैं, फिर भी वे मुझे नियमों का पालन करने की हिदायत देते हैं। मैं उन क्षणों में याद करता हूँ, कैसे पिता सरकारी दफ्तर की नौकरी में दस-दस घण्टे काम कर लेते थे बिना किसी शिकायत, खुशी-खुशी।

ऑफिस से जुड़ी बातें, पिता के अन्दर कितना हौसला भरती हैं, यह उनकी बनाई कम्पनी की प्रगति से समझ में आता है। उनका दिमाग इतनी तेज़ चलता है कि उनके मित्र अपनी सारी कागज़ी जिम्मेवारी उन पर ही छोड़ देते हैं। यह नब्बे का दशक है और पिता अपनी कम्पनी द्वारा ग्राहकों को सरकारी संस्थानों में निवेश करने की सलाह देते हैं। दिल्ली में इस बीच कई प्राइवेट और मल्टीनेशनल कम्पनियाँ अपने पाँव जमा रही हैं। पिता की मर्जी के विरुद्ध मैं उन्हीं में से एक में छोटी नौकरी करता हूँ। पिता उस दौर को सरकार का षडयन्त्रकारी दौर कहते थे। मैं यह सुनकर पिता के अन्दर धीरे-धीरे बढ़ते विरोधाभास से चिढ़ने लगा था। एक तरफ कम्पनी बना रहे थे, जो सरकार को फायदा पहुँचाने का

काम करे, दूसरी तरफ लगातार कहते रहते थे कि ये लोग देश को बेचकर ही दम लेंगे। पिता को किसी भी प्रकार की आक्रामकता पसन्द नहीं थी। फिर पिता ने आक्रामक पार्टी वाले प्रत्याशी को क्यों वोट दिया। यह क्या हो रहा था पिता के साथ?

पिता के अन्दर की उथल-पुथल, इस बात को देख बढ़ने लगती है कि उनके पास एक भी क्लाइंट सलाह के लिए नहीं आता। वे अब बार-बार कहते हैं, यह भी कोई बात है? अब सरकार अपना घाटा खुद चाह रही है तो क्या करें! सारे दरवाजे खोलकर बैठ गई है। चोरों को बाइज्जत घर के अन्दर बुला रही है। पिता हमेशा इशारों में बात करते हैं और मेरी ओर इस आशा से देखते रहते हैं कि मैं उनकी बातों को खटाक से ज़ब्र कर लूँगा। मैं ऐसा करता भी हूँ, लेकिन उन्हें जाहिर नहीं करता। पता नहीं क्यों हम दोनों एक-दूसरे के सामने खुलना नहीं चाहते। मैं अपने तरीकों से मालूमात करता हूँ और सच जानकर मेरे पैरों के नीचे से ज़मीन खिसक जाती है। मुझे पता लगता है कि पिता तो कबके अपनी कम्पनी से अलग हो चुके हैं। बाकी तीनों साथियों का काम खूब फल-फूल रहा है। अब वे सिर्फ़ सरकारी संस्थाओं में पैसा निवेशित करने का काम नहीं करते हैं, अब बड़ी मल्टीनेशनल कम्पनी का कारोबार भी वे देखने लगे हैं। मुझे यह भी पता लगता है कि अब पिता का बैंक बैलेंस कुछ खास नहीं रहा। पिता ने अपनी रिटायरमेंट बेनिफिट का पूरा पैसा इस कम्पनी को बनाने में लगा दिया था।

पिता की तबीयत तभी से ज़्यादा खराब रहने लगी थी। अब वे महीने में तीन हज़ार रुपयों की दवाइयों पर निर्भर हो गए थे। घर का बजट एकदम से गड़बड़ने लगा था। हर दिवाली की तरह इस बार भी छोटा भाई और बहन हमारे घर आए। उन्हें पिता के व्यवहार पर आश्चर्य हुआ। पिता उनसे अजनबियों की तरह व्यवहार कर रहे थे। छोटी को यह देख धक्का लगा। वह अपनी आदत के अनुरूप पूछ बैठी, “पिताजी का उत्साह कहाँ गया है? वे अपनी नातिन को देखकर भी खुश नहीं हो रहे?”

छोटी का जीवन पिता की नातिन और दामाद के आस-पास फैल गया था। उसने पिता के पास से अपनी चीजें समेट ली थीं। इसीलिए वह समझ ही नहीं पाई पिता किन चीजों के खोने का शोक कर रहे हैं। वैसे यह समझना किसी के लिए भी आसान कहाँ था! पिता हर बार छोटी को अपने पास से पैसे देते थे और अपनी नातिन को महँगे चॉकलेट्स। इस बार जब नातिन चॉकलेट के लिए जिद कर बैठी, तो पिता ने मेरे बेटे की ओर इशारा कर कहा था,

“जिद मत करो, भैया की तरह समझदार बनो।”

इसके बाद पिता ने मेरी पत्नी की ओर मदद भरी सवालिया निगाहों से देखा था। पत्नी ने पूरे दृश्य में अपने उपस्थित न होने के तिलिस्म को रचा और ग़ायब हो गई। छोटे भाई ने माहौल के तनाव को ताड़ते हुए रोती बच्ची को गोद में उठा लिया और खिड़की के बाहर उड़ती चिड़िया दिखला उसे बहला दिया। छोटी रूठ-सी गई थी। उसे लगा पिता के घर में उसका मान कम हो गया है। वह भाई दूज के लिए भी नहीं रुकी। दिवाली के अगले ही दिन ताज एक्सप्रेस पकड़ आगरा चली गई।

पत्नी ने अगले दिन से मुझे शर्मींदगी से भर, पूरा आँखों देखा हाल सुनाया था,

“यकीन कीजिए, शाम की सब्जी और दूध के लिए रखे गए पैसों के अलावा पैसे नहीं थे मेरे पास।”

मैं जानता था। मैं सब जानता था। मैं ही तो उसे खर्च के लिए पैसे देता था।

आज 2009 में याद करता हूँ तो याद आता है नब्बे के दशक में मंदी जैसा शब्द हमारे लिए कोई मायने नहीं रखता था। लेकिन क्या पिता को कुछ आभास था, ऐसा हो जाएगा जो वे बार-बार इस तरह के इशारे करते थे! पिता समाचार बहुत देखते थे। पिता जानकारी भी बहुत रखते थे। क्या पिता के जन्म के वर्षों में घटी घटना, बाद में उनकी कोर्स बुक में पढ़ाई गई होगी? क्या पिता के पिता ने विश्व की आर्थिक नीतियों और अवस्था के बारे में पिता को बतौर किस्से के रूप में कुछ सुनाया होगा? या पिता ने तेज़ दिमाग का होने के नाते समझ लिया था कि देश के लिए आगामी वर्ष कैसे होंगे? पिता को देश की बहुत चिन्ता जो रहती थी।

इन्हीं दिनों की बात है, जब दुबारा चुनाव हुए और वोट देकर हम दोनों घर आए। पिता ने पत्नी के कंधे पर हाथ रख कहा,

“क्यों, किसे वोट दिया?”

सवाल सुन पत्नी के साथ मैं भी चिहूँक गया। पिता तो वोट देने के गोपनीय अधिकार का सम्मान करते थे।

पत्नी के जवाब नहीं देने पर भी पिता की आवाज़ नहीं बुझी थी। वे एकदम बुलन्द आवाज़ में कहने लगे,

“मैंने तो उसी पार्टी को वोट दिया है, जो कहती हैं, समय रहते व्यवस्था बदलो।”

ये पिता का किस तरह का व्यवहार होता जा रहा है? पिता ने उसी छुटभैया नेता को वोट दे डाला जिसकी पिछली बार जमानत ज़ब्त हो गई थी। और वोट दिया तो दिया, शान से ऐलान कर हमें क्यों सुना रहे थे? जब तक हम लोग अपने आश्चर्य लोकों से बाहर आ पाते, पिता ने एक और बात मेरी पत्नी से कही जो इससे पहले कभी नहीं कही थी,

“जानती हो, मैंने स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लिया था।”

मेरे अन्दर यह सुनते ही अजीब-सा व्यंग्य का बगुला फड़फड़ाने लगा। इतने वर्षों में पिता ने यह बात पहले कभी क्यों नहीं कही? पिता ने दरअसल, हमारे जन्मों से पहले के अपने जीवन के बारे में कभी नहीं कहा। हमने भी कभी जानने की कोशिश नहीं की। वैसे 1947 में पिता की उम्र कितनी रही होगी! बमुश्किल पन्द्रह वर्ष। उस उम्र में उन्होंने सपने देखने के अतिरिक्त भी क्या कुछ किया होगा? पिता ने कैसे सपने देखे होंगे उस वक्रत?

एक दिन पत्नी ने मुझसे बढ़ती उदासी से कहा था, “क्या आजकल तुम नियमित रूप से शेयर्स में अपनी तनखाह लगाने लगे हो?”

“क्यों?” बहुत डरते हुए मैंने पूछा।

“मेरे खर्चे पूरे नहीं पड़ रहे और तुम कुछ करते भी नहीं। एक बार पिताजी कुछ शेयर्स की बातें छोटे भाई से फोन पर कर रहे थे, जो मैंने सुन लीं, इसी से पूछा।”

“नहीं, ऐसा कुछ नहीं है, थोड़ा लोन लिया है, उसी की किस्त चुकाता हूँ। कुछ महीनों की बात है, सब पहले जैसा हो जाएगा।” मेरी आवाज़ फुसफुसी और किसी भी विश्वास से परे थी। पत्नी मुझे गहरी नज़रों से ताकती रही। उन नज़रों में अविश्वास कूट-कूट कर भरा था।

छोटा भाई फोन पर मुझे बताता है कि, भैया, पिता तुममें बड़ी सम्भावनाएँ देखते हैं। कहते हैं, अपने बड़े भाई की तरह बनो, कितनी किफायत से रहना सीख गया है। मुझसे भी होशियार है। अपना पैसा सही जगहों पर निवेशित कर रहा है। मैं धक से रह जाता हूँ। मेरे चारों ओर कैसा मकड़जाल बुनता जा रहा है और मैं उसे ध्वस्त भी नहीं कर पाता। यह कैसा समय है? छोटे भाई ने आगे और बताया कि वह घर की हालत समझ रहा है, इसीलिए उसने पिता से कह दिया है कि वे अब उसे पैसे न भेजा करें। मुम्बई में खाना, कपड़ा सस्ता है, स्ट्राइपेंड के पैसों से काम चल जाता है। भाई ने बताया, “भैया, मैं अब बाद्रां वाला कमरा छोड़ वाशी चला गया हूँ।”

मैं जानता हूँ, भाई को लोकल ट्रेन से इंस्टीट्यूट पहुँचने में तीन घण्टे लगते हैं। वह बहुत थक जाता होगा, लेकिन जब वह होली दिवाली पर घर आता है तो बहुत रौनक जमाता है। पिता उसकी ज़िन्दादिली देख, कुछ आश्चर्य लगते हैं। कभी-कभी हँस भी देते हैं। मुझे अफसोस होता है, मैं क्यों छोटे भाई की तरह नहीं हो पाता? मेरी पत्नी कहती है,

“चार दिन की रौनक लगाना आसान है। रोज-रोज एक ही घर में साथ रहने पर तो छिलके उतरने ही लगते हैं। छोटे-से फ्लैट में कहाँ तक छिपाएँगे, अपने आपको?”

मैं अपने कमरे में बैठा सुन रहा हूँ, भाई पिता को देश की हालत पर बात करने को उकसाता है। पिता उत्साहित हो कहते हैं।

“कितना चलेगा यह बूम-बूम? नकली है, देखना गुब्बारा फूटेगा एक दिन।”

1997 में पिता ने यह बात कही थी और तब गुब्बारा नीले आसमान में स्वच्छन्दता से उड़ रहा था।

एक दिन पिता ने मुझे अपने पास जबर्दस्ती बैठाया और कहा,

“जाओ मोहन अडवाणी से मेरे पैसे ले आओ।”

पिता का हठ एकदम न बहनेवाला लगा। मैं घबरा गया। इसके आगे कि मैं कुछ कहता, वे कहने लगे,

“जानते हो, मोहन अडवाणी जहाँ बैठा है, वह कम्पनी जल्द ही मुँह के बल गिरेगी। तुम देख लेना। इस देश का तो नक्शा ही गड़बड़ हो गया है। स्वतन्त्रता संग्राम के वक्त कुछ और ही सोचा था...देखो अब क्या हो रहा है?” वे मेरी ओर इल्ज़ाम लगाने वाली निगाह डालते हैं, मैं भी ग्लानि से भर जाता हूँ। कितना छोटा-सा तो काम है। कर क्यों नहीं देता मैं?

मैं माहौल बदलने के लिए पिता से कहता हूँ, पिताजी चलिए कहीं घूम आते हैं, वे कहते हैं, चलो इण्डिया गेट चलो, लेकिन गाड़ी से चलो।

उस दिन बड़ी मुश्किल से मैंने पिता द्वारा खरीदी हुई, मारुती 800 निकाल कर स्टार्ट की और उन्हें बिठाकर इण्डिया गेट तक ले गया। पिता गाड़ी से उतरे नहीं, बैठे-बैठे, (मैंने

आश्चर्य से देखा) इण्डिया गेट का नमन करने लगे। फिर उन्होंने गाड़ी के माइलोमीटर पर नज़र डाली और कहने लगे,

“अब वापिस ले लो, गाड़ी में पेट्रोल कम है।”

मैंने जवाब नहीं दिया, नजरें चुराता रहा। मेरे वालेट में पेट्रोल भरवाने के पैसे नहीं थे। पिता ने मेरी चुप्पी देख कहा,

“आजकल पेट्रोल का क्या भाव है?”

मैं फिर भी चुप बना रहा। पिता को ठीक ही लगा मैं उनकी अवहेलना कर रहा हूँ।

“हुँह”, उन्होंने कड़वाहट से कहा, “मैं 1932 में पैदा हुआ था।”

मेरा मन कैद का पिंजरा हो गया है। वहाँ एक छोटा चूहा रहता है। जी करता है लखनऊ के दिनों की तरह अभी यहीं इण्डिया गेट के सामने, पिता की छाती में अपना सिर घुसा, सब कुछ स्वीकार कर लूँ। अपनी असफलता और अपनी सम्भ्रान्ति। मैं कहना चाहता हूँ, पिताजी मेरा मार्गदर्शन कीजिए। मुझे रास्ता बताइए। मुझे आपकी जरूरत है लेकिन मैं ऐसा कुछ भी नहीं करता और बनावट के चुप रास्तों पर चलते हुए हम घर पहुँच जाते हैं।

उस दिन के बाद से फिर पिता नए तरीके से बदल जाते हैं। अब वे समाचार नहीं देखते। अब वे राजनीति पर चर्चा नहीं करते। अब वे स्वतन्त्रता संग्राम वाले बयानों को भी कभी नहीं दुहराते। अब चुपचाप हो कुछ सोचते रहते हैं। वे अब अक्सर मुझे पत्नी और बच्चे को घूम आने की सलाह देते हैं। मैं देखता हूँ, वे अकेले रहना चाह रहे हैं। मुझे लगता है, वे अपने लिए कोई नया स्पेस तैयार कर रहे हैं। मैं दखल दे उनके अकेलेपन के सुख को नष्ट नहीं करना चाहता हूँ।

एक दिन ऐसा ही सोचते हुए मैं पत्नी और बच्चे के साथ घर नियत समय से पहले लौट आता हूँ। घर में घुसते ही आशंका का अंधकार मुझे दबोच लेता है। मैं चिल्लाता हूँ।

“पिताजी, पिताजी...घर में इतना अँधेरा क्यों है, बत्ती क्यों नहीं जलाई आपने? कहाँ हैं आप!”

मैं घर की सारी बत्तियाँ जल्दी से जलाता हूँ और उनके कमरे में पहुँचता हूँ। देखता हूँ, पिता अपने बिस्तर पर सफेद चादर ओढ़े, पूरी तरह सर से पाँव तक ढँके, सिमटे पड़े हैं।

“पिताजी!!!” मैं गला फाड़कर चीखता हूँ।

“आ गए तुम? जल्दी आ गए?” वे चादर से अपना मुँह बाहर निकाल कर कहते हैं। “मेरे गले में कुछ फँस रहा है। जी में आता है, उन पर खूब गुस्सा करूँ, जानते हैं कितने भयावह लग रहे थे आप? एकदम सफेद कफन ओढ़ी लाश लग रहे थे! पिता ने मेरी डरी और उत्तेजित मुद्रा देख, समझ तो लिया ही होगा कि मैं उस वक्त कैसा महसूस कर रहा हूँ, शायद इसी वजह से या फिर इस वजह से कि मैं अनावश्यक बहुत कल्पना करता हूँ, या मैं तो हूँ ही हारी हुई प्रवृत्ति का आदमी और ऐसा ही सोचूँगा, पिता ऐसा प्रदर्शित करते हैं कि वे बहुत आराम से हैं, उन्हें कोई कष्ट नहीं और उनकी आँखें लग

गई होंगी इसीलिए समय का पता ही नहीं चला। वे एकदम संयत भाव से चादर के नीचे से एक डायरी निकाल मुझे पकड़ाते हैं।

“लो इसे मेरी अलमारी में रख दो।”

मैं हाथ में पकड़ी डायरी को देखता हूँ। वह खुली हुई है। खुले हुए पन्ने पर लिखा है, ‘मोहन अडवाणी’। मैं यह देखकर शर्म से गड़ जाता हूँ और तय करता हूँ, साले मोहन अडवाणी के बच्चे...कल ही, अब कल ही तुझे घेरता हूँ। मैं पिता के अलमारी में रख देने के इस आदेश से थोड़ा चकित भी हूँ, क्योंकि माँ के जाने के बाद इसमें से कभी कोई पिता की अलमारी के नज़दीक भी नहीं पहुँचा है, उनमें रखी चीजों को हाथ लगाना तो दूर की बात है। आदतवश मैं अलमारी के भीतर रखी चीजों पर नज़र भी नहीं डालता और डायरी को एक जगह टिकाकर छोड़ देता हूँ।

अगले ही दिन, सचेत हो मैंने मोहन अडवाणी को तैश में फोन कर दिया और मिलने का समय माँगा, उस पार से आती उसकी आवाज गर्म चाकू सी थी। वह किसी को भी पल भर में चीर देती,

“आप उनके लड़के बोल रहे हैं?”

“जी।”

“ठीक है, कनाट प्लेस के मेरे दफ्तर में आ जाइए।”

मोहन अडवाणी का ऑफिस मेरे पिता के नौकरी के दिनों के ऑफिस से कहीं आलीशान है। सब कुछ इतना आधुनिक है। कुर्सी टेबल, खिड़की के पर्दे, कार्पेट, लैंप, कम्प्यूटर...! वह कुछ-कुछ मेरी कम्पनी के उस मालिक के तरीके का ऑफिस है, जिसके बारे में मैंने सुना है। कभी देख नहीं पाया हूँ। हमारे ऑफिस में मालिक और मेरे जैसे कर्मचारी के बीच बहुत फासला रहता है। ठीक उसी फासले को मैं यहाँ महसूस कर रहा हूँ, इस सच को जानते हुए भी कि कल तक सामने खड़ा यह असम्भव सा देवता, मेरे पिता के सामने सिर झुका कर ‘सर, जी सर, सर’ करता रहता था।”

मोहन अडवाणी अपने कम्प्यूटर पर कुछ काम कर रहा है। वह बहुत व्यस्त लग रहा है वह मेरी ओर देखता भी नहीं है। लगभग पन्द्रह मिनट तक मैं दरवाज़े के पास खड़ा सिकुड़ता जा रहा हूँ। इसके बाद ही वह मेरी ओर देख कहता है,

“अरे, आ गए तुम? आओ-आओ।”

इसके बाद वह अपनी मेज की किसी दराज से एक लिफाफा निकालता है, उसे अपने हाथों की दो ऊँगलियों के बीच पकड़ कर ऐसे हिलाता है, जैसे लोग हवा में कुत्तों के लिए बिस्कुट लहराते हैं। इसी मुद्रा में बैठा-बैठा वह खूब जोर से ठहाका लगाता है। इस मखौल पर मेरे चारों ओर की चीजें घूमने लगती हैं। मैं एक छोटा धब्बा बन जाता हूँ। इस तरह मोहन अडवाणी मेरी मार्फत मेरे पिता पर वार करता है।

मेरे पिता जो बड़े आदमी थे।

मैं उस रात बहुत देर से घर पहुँच पाता हूँ।

पिता दरवाज़ा खोलते हैं और उत्तेजना से कहते हैं,

“बड़ी देर हो गई? दुकानें तो सब बन्द हो गई होंगी?”

दर्द से मेरा माथा फटा जा रहा है। इस दर्द के मारे मोहन अडवाणी से लाए पैसे भी मैं भूल जाता हूँ। मैं पिता को कोई जवाब नहीं देता और बिना कपड़े बदले सो जाता हूँ।

सुबह उठकर देखता हूँ, पिता ड्राइंग रूम में, एक कुर्सी पर डरे, दुबके, सिर पर एक हाथ रखे बैठे हैं। वे बहुत चिन्तित लग रहे हैं। मैं चुपचाप मोहन अडवाणी का लाया हुआ लिफाफा उनके हाथ में पकड़ा देता हूँ। वे लिफाफा देख खुश हो जाते हैं। वे समझ जाते हैं, लिफाफा किसने दिया होगा। ऊपर ही मोहन अडवाणी की कम्पनी का पता छपा हुआ है। वे तेज़ी से उठ अपनी अलमारी की ओर भागते हैं और एक पर्चा ला मुझे पकड़ा देते हैं।

“ये...ये, दवाइयाँ आज ले आना। भूलना नहीं।”

मैं जानता हूँ पिता की दवाइयाँ पास वाली दवाइयों की दुकान में नहीं मिलती। उन्हें आल-इण्डिया मेडिकल इंस्टीट्यूट के पास की एक खास दुकान से लाना होता है। अचानक याद आता है, दो-तीन महीनों से तो पिता की दवाइयाँ मैं लाया ही नहीं...!

“कब खत्म हुई दवाइयाँ?”

“एक महीना हो गया।”

उनका स्वर कातर और डरा हुआ है, लेकिन मैं उसमें अपने लिए उलाहना ढूँढ़ता हूँ। दवाइयों के बिना पिता को कुछ हो जाता तो? मेरे अन्दर झुरझुरी सनसना जाती है। मैं अपनी असमर्थता को डॉट का जामा पहनाता हूँ।

“इतनी लापरवाही? मुझसे कहा क्यों नहीं?”

पिता खिड़की से बाहर देखने लगते हैं। मैं झमकता हुआ फ्लैट की सीढ़ियाँ उतर जाता हूँ और तय करता हूँ, भाई-बहन को बुलाना ही होगा। अब अकेले मुझसे पिता का दिया और तनाव बर्दाश्त नहीं होगा।

छोटी मेरे बुलाने पर अगले ही दिन आ जाती है। छोटे भाई को दो दिन लगते हैं। हम तीनों एक ही निर्णय पर पहुँचते हैं। पिता बदल गए हैं। वे अब कुछ बताते नहीं। पिता नाखुश रहते हैं। पिता का आभामण्डल कहाँ गया? हम तीनों यह सब सोच असमंजस में पड़ जाते हैं। पिता का क्या किया जाए? पिता को कैसे ठीक किया जाए? हम पिता का सम्पूर्ण मेडिकल चेकअप करवाने की सोचते हैं।

अगले दिन हमारी चिन्ताओं और सन्देहों को परे खिसकाते हुए, पिता नहा-धो, खूब अच्छे कपड़े पहने हमारे बीच आकर बैठते हैं और कहते हैं,

“अरे भाई, यूँ अचानक इकट्ठे हुए हो, कुछ मौज-मस्ती करो। घूम आओ।”

मैं पिता के इस अप्रत्याशित व्यवहार से चौंक जाता हूँ। क्या पिता ने अब हमारी चिन्ताओं को अपने खिलाफ षड्यन्त्र मान लिया है? वे इतने दिनों से जो हमारे बीच होते हुए भी नहीं होते थे आज अचानक हमारे बीच शामिल होने का क्यों ढोंग कर रहे हैं? झल्लाहट मुझे घेरने लगती है। क्या पिता हमारे बीच की सारी सहजता मिटाकर ही दम लेंगे?

पिता का अच्छा मूड देख छोटा भाई पिता की हथेली प्यार से दबाता हुआ कहता है,

“हाँ पिताजी जाएँगे, लेकिन आपको भी हमारे साथ चलना होगा।”

बहुत दिनों बाद छोटी भी बचपन वाली छोटी बन जाती है, वह कहती है, “पिताजी मैं पल गिन रही हूँ, आपका समय शुरू होता है। अब—बोलिए हाँ या ना?”

“अरे हाँ...हाँ।” पिता जोश में उठ तनकर खड़े हो जाते हैं।

“चलो...अभी चलो...!”

मुझे याद नहीं पड़ता कि इन शब्दों के बाद हमने पिता के मुँह से और शब्द सुने कि नहीं। यही शब्द उनके अन्तिम शब्दों के रूप में हमारी स्मृतियों में दर्ज हो गए हैं।

पिता के जाने के बाद हमारे दिल्ली वाले मौसा का हमारे घर आना-जाना बढ़ जाता है दिल्ली में रहने वाले एकमात्र नज़दीकी रिश्तेदार वही हैं। हमारे पिता के रहते भर, मौसा हमारे यहाँ कम ही आ पाते थे। पिता उन्हें पसन्द नहीं करते थे। कहते थे कि मौसा की आँखें चालाक हैं, उनमें हमेशा साजिश का भाव रहता है। लेकिन मैं धीरे-धीरे मौसा को बेहतर समझ पाता हूँ; वे पिता के जाने के बाद मेरे बहुत बड़े सम्बल साबित हुए हैं।

मुझे जब मौसा अपने पास बिठा, कंधे पर प्यार से भरा हाथ रख कहते हैं,

“तुमने बहुत किया पिता के लिए, जानता हूँ। इसके बावजूद तुम्हें कुछ नहीं मिला। जानता हूँ कितने टेढ़े हो गए थे तुम्हारे पिता अपने जाने के दिनों में। अन्दर से लखनऊ वाले दिनों को कभी नहीं निकाल पाए वे। अब तक तुम क्या-क्या कर लेते? उनके मानकों पर खरा उतरना क्या सबके बस की बात थी? विचित्र ढंग से जीवन काटा। एक पैसा नहीं जोड़ा अपने बच्चों के लिए। उल्टे गँवा दिया। दुःख मत करो। तुमने बहुत किया उनके लिए।”

मौसा की बातें कितनी सही थीं। पिता के साथ वाले लोगों के पास दिल्ली में बड़े बंगले थे। और हमारे पास था यह दो कमरों का फ्लैट। पिता ने अगर चाहा होता तो आज मैं भी उनके साथियों के बच्चों की तरह किसी बड़ी अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनी में ऊँचे पद पर होता। पिता ने हमेशा क्यों कहा कि मेहनत करो और अपना भविष्य आप बनाओ? क्या इसके पीछे स्वतन्त्रता संग्राम में उनकी भागीदारी थी? लेकिन उनके कई साथी भी तो उसी समय को जी कर आए थे। पिता को ही देश की चिन्ता करने की ज़िद क्यों थी?

“अरे देखो, तुम लोग आज कहाँ से कहाँ पहुँच गए?” मौसा अर्श से फर्श तक का इशारा करते थे।

पत्नी को मौसा का इतनी बार आना और हमारे घर के बजट पर चर्चा करना अखरता था। मौसा के चले जाने के बाद वह मुँह फुला कर कहती थी,

“क्या जरूरत है, घर की बातें बाहर वालों के सामने करने की?” मेरी पत्नी नहीं समझती थी, मौसा किस तरह मेरे दुःख को काटने में मेरी मदद कर रहे थे।

एक दिन मौसा बहुत गुस्से में मेरे घर आए और मेरी पत्नी को चाय बनाने को बोल, मेरे पास बैठते हुए बोले,

“बेटा, पिताजी के सारे कागजात ठीक से देख लिए हैं न तुमने? अभी-अभी एक पारिवारिक शादी में गया था मैं। वहाँ कुछ रिश्तेदार चर्चा कर रहे थे कि तुम्हारे पिता बहुत सारा धन छोड़ गए हैं तुम लोगों के लिए, शायद तुम लोगों को पता नहीं है। मैं तो जानता

हूँ, बेटे ऐसा नहीं है, पिता ने तुम्हें उल्टे कर्जदार बना दिया है। फिर भी एक बार देखने में हर्ज नहीं है बेटा...।”

“हाँ...हाँ।” मैं मरी हुई आवाज़ में बोलता हूँ, काश पिता अपने अन्तिम दिनों में इतने चुप्पा न हुए होते। काश उन्होंने अपनी बातें मुझसे बाँटी होती, तो कम-से-कम आज यह स्थिति न होती। मैं पत्नी को अर्थ भरी निगाहों से देखता हूँ—देखो मौसा कितने अच्छे हैं, हमें समाज के तानों से भी बचाते हैं।

“जाओ बेटा, एक बार सारे कागजात ले आओ। मैं ठीक से देख देता हूँ।”

मौसा चाह रहे हैं कि मैं पिता की अलमारी से पिता की सारी व्यक्तिगत चीजें यहाँ ले आऊँ। फिर हम उन्हें मिलकर देखें कि आखिर पिता ने अपने पीछे क्या-क्या छोड़ा है। छोटा भाई और छोटी भी यह जिम्मेवारी मुझ पर ही छोड़कर अपनी जगहों पर चले गए हैं। मैं इस तरह अकेले होने की वजह से थका और मरा हुआ-सा तो हूँ, लेकिन पिता की बहुत सारी बातों को ले क्रोधित और उत्तेजित भी।

मैं अलमारी के दोनों दरवाजों को पूरी तरह खोल देता हूँ और एक कुर्सी डाल अलमारी के सामने बैठ जाता हूँ। मैं पहले नीचे के खानों से शुरू करता हूँ। कपड़े-लत्ते हैं। ढेर सारे। फिर तरह-तरह के छोटे बैग्स और पाऊच हैं। चश्मे हैं, पुरानी घड़ियाँ हैं। एक घड़ी उठाता हूँ। उस पर स्विसमेड फेवरल्यूबा अंकित है। यह पिता ने अपनी पहली नौकरी के तुरन्त बाद खरीदी थी। ऐसा उन्होंने मुझे कभी बताया था। एक दराज पुराने फोटोग्राफ्स से भरे हुए हैं। मैं देखता हूँ एक काली-सफेद तस्वीर के पीछे लिखा है 1945। फोटो में पिता, ठीक कैमरे की आँखों में देख रहे हैं। ज़रूर उनके हाई स्कूल के दिनों की फोटो होगी। एक तस्वीर 1947 की भी है। पिता अपने साथियों के साथ बड़ा-सा तिरंगा हवा में उछाल रहे हैं और खूब खुश दिख रहे हैं। एक तस्वीर 1958 की है, जिसमें पिता अपनी पहली नौकरी के अधिकारियों के साथ खड़े हैं। खासे आत्मविश्वास के साथ।

1980 की तस्वीर में पिता भव्य लग रहे हैं। उनके चेहरे पर मेहनत की स्वस्थ चमक और सफलता की ठोस अभिव्यक्ति है। पिता के साथ उनके वही उच्चाधिकारी भी खड़े हैं, जो पिता को नेपोलियन कहकर पुकारा करते थे। 1990 की तस्वीर में पिता का सिर झुका हुआ है। वे प्रधानमन्त्री से संस्थान की उत्कृष्ट सेवा करने के लिए पुरस्कार ग्रहण कर रहे हैं। उसी समारोह की दूसरी तस्वीर में हम सब हैं। माँ, मैं, छोटा भाई और छोटी। हमारे चेहरों पर पिता के सम्मान का वैभव रंगा हुआ है। मैं गौर से देखता हूँ, दर्शक दीर्घा में मोहन अडवाणी भी अनुग्रहित भाव से बैठा-बैठा ताली बजा रहा है। इसके बाद जो तस्वीर मेरे हाथ लगती है, वह 2007 की है। इण्डिया गेट पर खड़े पिता। एकदम कृशकाय, कमज़ोर, उदास, लेकिन जैसे ही मैं उनकी आँखों की ओर देखता हूँ, मुझे अजीब-सा लगने लगता है। उन आँखों में मैं, विभिन्न संग्रामों में मारे गए सैनिकों के प्रति अकूत सम्मान देखता हूँ। देखते ही मैं समझ जाता हूँ, अपने पिता की यात्रा को।

इसके बाद मैं सारे कागज़ पत्र पलटता हूँ। उस धन को खोजने की कोशिश करता हूँ, जो मेरी जानकारी में कभी नहीं रहा। कागज़ों के बीच ही मैं से मेरे हाथ वह डायरी आती है, जिसे एक दिन पिता ने मुझे अलमारी में रखने को दिया था और जिसे मैंने गौर

से कभी नहीं देखा था। आज देखता हूँ। डायरी 1957 में लखनऊ से खरीदी गई है। स्वतन्त्रता संग्राम के दस वर्ष बाद। उसके पहले पन्ने पर लिखा हुआ “सौ वर्षों के बीत जाने के उपलक्ष्य में।” डायरी के ऊपर नवाब वाजिद अली शाह की एक तस्वीर है। वाजिद अली शाह ने तस्वीर में एक लाल रंग का चोगा पहन रखा है। उसके सिर पर ताज नहीं है।

डायरी को देख मेरे अन्दर अजीब-सी हड़कम्प मचने लगती है। डायरी आधी खाली है। खाली पन्नों के ठीक पहले मेरा नाम लिखा हुआ है। पिता ने जानबूझ कर उन पन्नों को मेरे भरने के लिए खाली छोड़ दिया है। पिता बहुत बातों की तरह यह भी जानते थे कि उनके जाने के बाद मैं इस डायरी को खोलकर देखूँगा। मैं उसके बाद क्या सोचूँगा, क्या इस बात का भी अंदाज़ा था पिता को...?

मैं ड्राइंग रूम में मौसा के पास दुबारा आता हूँ। मौसा देख रहे हैं, मेरे हाथ खाली हैं। पिता के प्रति रही उनकी जीवन भर की चिढ़ और मेरी उधेड़बुन मिलकर उन्हें अस्त-व्यस्त कर देती हैं। वे चाय के बड़े-बड़े घूँट पीते हुए बहुत व्यंग्य से पूछते हैं,

“क्या हुआ? कुछ मिला? पता चला क्या छोड़कर गए हैं, तुम्हारे महान पिता?”

मैं हामी में अपना सिर हिलाता हूँ। कितना कुछ है मौसा को बताने के लिए। लेकिन मेरे मुँह से बहुत सारे शब्द नहीं निकल पा रहे हैं। मेरे चेहरे पर मुस्कराहट है और आवाज़ में किसी प्रकार का कम्पन नहीं, जब मैं कहता हूँ,

“इतिहास।”

मौसा अब भरपूर रूप से उत्तेजित हो रहे हैं, वे फिर पूछते हैं,

“क्या छोड़ा है?”

मैं फिर दुहराता हूँ,

“इतिहास” और अपना दायाँ हाथ अपने हृदय पर रख लेता हूँ और वहाँ बसी धड़कन को महसूस करता हूँ। मेरी मुद्रा ठीक उस खिलाड़ी के समान है, जो विजयी होने पर अपना राष्ट्रगान सुनते हुए अपना दायाँ हाथ अपने बाएँ सीने पर रख लेता है। यह अदब का तरीका है।

मौसा न जाने क्या सोचने लगते हैं, मैं मसखरी कर रहा हूँ, वे मुँह बिचकाते हैं,

“क्या है ये? नाटक क्यों कर रहे हो?”

मैं देख रहा हूँ, अब मौसा फें-फें कर हँसना भी चाह रहे हैं, मानों सामने मैं नहीं कोई विदूषक खड़ा है। मैं मौसा को इस तरह देखकर भी कोई और जवाब देना नहीं चाहता। पूर्ववत् खड़ा रहता हूँ। मुझे अब किसी बात से कोई फर्क नहीं पड़ता है। मौसा तकलीफ़ से अपनी भावनाओं को दबाते हुए, पिता के बनवाए मेरे इस फ्लैट से बाहर हो जाते हैं।

एक मधुर राग

✍ भवानी सिंह

पहली बार ही तो आया था बेस अस्पताल, जयपुर चल इकाई का बेस अस्पताल। जयपुर जैसे भीड़ भरे शहर में साफ़-सुथरा सेवा भावी सरकारी अस्पताल भी हो सकता है सोचा भी नहीं था मैंने... निहाल हो गया था अस्पताल देखकर... सुन्दर और भव्य लग रहा था अस्पताल। यों तो इधर से कई बार गुजरा हूँ, पर बेस अस्पताल को कभी नहीं देखा था।

डॉ. मलिक के मार्फत ही आना हुआ था, इस अस्पताल में। फेमिली डॉक्टर जैसे हो गए थे डॉ. मलिक। बूढ़ी दादी के पुराने हर्निया से लेकर परम मित्र के फिस्सुला तक का इलाज उन्होंने ही किया था। अथाह श्रद्धा थी उनमें मेरी सर्जरी में उनके हाथ की सफाई और उनके प्यार भरे मधुर व्यवहार को लेकर। घर से थोड़ी दूर था बेस अस्पताल, पर डॉ. मलिक तो थे वहाँ... अस्पताल दूर हुआ तो क्या...।

मित्र का छोटा भाई भी फिस्सुला से दुःखी था... मैंने मजाक भी की थी, “यार ये साले सूगले रोग भी पुश्तैनी होने लगे हैं क्या...” मैं फिस्सुला, फिसर और पायल्स को सूगले रोग ही मानता रहा हूँ... मित्र पहले तो हँसा था, फिर गम्भीर हो गया था... “हाँ मुझे भी ऐसा ही लगता है... पर डॉ. मलिक होंगे कहाँ अब...” पहले डॉ. मलिक हमारी कॉलोनी की सरकारी डिस्पेन्सरी में सर्जन थे। डॉ. मलिक के घर फोन करके उनका आसानी से अता-पता मिल गया था, वे जयपुर में ही बेस अस्पताल में हैं और फिलहाल जयपुर में ही हैं... हमें खुशी हुई थी यह जानकर और हम लपक लिए थे अस्पताल...।

समस्या एक ही थी कि मित्र की पोस्टिंग बाहर थी। ऐसे में मरीज की देखभाल इस दूर-दराज की अस्पताल में कौन करेगा... मैं जयपुर में ही था... मैं कर सकता था देखभाल... मित्र को छुट्टियाँ भी खराब नहीं करनी पड़तीं... पर मैं मरीज से अजीब-सी नफरत करता था... नफरत, वह भी अजीब दोस्त के भाई से... हाँ यह एक नग्न सच्चाई थी... मित्र का भाई सुन्दर जो नहीं था।

अचानक प्रश्न कौंधा था, यदि मित्र भी सुन्दर नहीं होता तो... तो यह मैत्री सम्भव ही नहीं थी... मित्र का सौन्दर्य ही मूल आधार रहा है हमारी मैत्री का। यों तो मित्र दलित था, वह भी एक छोटे से गाँव में... सम्भव नहीं थी एक सवर्ण और दलित में मित्रता... पर मित्र के सौन्दर्य ने इसे सम्भव कर दिया था।

गाँव छोटा ही था। सभी से मिलना-जुलना होता ही रहता था। पर पहली-पहली बार घनिष्ठता शाखा में ही हुई थी। पास के कस्बे में लगती थी शाखा। मैं दलितों से प्यार करने वाला स्वयं सेवक कहलाता... हमारे शाखा संचालक केदार भाई जी इसे बढ़ावा तो

देते, पर मैं सचमुच दलितों से प्यार कर बैटूंगा लाला जी को सपने में भी इल्म नहीं था। वे झल्लाए भी थे—“भइया मैंने सचीमुची को प्यार करने के लिए थोड़े ही न बोला था...” “भाई जी मैं दोगला व्यवहार नहीं कर सकता... कितना सुन्दर है मेरा मित्र क्या तुम्हारी तथाकथित ऊँची जातियों में है कोई इसके जोड़ का, नहीं है न...” भाई जी ने गाँव की गलियों में हमारे बारे में पता नहीं क्या-क्या फैला दिया था। पर हम दोनों एक-दूसरे के इतने दीवाने हो चले थे कि भाई जी द्वारा फैलाई अफवाहें बरसात के बाद फटे बादलों-सी हट गयी थीं और वर्षा के बाद चमकने वाली धूप-सी चमकी ही नहीं, गर्माहट भी दे रही थीं, आषाढ़ की गर्म धूप-सी नहीं, कार्तिक की धूप-सी गुनगुनी और नर्म-नर्म। भाई जी व उस जैसे स्वयंसेवी सूरज की उस कड़ी धूप से झुलस गए थे और दुगुने वेग से अफवाहें फैलाने लगे थे। पर कुछ नहीं हुआ। भाई जी ने तो कसबे के संचालक जी से भी मेरी शिकायत की थी। पर उलटे वे भाई जी पर बिगड़े थे—“ये क्या प्रेम लीला उधाड़ रहे हैं आप—छोरे और छोरे के बीच। जितने भी दलित लड़के संघ से जुड़े थे, लौट चुके हैं। आप से यदि यह नहीं सँभल रहा तो छोड़ दीजिए सब कुछ।”

मैं भी कहाँ पहुँच गया। बेस अस्पताल का जिक्र करते-करते। लबोलुआब ये कि आज से दस वर्ष पहले बीमार पड़ने पर मेरे खूबसूरत मित्र की उलटी मैंने मेरे हाथों में औटी थी क्योंकि उसकी सुन्दरता मुझे बहुत भाती है, अब भी जबकि हम दोनों 28 को पार करने जा रहे हैं। पर आज उसके छोटे भाई को उलटी होने पर मैं सँभाल पाता उसे, इससे पहले मैं स्वयं बाथरूम में जाकर उलटी कर आया था... और बाहर आकर किर्तव्यविमूढ़-सा बैठ गया था। थोड़ी देर बाद मित्र ने आकर बताया था कि मरीज का बेड बदल दिया गया है, चद्दर और कम्बल भी। अब तो उसके पास जाकर बैठ। मैं बोला था—“ऑफिस फोन करता हूँ कि मैं एक सप्ताह छुट्टी पर रहूँगा...” पर मित्र ने प्रतिवाद किया था “तू नहीं सँभाल पाएगा इसे, मुझे पता है।” मैं मित्र की छुट्टियाँ खराब नहीं कराना चाहता था। क्योंकि मेरी पोस्टिंग यहीं पर थी इसलिए मैं बिना छुट्टी लिए भी मरीज को सँभाल सकता था। पर मैं प्रतिवाद करना चाहते हुए भी, कुछ नहीं बोल पाया था, मुँह लटकाए अन्दर आ गया था। मित्र फोन करने के लिए बूथ को चल दिया था। इस घटना पर “कहाँ दलितों का मसीहा बनता फिरे है। अपने मित्र के भाई को तो नहीं सँभाल सका...” कुछ जलने वाले मित्रों की प्रतिक्रिया थी यह।

मित्र के भाई को बेस अस्पताल में भर्ती करा दिया गया था। मरीज की देखभाल के लिए मैं और मेरा मित्र, दोनों ही तैनात थे। पर मरीज को उल्टी करता देख मैं ही उल्टी करने चल दिया था। लौटने पर वार्ड का माहौल ही बदल गया था।

बेस अस्पताल का सारा स्टॉफ भी बड़ा प्यारा है... दस मिनट में बेड का सारा सामान बदल दिया गया था। बेड के नीचे भी पानी से धोकर पोछा लगा दिया गया था। दुर्गन्ध दूर भाग गयी थी। ज्यादातर मुसलमान मरीज हैं बेस अस्पताल में, शायद डॉ. शराफत अली का सदर सर्जन होने के कारण या फिर मुसलमानों के मुहल्ले में अस्पताल होने के कारण... शायद दोनों ही बातें ठीक हों। हमारे मरीज के साथ एक और मरीज का ऑपरेशन हुआ था आज इस वार्ड में। एक मुस्लिम बुजुर्ग का अपेन्डिक्स का ऑपरेशन।

शाम को मैं मरीज के लिए दूध लेने गया तो रोड का नजारा ही बदला हुआ था। दोनों ओर बड़े-बड़े हण्डों में पुलाव बिक रहा था... सीक कबाब व कबाब सिगड़ी पर लटके सिक रहे थे। मैंने सोचा मिरची बड़ा इतनी तादाद में वह भी रात को... पर गौर से देखने पर ज्ञात हुआ कि माँस के पकोड़े हैं, बेसन चढ़ा कर सेके गए हैं। बाप रे बाप, बिल्कुल मुस्लिम माहौल। इसे देखकर 'अर्थ' फिल्म में देखा गया लाहौर का मंजर आँखों में घूम गया था, हूबहू वैसे का वैसा, बस यहाँ का रोड थोड़ा चौड़ा था। हालाँकि इन खोमचे वालों ने रोड सकरा करने की दोनों ओर से भरसक कोशिश की थी, फिर भी सकरा नहीं कर पाए थे।

यह बाजार शाम को ही क्यों सजती है, शायद जे.डी.ए. के दस्ते से डरते हों ये खोमचे वाले। इस बारे में मैंने कोरनर चाय वाले से भी पूछा था। "सायं को ही क्यों बाजार लगता है चाचा..." "हूजूर बाजार में खरीददार ही साँझ को लौटते हैं, ...दुकान तो खरीददारों के पीछे चलती है न बरखुरदार...।"

अस्पताल के आस-पास मुस्लिम माहौल है। मस्जिद व मुसाफिरखाना, होटल फिरोज, होटल हमसफर... होटल रहमतुल्ला इस गली को बिल्कुल मुस्लिम मोहल्ला बना डालते हैं। निहायत ही मुस्लिम मोहल्ला। इस चाय वाले की चाय भी लाजवाब है। जयपुर में ही इतना बदलाव हो सकता है, बिना चाय पिए ही लोग काफी देर से मूढ़ी पर, बेंचों पर जमा हैं, दूसरे मुहल्लों में जमकर तो देखे कोई, चाय पीते ही भगा नहीं दिए जाएँगे। मुझे इस धर्म के लोगों का भाईचारा काबिले तारीफ लगता रहा है, पहले भी ये लोग मुझे आकर्षित करते रहे हैं। पर जबसे मैं स्वयंसेवक बना हूँ, कुछ ज्यादा ही भाने लगे हैं भाई लोग... साथी लोग। पता नहीं संघ ने मुसलमानों को नहीं चाहने का एकसूत्री प्रोग्राम ही क्यों बना रखा है। जैसे भी हो मुसलमान को भगाओ भारत से... शायद उनकी यह जिद ही मुझे मुसलमानों से प्यार करने को ठेलती रही हो। अब जिद्दी वे लोग हैं या मैं। वे उनके विरुद्ध नफरत भर मेरा ब्रेन वाश करना चाहते हैं। जबकि मैं हूँ बिल्कुल इसके उलटा, नफरत की जगह मुसलमानों से ज्यादा प्यार करने लगा हूँ। मुस्लिम मित्र भी बनाना चाहता हूँ, पर सफल नहीं हुआ हूँ अभी तक। न जाने ऐसा क्यों होता रहा है मेरे साथ, लोग दलित से दोस्ती छुड़ाना चाहते हैं, मैं और जकड़ता चला गया, लोग मुसलमानों से परहेज करने को कहते तो, मैं और पास खिसकता चला गया।

जयपुर में बस कर भी मैंने शाखा जाना नहीं छोड़ा था। हमारी शाखा में दो मुस्लिम लड़के आने लगे थे। 16-17 वर्ष के, दोनों ही हष्ट-पुष्ट और दुरुस्त, हाँ इनके आ जाने के बाद साथियों ने मुसलमानों के विरुद्ध सरेआम नफरत उगलना बन्द कर दिया था। मेरे ख्याल से ये सोचकर कि इनके संघ में रच-बस जाने के बाद ही नफरत फैलाएँगे... कहीं ऐसा ना हो कि जो दो मुर्गी फँसी हैं यह भी फुर्र हो जाएँ। शाखा में थोड़ा पक्का हो जाने दो। फिर वही चलेगा, पहले वाला माहौल... पर ये कम्बख्त जबसे शाखा में आने लगे थे, एक दिन भी शाखा मिस नहीं की थी। मेरा मिलना-जुलना ज्यादा ही बढ़ गया था।

उनमें से ही एक, बेस अस्पताल में आते ही दिखाई दे गया था... मैं उसे उमर नहीं, अमर बुलाता हूँ। वह खुश होता है। "भइया अमर भी उर्दू का ही शब्द है हिन्दी का नहीं

है, ठेठ फारस से चलकर आया है...।” अमर मिलते ही खुश हुआ। “अरे भइया आप तो मेरे खुदा हैं, सौभाग्य है मेरा जो खुदा खुद चलकर मेरे मुहल्ले में आया...।” “अरे भाई खुदा तो मत बनाओ, कहीं आदमी भी नहीं रह पाऊँ मैं।”

अमर उर्फ उमर का मैंने अब तक कोई खास भला नहीं किया था। बस मेरे परिचित एक साहब से बोलकर उसे नौकरी में स्थाई करा दिया था। उमर व उसके पाँच-दस साथी एक दफ्तर में दो वर्ष से दैनिक वेतन पर काम कर रहे थे। मैंने उनके अफसर से बोलकर उन्हें स्थाई नौकरी दिला दी थी। वैसे भी दो वर्ष बाद वे स्थाई होने ही थे। इसमें मेरा कोई खास योगदान जैसा कुछ नहीं था। पर इसके लिए उमर आज भी मेरा अहसान मानता है। आदर भी देता है। शाखा में भी रोज आता है। मैंने पूछा उमर से “ज्यादा मुसलमान पेसेन्ट, शायद मुहल्ले में बेस अस्पताल होने के कारण हैं।”

—“नहीं भाई जान, यह तो है ही, दूसरा कारण यहाँ दवा मुफ्त मिलती है। ज्यादातर मुसलमानों की माली हालत ठीक नहीं है। शायद सबसे बड़ा कारण डॉ. शराफत अली शराफत साब हैं।” “हाँ यह भी हो सकता है पर यार अमर एक बात तो बताओ डॉ. साब, हाजी साब कहने पर चिड़ते क्यों हैं... मेरे पड़ोसी मरीज ने कल उन्हें हाजी साब बोल दिया था, तो वे बौखला गए थे बुरी तरह...।”

“यों तो डाक्टर शराफत हज कर आए हैं। पर हाजी साब कहने से चिड़ते हैं। चिड़ाने के लिए ही इनके साथी इन्हें हाजी साब कहकर बुलाते हैं।” “पर कल तो हाजी साब ज्यादा ही बिगड़े हुए थे... अरे हाँ, हाजी साब तो यहाँ तक बोल गए थे—लियाकत भाई बस इतना ही मुसलमान हूँ, जुम्मे को एक बार नमाज आप लोगों को दिखाने के लिए पढ़ लेता हूँ। इसे बंद कर दूँगा। फिर मुझे तुम बाहर करा देना तुम्हारे ईमान से...” कैसी बातें करते हो शराफत अली तुम्हें कौन दीन-बिरादरी से बाहर करेगा। तुम्हारे कारण ही तो हम पाँच साल से इस अस्पताल में इलाज करा रहे हैं। मस्जिद की बगल में चार छोटे-छोटे कमरों में चलने वाला बेस अस्पताल, सिमट कर ही तो रह गया था मस्जिद में। तुम्हारी कोशिश से ही इतना बड़ा अस्पताल बना है जिसमें चार मस्जिद समा जाएँ... पर बिगड़ना छोड़ा नहीं शराफत तूने... देखो भाईजान लँगोटिया यार हूँ, बुरा मत मान जाइयो...” “अरे नहीं मियाँ, पर मुझे आगे से हाजी मत बोला कर। अस्पताल में तो बिल्कुल ही नहीं। रही हज की बात, जब सउदी अरेबिया में पाँच साल डॉक्टर रहा था तो हो आया मक्का-मदीना भी। इसमें कैसा हज और कैसा हज नहीं।” “सो तो है भाई कितने भाग्यशाली हैं आप जो पाँच साल तक मक्का-मदीना में सिर झुका आए अल्लाह तालाह की ख्वाबगाह में। पूरे पाँच साल से सोच रहा हूँ हज करने की पर जाना ही नहीं हो रहा...” “जाओगे लियाकत एक दिन ज़रूर जाओगे। जब मदीने वाले का पैगाम आयेगा तो ज़रूर जाओगे। हमें देख लो, कभी सोचा भी नहीं था। पाँच साल, मदीने में ही रहने को मिलेगा।”

उसी लियाकत अली की एक बेटी है, शाहीन। डॉ. शाहीन की हमशक्ल। इस अस्पताल की अनैस्थैटिक। बड़ी प्यारी हैं डॉक्टर शाहीन। पता नहीं, बेस अस्पताल के डॉक्टर, कम्पाउंडर, वार्ड बॉय सभी के सभी अलग क्यों हैं, व्यवहार में, शक्ल-सूरत में। दूसरे सरकारी अस्पतालों में तो सब के सब खाने को दौड़ते हैं, पर यहाँ एकदम से उलटा है। शायद भीड़ नहीं

होने के कारण ही ऐसा हो। शायद दवा फ्री होने के कारण ऐसा हो... बड़ा अच्छा लगा देखकर।

उमर भी ढूँढ़ता-ढूँढ़ता हमारे वार्ड में पहुँच गया था। लियाकत साब को उसने खुदा हाफ़िज़ बोला था। बड़े प्यारे हैं लियाकत साहब। हँसमुख और मसखरे। उमर बता रहा था मुझे बेटा जैसा प्यार देते हैं चाचा। चाचा हुजूर बेटे का बाप बनने की चाह में, आठ-आठ बेटियों के बाप बन चुके हैं। एक बेटे के लिए बेगम ने दूसरी निकाह अपनी बहन से पढ़ाने की ज़िद की तो रो दिए थे। मर जाऊँगा—सूली चढ़ जाऊँगा, जो कभी एक और निकाह के लिए बोली भी। आठ बेटियों में छः बरकरार हैं। शाम को शाहीन के साथ बाकी की पाँच भी आयी थीं। चाचा की अम्मीजान थीं उस समय चाचा जान के पास। “अरे देखो तो लियाकत शाहीन आई है।” “अरे शाहीन बेटा...” चाचा ने चहक कर बेटी का स्वागत किया था। यहाँ बैठे बेटा, यहाँ... मैं चौंका था... “अरे पापा आप लेते रहिए...” खुशी के साथ प्यार से बोली थी शाहीन। जैसे ऊँचाई से गिरते हुए पहाड़ी झरने की मन्दी-मन्दी आवाज़ आ रही हो। बड़ी प्यारी हँसी, काँच की चूड़ियों सी खनकती-प्यारी हँसी... इस हँसी को सुनकर भला हँसने वालों को देखे बिना रहा जाए है हमसे। पर हमारे मरीज़ और लियाकत चाचा के बीच में एक नामुराद पर्दा था। हरा पर्दा। हुआ यों था कि हमारे मरीज़ के बेड पर बोतल टाँगने को हैंडिल नहीं था। सो पर्दे को खड़ा कर बोतल लटका दी थी। ऑपरेशन आज ही हुआ था... आज रात तक तो बोतलें चढ़नी थीं। इतनी प्यारी हँसी के साथ-साथ तो ज़रूर फूल भी झड़ रहे होंगे। हम गुलाब झड़ती झाड़ी को देखने को बताव हो रहे थे...। देखा तो लियाकत चाचा दर्द को भूल, बैठे हो गए थे। पूरी छः की छः बेटी बेड पर बैठी थीं। छोटी 8 वर्ष की, दूसरी दस वर्ष की, तीसरी 12 की, चौथी 14 की, पाँचवी 16 की तथा छठी सबसे बड़ी बीस की। बीच की दो खुदा को प्यारी हो गयी थीं। बूढ़ी अम्मा ने बताया था बेटियाँ ही सब कुछ हैं मेरे बेटे की। नए जमाने में क्या बेटा क्या बेटी सब बरोबर हैं।”

“अबू आप लेट जाइए, बैठे क्यों हो गए...” शाहीन बोली थी—“मोहसिन तो कह रहे थे, फूफा से ढंग से ऊठा-बैठा भी नहीं जा रहा है, दर्द से बिलबिला रहे हैं बेचारे, बड़ा झूठा है अबू यह मोहसिन...” “अरे नहीं बेटा, अपने होने वाले शौहर को ऐसे नहीं बुलाया करते हैं।” चाचा ने प्यार से बिटिया को हौले से झिड़का था।

“पापा आप भी, मोहसिन ही बच गया है क्या पूरी कायनात में मुझे ब्याहने को। मैं मर जाऊँगी फिर कभी ऐसे बोला तो।” दादी भी चट से बोली थीं, “अरे वह तो तेरी अम्मी को खुश करने को बोल देते हैं, अपने भतीजे पर जान जो छिड़कती है...” मेरा तो बेटा मोहसिन ही है, क्यों भाईजान एक बेटा हमें नहीं देंगे? चार बेटे हैं आपके, भाई—बहन आपस में नहीं बाँटेंगे सुख-दुःख तो भला कौन बाँटेगा...” दादी ने अम्मी की हूबहू नकल की थी और अम्मी की दादी द्वारा की गयी इस नकल पर दादी सहित सभी हँसे थे। फिर बोली थी दादी, “पर मैं क्या जानती नहीं उसके भाई को, देखो उसके दूल्हे भाई का ऑपरेशन हुआ है, मजाल क्या दुकान छोड़कर खोज-खबर तो ले ले। पूरा मुहल्ला हाल-चाल पूछ गया पर साला नहीं आया, ऊपर से समधी और बनना चाहता है, तेरी अम्मा मरे-जीए तो मरे-जीए,

हमें तो कानी आँख भी नहीं सुहाता यह मोहसिन का बच्चा... फिर कहाँ हूर की परी-सी मेरी बेटी कहाँ वह काला कौआ... लियाकत अपनी घरवाली को कस कर रख, नहीं तो शाहीन के साथ-साथ मैं भी जान दे दूँगी... ऐसा किया तो... “शाहीन की दादी तुनक कर बोली थीं।” अरे अम्मी तुम सब की सब जीयो मैं ही जान दे देता हूँ...” “अब्बू आप भी...” झट से एक सुन्दर हाथ बुर्के से निकल कर बाप के बूढ़े होठों पर रख दिया गया था। क्या खूबसूरत हाथ था, एकदम से उजले मक्खन में सिन्दूर घोल दिया हो जैसे। उजलाखुला-खुला-सा रंग... आर्चीज के कैलेण्डर में स्वागत को आतुर खूबसूरत हाथ से भी कहीं पतला, खूबसूरत और नफीस हाथ। जैसे पाकीजा में पाँव को बार-बार चूमता है राजकुमार, मेरा मन भी उसी शिद्दत के साथ उस हाथ को चूमना चाहे है बार-बार। बेटी की अँगुली ने चाचा के होठों को बोलने से तो बन्द कर दिया। पर आँखों का बोलना शुरू हो गया था, आँसू झर-झर झरने लगे थे... बेबस बेटी ने परदा ऊपर उठाया तो उसकी खूबसूरत आँखों से भी आँसू टपक रहे थे। गालों पर आँसू ऐसे लग रहे थे जैसे गुलाब की पंखुड़ियों पर सुबह की ओस की बूँदें झलक आयी हों... केसरिया दूध सा धुला-धुला सिन्दूरी चेहरा... फिल्मी हीरोइनों सब फीकी पड़ गयी थीं मिसाल के लिए। बस चाचा ने रोना बन्द कर दिया था... “अरे मेरी बिट्टो की आँख में आँसू, नहीं-नहीं गलत बात है। हमने हमारे बेटे को क्या यही सिखाया है... नहीं-नहीं, छी-छी बुरी बात है। मेरा शेर बेटा ऐसी कमज़ोर हरकत करता है क्या।” हँस दी थी एमदम से बेटी भी। वही काँच की चूड़ियों सी खनकती हँसी। गुलाबी छोटे रूमाल से खूबसूरत आँसुओं को पोंछ दिया गया था... पौ फटने वाली शबनम की बूँदें गुलाब से मुलायम चेहरे से हटा दी गयी थीं। दहकते हुए गुलाब और भी चमक दे रहे थे... कई बार देखने के बाद भी केसरिया दूध से धोयी संगमरमर की लक्ष्मी माँ की भव्य मूर्ति है यह या किसी का चेहरा है समझ ही नहीं पाया मैं...। बौराया तो बौराता ही चला गया...। “अरे भाई अधिकारी जी यह मेरी बड़ी बेटी है। हम तो भाई जान छिड़कते हैं बेटियों पर। अल्लाह ने बक्सी भी छप्पर फाड़ के है... पूरी छः बेटियाँ हैं...।” चाचा मुझे सम्बोधित कर बोले थे। मैं झेंप गया था। क्या जवाब दूँ चाचा को, उजबक-सा देखे जा रहा था बस। छः की छः एक जैसी हैं सूरत-सीरत में बला की खूबसूरत... शाहीन अलग-अलग पायदान पर कैसी रही होगी, एक साथ सभी बहनों को देख लो तो पता चल जाए। या खुदा ये बाकी पाँच क्या कहर ढाएँगी अपने चाहने वालों पर। यह हमें देखकर जान लो।

हमारे पेसेन्ट ने हमारी जान बचा ली थी, कराह कर। हम फौरन पेसेन्ट के पास थे, “क्या हुआ, दर्द हो रहा है?” “नहीं तो...” हँस दिया था मरीज़, उसकी भौंटी हँसी भी आज प्यारी लगी थी...।

जब तक हम दुबारा उधर झाँकते चन्दा काले बादलों में ओझल हो चुका था। शाहीन फिर पर्दे (बुर्के) में थी। काला नहीं था उसका पर्दा पर मूँगिया होने पर भी काम तो काले का ही कर रहा था न। काली बदली ने पूनम के चाँद को ढँक लिया था। वाह-वाह क्या सूरत गढ़ी है अल्लाह ने... मुस्लिम लिबास में जैसे पार्वती उतर आयी हो धरा पर। लक्ष्मी-सी, पार्वती-सी, प्यारी-सी शाहीन। हम चाँद से बदली उठने का इन्तज़ार करते ही रह गए थे।

मोहसिन था। “अरे फूफा जान सभी की सभी एक साथ... अरे-अरे क्या गजब कर रहे हो फूफा, अस्पताल का पलंग तोड़ने का इरादा है क्या...” सभी बेटियों को बेड पर बैठे देख मोहसिन ने मज़ाक की थी। उसके फूहड़ मज़ाक पर केवल वही हँसा था। पाँचों खूबसूरत चेहरों ने हूँ SSSS करके बुरा मुँह बनाया था। छठे मुँह ने, बला के खूबसूरत मुँह ने भी यही किया होगा पर्दे में। दादी ही बोली थीं। बच्चों की दादी ने बुरा माना था। जैसे खुले में पड़ी सम्पत्ति को लूटने कोई डाकू आ गया हो। “छोरियों अँधेरा घिर आया है, जाओ, घर जाओ मोहसिन के साथ।”

“नहीं दादी अम्मा, हम मोहसिन भाई जान के साथ नहीं जाएँगी...” लड़कियाँ समवेत स्वर में मिमियाई थीं।

“तुम्हारी मर्जी, सारी की सारियों को कैम्पा कोला...” मोहसिन को बोलने ही नहीं दिया था... “नहीं पीना हमें आपका गन्दा कैम्पा कोला” छोटी सी छोरी बोली थी। “नहीं बेटा भाई जान को ऐसे थोड़े ही ना बोलते हैं... गन्दा बेटा थोड़े ही ना है मेरा सजदा बेटा...।” लड़कियों का बाप बोला था। पर पर्दे ने, हरे मूँगिया पर्दे ने छोटी की पीठ थपथपायी थी, जैसे शाबाशी दी हो...। उसी समय उमर मेरे हाल-चाल पूछने आ गया था... चाचा की जैसे जान में जान आ गयी हो... “अरे उमर बेटा साथी के हाल-चाल बाद में पूछियो, पहले इन छोरियों को घर तो छोड़ आओ... और छोरियों को ले उमर चला गया था। मोहसिन कुढ़ कर रह गया था और उठकर चल दिया था...। “अरे तू कहाँ चला...” “अभी आता हूँ फूफा, बच्चियों को कुछ रेवड़ी-गजक ही खिला आऊँ” “अरे सुनो मोहसिन, मेरे लिए दो पान लेते आना पैसे देती हूँ, अरे-अरे पैसे तो लेता जा...” दादी ने पैसे निकालने में काफ़ी देर कर दी थी। मानों दादी मोहसिन को इस बहाने रोकना चाह रही हों और दादी इस काम में सफल भी रही थीं। मोहसिन के बाहर आने तक तो उमर छः को साथ लेकर दरवाज़े से... बेस अस्पताल के दरवाज़े से निकल रोड पार कर गली में घुस चुका था। अँधेरा घिर आया था। मूँगिया हरा पर्दा किधर को बढ़ रहा था, मुझे दिखाई नहीं दिया।

पर सुबह-सुबह आँखें खुलीं तो क्या देखता हूँ वही डॉ. शाहीन की हमशक्ल जलवा अफरोज थी। वह भी बिना पर्दे के चाय का भरा थर्मस लिए “अरे शाहीन इतनी चाय कौन पिएगा सुबह-सुबह...” “रोज तो दो गिलास एक साथ पीते हो अब्बू।” चहकी थी शाहीन

—“अरे कम्बख्त थोड़ा धीरे बोल, तेरा चाचा डॉ. शराफत कहीं कान लगा के सुन लेगा, तो बोलेगा अच्छा चाय पी-पी कर, पान खा-खा कर गला डाली अपनी पेडिक की गाँठ को...।”

“अब्बू आप भी इसे सही नाम से नहीं बुला सकते...।”

“अरे जहन्नुम में जाए ये मरी, जो भी है काट-पीट डाली शराफत ने। अब क्या सही बोलना और क्या गलत...।” चाचा झल्लाए थे।

मेरे उठने पर बेड द्वारा होने वाली आवाज़ से चाचा जान गए थे कि मैं जग गया हूँ...। “अरे शाहीन बेटा जा एक गिलास चाय साहब को भी देकर आ। ये तेरे उमर भाई के बड़े अफसर हैं...।” मैं धन्य हो गया था। गिलास पकड़ते हुए उसका हाथ थोड़ा-सा

छू गया था, बस पूरे दिन झनझनाता रहा था मेरा हाथ। दोस्त आया तो चाय का भरा थर्मस निकाला, हमने मना कर दिया...“अभी-अभी ली ही है” “अरे यार दो-तीन चाय बिना पीए मोशन नहीं होगा... पी ले, नहीं तो कब्ज ठीक नहीं होगी। फिर गाली देगा, कहाँ अस्पताल में सुला दिया मैंने...।”

काँच की चूड़ियाँ एक बार फिर खनकी थीं... झरने ने फिर से मधुर टेर दी हो जैसे... झील के पार चर रही बकरियों के गले में बँधी घंटियाँ घनघनाई हों जैसे... मीठी आवाज़ में हँसी, इतनी मधुर हँसी को सुनकर जहाँ दोस्त ने भी हरे पर्दे से बाहर आकर देखा था तो हमारी तरह हैरान रह गया था... “इतना खूबसूरत भी हो सकता है कोई भला...” दोस्त ने आह की थी। “अबू आप से ज्यादा पीने वाले हैं यहाँ...।” कोयल के बोल थे ये। मैं लाज से मर-सा गया था।

“अरे धीरे बोल शाहीन, साहब सुन लेंगे...।” चाचा बुदबुदाए थे। पर हमने सुन लिया था... कितनी भी धीमी आवाज़ में गाए कोयल, वादियाँ सुन ही लेती हैं। कितनी ही मन्दिम आवाज में कूके पपीहा, पर बादल सुन ही लेते हैं। झील के पार चर रही गायों की घंटियाँ झील के परिन्दे भला नहीं सुनेंगे तो कौन सुनेगा। कितनी भी धीमी बोले शाहीन, हम भला बिना सुने रह सकते हैं? उसकी प्यारी आवाज़ तो बेस अस्पताल का यह पूरा सर्जिकल वार्ड सुन रहा है और मुस्करा रहा है। पूरा बेस अस्पताल सुन रहा है और मोहित हो रहा है। अस्पताल की एक-एक ईंट सुन रही है और खुद का होना सिद्ध कर रही है। इतनी मधुर संगीत बिखेरने वाली मधुर आवाज़ को हो सकता है पहले भी कभी सुना हो इस अस्पताल ने परन्तु वह संसार की हुस्ने-मलिका की आवाज़ नहीं थी, वह शाहीन की आवाज़ नहीं थी। अमाँ यार मैंने मन ही मन कहा जिस डॉ. शाहीन की अवतार है यह, उस आवाज़ को तो रोज ही सुनता रहा है यह अस्पताल। पर क्या डॉ शाहीन की जवान आवाज़ को भी कभी सुना होगा इस अस्पताल ने। अभी पाँच ही तो वर्ष हुए हैं, बने अस्पताल को। डॉक्टर शाहीन 45 को पार कर रही हैं। लगता नहीं वे इतने साल की हो गयी हैं, पर वरिष्ठ अनैस्थैटिक हैं वे। 45 को पार करने पर ही वरिष्ठ विशेषज्ञ बनता है कोई। खैर कोई मधुर आवाज़ इस अस्पताल ने सुनी भी होगी, तो इससे हमें क्या हम तो नहीं थे सुनने वालों में तब...।

चाय पीई गयी थी... चाचा को भी दी थी और शाहीन को भी... एक बचा कप तीसरे मरीज़ के तीमारदार को... मैं शाहीन को लगातार सुनते रहता चाहता था। बोल ही उठा...“अमाँ यार कोरनर वाले चाचा जैसी नहीं लाया चाय तू। पता नहीं कहाँ से बनवाकर लाया है।” मैंने मित्र को ताना-सा मारा था पर चाचा बोल उठे थे “जनाब हमारी शाहीन भी कम नहीं बनाती चाय तो...” “हाँ-हाँ क्यों नहीं, पर क्या है कि चाचा उस समय नींद में था मैं, एक पूरा कप उतार गया, नींद ही नहीं खुली। अब एक बार और बनाकर पिलाए शाहीन तो जानें।” “हाँ, अभी बनाए लाती हूँ, घर दूर ही कितना है।” मधुर आवाज़ एक बार फिर कूकी थी। दोस्त फिर प्यार में आ गया था, “अरे आप बैठिए, भाई की प्रिय चाय ही मैं थर्मस में भरा लाता हूँ।” शाहीन को रोक कर दोस्त ने मेरा बहुत भला किया

था। थोड़ी देर और शाहीन की आवाज़ सुनने को मिलेगी। मन्दिर की घंटियाँ और घनघनाएँगी थोड़ी देर मेरे कानों में। शाहीन को देखकर मैं पक्का आस्तिक हो चला था।

मैं लगातार शाहीन पर नज़र गड़ाए बैठा था। वह भी मुझे देखती, पर नज़र मिलते ही नीचे ताकने लग जाती। जी करता, लगातार देखता ही रहूँ। शाहीन दोनों ही मरीज़ों के चढ़ रही फ्लूड की बोटलों का ध्यान रख रही थी। अपने अब्बू की बोटल का भी और हमारी बोटल का भी। शाहीन जहीन भी है, ताड़ गयी है मुझे, आँखें फाड़ता देखकर। सोचा होगा उसने—लो एक और कुर्बान हो गया तुझ पर शाहीन। पर इसमें कुछ ऐसा है, मुझे भी साथ में लेकर ही मरता लगता है कम्बख्त। शाहीन सोच भी कुछ ऐसा ही रही थी।

लियाकत साहब मित्र द्वारा लाए गए पेपर में आँखें फाड़ रहे थे। पर हम दोनों की यह आँख मिचौली देर तक नहीं चल सकी थी। दोस्त चाय लेकर आ गया था। हम दोनों का ध्यान भंग नहीं हुआ था। लियाकत साब भी पेपर में डूबे हुए थे। “हाँ तो जनाब जयपुर की बेहतरीन चाय हाजिर है”, मित्र बड़े प्यारे अन्दाज़ में बोला था। हम सभी चौंके थे। लियाकत साब भी। लो पहले चाय पीयो चाचा। उन्होंने गिलास पकड़ लिया था... “आप भी लीजिए...” “अरे-अरे बहुत हो गयी है।” शाहीन बोली थी। “ऐसी भी क्या बात है एक कप और चलेगा।” मैं भी बोला था...। पर शाहीन गिलास लूँ या नहीं लूँ के बीच अटकी पड़ी थी। “अरे लड़की पी भी ले, इससे कौन-सा चमड़ी का रंग काला पड़ जाएगा भला...” चाचा ने उसकी परेशानी दूर करने हेतु कहा था। “अब्बू आप भी...” और लियाकत साब हँस दिए थे, बताने लगे “आजकल की लड़कियाँ जनाब खाना-पीना ही छोड़ चुकी हैं। घी, मक्खन, मिठाई इनकी फिगर नहीं बिगाड़ दे कहीं। चाय, कॉफी डील को काला न बना दे कहीं। आजकल नहीं देख रहे, पूरे जयपुर शहर की छोरियाँ डाकू बनी घूम रही हैं, हाथों को ढाँपे—अँगुली भी क्या बाहर रह जाए, मुँह पर स्कार्फ, कम्बख्त देख नहीं सकतीं, वरना आँख को भी ढाँप लें...।” “अब्बू आप भी... आँखों पर काला चश्मा रखती तो हैं।” “हाँ-हाँ भाई मैं तो भूल ही गया था मरे चश्मे को तो। पहले तो गर्मियों में ही डाकू बनी घूमती थीं अब सर्दियों में भी...” शाहीन फिर बोली थी। “हाँ अब्बू वही तो... सर्दियों में ठण्डी हवा भी तो चमड़ी को सूखा बनाती है न...” “हाँ वही तो मैं कह रहा था। सुन्दरता खराब नहीं होनी चाहिए। अरे जयपुर को चोर—उचक्के एक दिन डाकू का भेस बनाकर लूट ले जाएँगे।” भइया बीच में टपक पड़े थे... “हाँ चाचा लुटने वाला तो चिल्लाएगा भी नहीं...” “बरखुरदार हम नहीं समझे भला वो क्यों नहीं चिल्लाएगा...” “अरे साब लुटा भी तो किससे, खूबसूरत बला से...” “हाँ यह तो हम भूल ही गए थे।” लियाकत साब जोर से हँसे थे। शाहीन भी हँसी थी। दोनों की हँसी उस्ताद के तबलों की संगत-सी करती प्रतीत हुई थी...।

“अरे छोरी, चाय नहीं पी अभी तक।” “भूल गयी थी अब्बू।” “देखो जनाब रंग काला पड़ने का डर लग रहा है इसे भी। अच्छी चाय को भी नहीं पी रही कम्बखत।” “इनका रंग काला क्यों पड़ेगा भला...” मैं बीच में बोल पड़ा था। “हाँ यह तो है ही, संगमरमर भला धूल—धुआँ से काला पड़े है कहीं। मैं इसकी माँ से कहता हूँ, अरे भागवान देहेज से क्यों डरती है। लड़-लड़ के मरेंगे तेरी छोरियों से निकाह करने को पूरे जैपुर के

छोरे। वह मानती ही नहीं, सारी की सारी नेक, जहीन और खूबसूरत हैं। भला निकाह के लिए दहेज की आवश्यकता पड़ेगी इन्हें...” “आप सही फरमा रहे हैं चचा, सभी बेटियाँ सुन्दर व सुशील हैं...” “सो तो हैं ही जनाब...” दुःखी हो गए थे लियाकत साब, पता नहीं क्यों? शायद दुखती रग छेड़ दी थी हमने। तभी जूठे चाय के गिलास इकट्ठे करते हुए शाहीन बोल उठी थी, “अबू कोई नहीं छोड़कर जाने की, सभी बनी रहेंगी आपके पास ही, हमें नहीं है दरकार निकाह-विकाह की।” लियाकत साब दुःखी सुर में बोले थे—“अरे रहने दे छोरी, सभी बेटियाँ यही कहती हैं, फिर सारी की सारी चली जाती हैं अपने-अपने घर। बाप से मिलने तक की फुर्सत नहीं मिलती। शाहीन शरमा कर गिलास धोने बाहर चली गयी थी। लियाकत साब फिर से डूब गए थे पेपर में... हमारे पेसेन्ट को भी पेपर पढ़ने का रोग था, पर लियाकत साब छोड़े तक न...।

शाहीन गिलास धोकर आ गयी थी। फिर वही सिलसिला ताकने का, नजरें झुका लेने का चल पड़ा था। साथी लौट गया था, यह कहते हुए कि “मैं नहा-धोकर खाना ले आता हूँ आप यहीं नहा-धो लीजिए...।”

लियाकत साब बोले थे—“अरे यहाँ अस्पताल में कहाँ है खुला पानी। घर पास ही है, शाहीन के साथ चले जाइए, नहा-धोकर आ जाना...” “ठीक है जनाब, अभी डॉक्टर के आ जाने के बाद चला जाऊँगा।” “जैसी आपकी मरजी जनाब, बस रोड के उस पार ही तो है घर। जब भी इच्छा हो चले जाइयो।”

उसी समय मोहसिन आ मरा था... “घर फूफी से मिलकर आ रहा हूँ। कुछ सामान-वामान तो नहीं भेजना है फूफा को... पता चला कि शाहीन गयी है चाय लेकर...” “और तुम भी चले आए... अरे बरखुरदार मुझे देखने आए हो या शाहीन को...” “नहीं आपकी तीमारदारी में अबू ने भेजा है, डॉक्टर साब राउण्ड पर आएँगे, तू फूफा के पास जा और मैं भी पीछे-पीछे आ रहा हूँ...।” मोहसिन ने जैसे सफाई-सी दी थी।

“हाँ शाहीन बेटा तू साहब को ले जा घर। गर्म पानी की व्यवस्था कर दियो, नहा धो लेंगे, थकान भी दूर हो जाएगी। मेरे पास तो मोहसिन है ही...” मोहसिन बीच में ही टपक पड़ा “अरे इतनी दूर क्यों जा रहे हैं जनाब, मैं होटल में गुसल करा लाऊँगा, गर्म, ठण्डा जिससे भी नहाना चाहें, सब इन्तजाम हो जाएगा।” शाहीन देखती चली गयी थी सूनी-सूनी आँखों से। अब मैं क्या बोलूँ, लियाकत साब कुछ बोले, तो मैं उबर सकता हूँ। पर लियाकत साब पेपर में डूब चुके थे, कुछ नहीं बोले। शाहीन मरे कदमों से बेस अस्पताल से लौट गयी थी... उसे जल्दी ही वापस आना चाहिए...। थोड़ी देर बाद ही मोहसिन लौट गया था...। लियाकत साब ने आवाज़ लगायी थी... “कितना बेहया छोरा है, तीमारदारी करने आया था, भाग गया। अक्ल दो कौड़ी की नहीं, बिहाएँगे शाहीन को...” “काम क्या था चाचा...” “जरा पेशाब करना था बेटा” “चलो मैं ले चलता हूँ चाचा।” और इस प्रकार मैंने एक नेक काम और किया था।

हम लौटे तो दादी अम्मा बैठी थीं, शाहीन ने बताया था—“मोहसिन है तीमारदारी में, भला खाक देख-भाल करेगा... शाहीन के चक्कर लगाने आया होगा मुआ... मैं चली आयी। डॉक्टर साब दौरे पर आने ही वाले होंगे।”

दादी ने पान का बीड़ा थमाया लियाकत साब को...। “अरे अम्मा इतने क्यों उठा लायी, डॉक्टर ने मना किया है...” “अरे बेटा शाहीन ने कहा पड़ोसियों को भी देना है, उसी ने बनाए हैं।” “हाँ जनाब ले लो” मुँह में पान दबाए-दबाए लियाकत साब बोले थे। “बिल्कुल हिन्दू पान बनाती है शाहीन, सुपारी-सौंफ-गुलकन्द डालकर, खाली सुपारी नहीं भरी है...।” चचा ने तारीफ की थी पान की।

“फिर तो खाना ही पड़ेगा न चाचा...” “हाँ क्यों नहीं, शौक से लो।” चार पान अलग से पुड़े में बाँधे थे।

मैं पगला-सा गया था पान देखकर। कितने खूबसूरत ढंग से बाँधे गए थे, पनवाड़ी भी नहीं बाँधे...। सुपारी कम, सौंफ-मुरेठी ज्यादा... गुलकन्द भी पड़ा था, इलायची के दाने भी। “अरे मेरी पसन्द शाहीन को कैसे मालूम पड़ी।” दादी खुश थीं, बोली, “कैसा लगा पान...” “बढ़िया है दादी अम्मा...” “शाहीन ने बनाकर दिया है तो बढ़िया तो होगा ही।” मैं पान खाकर पेपर के पन्ने पलट ही रहा था, उमर आ गए। भले समय पर आए उमर मैं नहा-धोकर आऊँगा। हाँ भाई जान घर चलते हैं। चाचा देख रहे थे। कुछ नहीं बोले। हमारे मरीज़ को भी दादी के जिम्मे करके हम चले गए थे।

नहा-धोकर आए तो खाना आ गया था। मैं कुछ निवाले निगल ऑफिस चला गया था। ऑफिस में मन नहीं लगा था। जल्दी ही अस्पताल जाने की पी.ए. को कह चल दिया था। पूरे रास्ते शाहीन के बारे में ही सोचता रहा था। शाहीन पूरे दिल दिमाग पर छा गयी थी। शाहीन मिलनी चाहिए अस्पताल पहुँचते ही। रास्ते में आए मन्दिर को माथा झुकाया था। हे भगवान मेरी शाहीन जाते ही मिलनी चाहिए... धत् तेरे की, एक दिन देखा नहीं, शाहीन मेरी हो गयी, भगवान जी क्या सोचेंगे, मैं मन ही मन बड़बड़ाया था और मुस्करा दिया था।

पर भगवान जी ने मेरी सुन ली थी। शाहीन खाली बेड पर बैठी दरवाज़े की ओर ताक रही थी। शायद मुझे ही ताक रही हो... देखते ही चेहरा खिल उठा था। मेरा भी और उसका भी। थोड़ा सज धज कर आयी थी आज शाहीन। भूरे पर्दे में गजब ही लग रही थी। या खुदा दो-चार दिन और ठहर गए यहाँ, तो यह तो मुझे मार ही डालेगी कम्बख्त। साथी सो गया था। पेसेन्ट पेपर पढ़ रहा था। लियाकत साब भी सो रहे थे। मैंने तीसरे मरीज़ की कैफ़ियत ली थी। वह रोनी आवाज़ में बोला, “खाना नहीं बताया भाई जान अभी केवल ब्रेड बिस्किट चाय दूध लेना है” “अरे तो रो क्यों रहा है, पेट भर के ब्रेड खा लेना...” “हाँ आपके साथ होता तब समझते...” “हमारी तो यार यों ही भूख भाग गयी है अस्पताल में।” हमने तीसरे मरीज़ से बातों के बहाने अपनी बेचैन स्थिति शाहीन को बयान कर दी थी। शाहीन भी भाँपकर गमगीन हो गयी थी।

सबसे बड़ा फायदा यह हुआ था कि बोटल बन्द हो गयी थी और स्टैण्ड बनाया गया हरा पर्दा मरीज़ों के बीच से उठ गया था। मरीज़ से गुप्तगू होती देख मित्र जाग गए थे। “अमाँ यार, खाना तो खाया ही नहीं तूने...” “अरे भूख लगती है क्या ऐसे माहौल में” “हाँ भाई, भूख तो भाग ही गयी होगी दुर्गन्ध से नहीं तो सुगन्ध से सही।” मित्र ने शाहीन की ओर देखकर फिकरा कसा था। शाहीन मुस्कुरा दी थी। यह कम्बख्त भी

चढ़ गया फाँसी पर, ओ शाहीन तू कितनों को मौत के घाट उतारेगी... पर इस दूसरे कम्बख्त ने तो मुझे ही मार डाला... मेरी ओर देखकर शाहीन मुस्कराई थी।

लियाकत साब उठ गए थे। “अरे शाहीन बेटा, आ गयी तू। अम्मा कहाँ चली गयी।” “हाँ अब्बू, दादी को घर भेज दिया, थक गयी होगी बेचारी।” “थक तो तू भी गयी होगी, जा आराम कर, मैं तो सो रहा हूँ।” दो बजे वाला इंजैक्शन लग ही गया है। शाम आ जाइयो...” “नहीं, अब्बू मैं अकेला नहीं छोड़ूँगी तुम्हें।” लियाकत साब मुस्कुरा दिए थे...।

इसके बाद चुप्पी छा गयी थी... चुप्पी तोड़ने की गरज से ही मैं बोला था “किस क्लास में हैं आप?” “बीए का आखिरी साल है बेटा” जवाब चाचा ने दिया था। मैंने फिर शाहीन से सवाल किया था—“क्या-क्या सबजैक्ट हैं?” उसके सुन्दर होंठ, बोलने के लिए गुलाब की पंखुड़ियों से खुलने को ही थे कि लियाकत साब ने सवाल को फिर झपट लिया था। “उर्दू है बेटा और भी कुछ पढ़ती होगी। अब पराए घर जाएगी तो अपनी जबान तो आनी ही चाहिए।” “तो किस शायर को डिटेल में पढ़ रही हैं आप?” अबकी बार भी चाचा ने सुना, पर जवाब नहीं दे पाए... “शेख सादी हैं पुरानों में, जोंक साब हैं, गालिब हैं, नसीर हैं, बद्र साब हैं।” शाहीन ने चहकते हुए बताया था। “अरे वाह मजा आ गया तब तो, पिछले दिनों मुशायरे में सुना था बशीर बद्र साब को। कमाल के शायर हैं। उन्हें सुनकर मैंने तो उर्दू पढ़ने की ही ठान ली थी। पर कोई ढंग का टीचर मिले तब न। क्या नफीस भाषा है। जो कायदा, नफासत... प्यार, मीठापन इस जबान में है और दूसरी में कहाँ, सीखने को दिल करता है।” “वजा फरमाया जनाब आपने, बड़े ही सलीके की जबान है, पर सियासतदारों ने इसे मुसलमानों की जबान बना दिया है। भला जबानों के भी मजहब होते हैं...” “अब चाचा सियासतदारों को तो अपनी रोटियाँ सेंकनी हैं, मजहब से सिके या जबान से।” “सो तो है ही बेटा।” चाचा ने दुःखी मन से कहा था।

थोड़ी देर बाद चाचा फिर बोले थे, “हाँ जनाब अच्छा सोचा है आपने। मादरेजबान के बाद भी आदमी को दो-तीन जबान तो सीखनी ही चाहिए।” “चाचा मैं उर्दू और पंजाबी दोनों सीखना चाहता हूँ। दोनों जबानों का अदब अच्छा बन पड़ा है। बचा रखा है अदब ने अपने आप को फैशन से अब तक। भला ऐसे भी क्या प्रयोग कविता को कविता ही नहीं रहने दी हिन्दी में। इतनी दुरूह कर दी कि लिखने वालों के अलावा कोई समझे ही नहीं।” “लिखने वालों ने भी समझी या नहीं, पता ही नहीं चलता।” जुमला बोल मित्र भी बातों में शामिल हो गये थे। “उर्दू में कहानीपन बचा है। अभी भी किस्सगोई बची है यहाँ। हिन्दी ने कहानी को भी बिगाड़ कर रख दिया। चाचा हिन्दी जबान में तो अकहानी अकविता भी आ गयी है। पूरे अदब को इन्होंने ही भर डाला है।” “जनाब मैंने तो अदब उर्दू का पढ़ा न हिन्दी का। फुर्सत ही कहाँ मिलती है। मैं तो दो रोटी का अदब पढ़ता हूँ, बस जैसे भी अल्लाह-ताला दाल-रोटी का जुगाड़ कर दे।” चाचा ने अपने कम पढ़ा-लिखा होने पर दुःख-सा व्यक्त किया था।

थोड़ी देर बाद फिर चाचा बोले थे, “अरे हाँ आप उर्दू सीखने की बात कर रहे थे बरखुरदार। क्या कोई अच्छा मुर्सिद मिला आपको...” “कहा तो था उमर से, अभी तक तो मिला नहीं।” “ढंग का आदमी हो, जो समय दे दे, वह भी कम पैसे में तो बेहतर

रहे। उमर लगा हुआ है ढूँढ़ने में अभी तक।” “वह स्वयं भी तो दस जमात ही तो पास है...” “अरे बेटा बुरा न मानो तो तुम हमारे घर आ सकते हो। शाहीन पढ़ा देगी घंटे भर तो, बदले में तुम इसे दूसरे सबजेक्ट पढ़ा देना।” शाहीन के चेहरे पर खुशी बिखर गयी थी। गोया की दोस्ती को बढ़ाने का इन्तजाम खुद अब्बू ही कर रहे हैं। सुकून फैल गया था, उसके मासूम चेहरे पर। पर यहाँ कहाँ सुकून... यहाँ तो बस जल रहे हैं, आग लगी हो जैसे, बस धधक ही रहे हैं। तब तक जलते रहेंगे जब तक इन मधुर हसीन होठों को छू न लें... इन काले रुखसारों के साये में सो ना लें। देखो कब तक चलता है यह। इसे तो देखना ही अपने आप में ईश्वर से साक्षात्कार करना है। मन ने कहा, मरीजों तुम ठीक ही ना होना कभी। पर बात करने में हरज ही क्या है। उमर भी संयोग से आ गया था। “लियाकत साब फरमा रहे हैं उमर, मैं शाहीन से ही क्यों न उर्दू पढ़ लूँ।” “बेहतर होगा भाईजान, आपा फाइनल में है, इसी साल बी.ए. भी हो जाएगा। मास्टर बने या नहीं, आप तो इन्हें टीचर बना ही डालिए।” “बेहतर होगा... काम तो क्या, बेटा नौकरी के लिए थोड़े ही पढ़ा रहा हूँ बेटी को...” “अरे नहीं चचा, काम भी क्यों नहीं मिलेगा भला इन्हें। हाँ तो आपा कब फुरसत निकालेंगी आप...” उमर ने सीधे ही शाहीन से पूछा था “बस 8 से 12 के अलावा जब भी साहब को समय मिले, आ जाएँ... उमर का घर कैसा हेगा शाहीन जी...” “हाँ-हाँ क्या बुराई है?” शाहीन के बोलने से पहले ही लियाकत चाचा बोल उठे थे, “बेहतर रहेगा, उमर का और हमारा घर कोई अलहदा थोड़े ही ना है। बस बीमारी ठीक होते ही हो जाओ शुरू।” मैं बीच में ही बोल पड़ा था “पर चचा टीचर तो कुछ बोलें, पढ़ाएँगी या नहीं...।” “मेरा सौभाग्य होगा आप जैसों के कुछ काम आ सकें तो, हाँ इकनोमिक्स तो पढ़ाना पड़ेगा आपको बदले में।” “हाँ-हाँ क्यों नहीं, पक्का रहा...” उमर हँस दिया, वाह, आप तो एक दूसरे के टीचर हो गए। अच्छी रही यह भी।

नर्स बीच में आ गयी थी। 8 बजे वाला इन्जेक्शन दीजिए... अरे बातों ही बातों में आठ भी बज गए। चौंके थे लियाकत साब... चहकी थी शाहीन... “मैं तो भूल ही गयी। घर बताकर आना था। अब्बू के लिए खिचड़ी बनानी थी।” उमर ने कहा “मैं बोल आता हूँ चाचा की खिचड़ी के लिए।” “ठीक है तब तक हम और गपसप कर लेते हैं...।” मैंने उमर को और थोड़ी देर जन्नत में रहने का अवसर देने के लिए मन ही मन धन्यवाद दिया था।

पर उमर जा पाता, उससे पहले ही मोहसिन आ धमका था। अरे उमर बेटे को क्यों तकलीफ देती हो, मेरे पास तो मोहसिन आ ही गया...। मोहसिन रूआँसा हो गया था। चाचा के पेशानी पर भी उदासी छा गयी थी। ऐसा क्या है इस बन्दे में, जो आते ही सबके चेहरों पर चुप्पी जड़ जाती है। आता ही क्यों है ये। यह भी तो शाहीन को सूँघता हुआ ही आता है। नफरत क्यों करती है शाहीन। शायद विवाह नहीं करना चाहती हो इससे।

एक सप्ताह बाद भी हम दोनों ही अस्पताल से छुट्टी नहीं चाह रहे थे। 8वें दिन डॉ. शराफत आए थे। आप लोगों को अब तो जाना ही पड़ेगा। हम परसों से कैम्प कर रहे हैं, जिले के दूरवर्ती गाँव में। 15 दिन बाद दिखा जाना एक बार। ओके हैं दोनों। लियाकत चाचा बोले थे “ऐसा है शराफत, बस काम में लगा तो काम का होकर रह जाऊँगा। सड़ी

आँत का कोई टुकड़ा बच गया ना तो फिर चाहे पूरा पेट ही क्यों नहीं सड़ जाए, मैं अस्पताल आने का समय नहीं निकाल पाऊँगा।” “तेरा तो दिमाग ही सड़ गया है। कितनी बार बता दिया अपेन्डिक्स तो पूरा ही निकाला जाता है। जब पूरा का पूरा ही निकाल दिया, तो अब सड़ने के लिए बचा ही क्या... तेरा सिर...।” “अरे-अरे नाराज मत हो डॉक्टर, अब हम क्या जानें ये आँतों के दाँव-पेंच। सीधे-सादे आदमी हैं, बस काम करना जानते हैं।” चाचा मुस्कराए थे।

छुट्टी दे दी गयी थी। शाहीन ने घर चलने की जिद कर ली थी। चाचा भी बोल उठे थे- नहीं जनाब, पहले आप सभी हमारे घर चलेंगे। इसके बाद अस्पताल छोड़ेंगे। हम सभी जाने को तैयार हो गए थे।

घर क्या था। साफ़-सुथरा... छोटा-सा जन्नत-सा घर। सभी बच्चियाँ एक साथ चाचा को घेर कर खड़ी हो गयी थीं। मैं उनके नाम याद नहीं कर सका था। पर छोटी वाली ने खट से मेरा हाथ पकड़ लिया था। मैं कुर्सी पर बैठा, तो वह झट से मेरी गोदी में बैठ गयी थी। उसका अतिया नाम था। बिस्किट उठाकर अपने हाथ से मुझे खिलाने लगी थी। मैंने उसे कहा पहले तू खा... उसने बिस्किट आधा खाकर मेरे मुँह में दे दिया था। दूसरी बहनों ने उसे ऐसा नहीं करने का इशारा किया था, पर वह तब तक मुझे बिस्किट खिला चुकी थी। उससे बड़ी वाली ने अन्दर जाकर शाहीन से शिकायत की थी। अतिया मेहमानों को जूठा बिस्किट खिला रही है। शाहीन बाहर आयी थी “अतिया मेहमान को परेशान नहीं किया करते हैं, जूठा नहीं खिलाते हैं। चलो, दूसरी कुर्सी पर बैठो...।” “आपा जूठा कहाँ खिला रही हूँ हम तो साथ-साथ खा रहे हैं।” “शैतान कहीं की...।” अतिया हँस दी थी। मैं भी हँस दिया था। शाहीन ने एक बिस्किट उठाकर मेरे मुँह में जल्दी से पूरे का पूरा ठूस दिया...।

शाहीन चाय ले आयी थी। लियाकत साब भी बाहर आ गए थे बैठक में... शक्कर ज्यादा तो नहीं है। शाहीन धीमे से बोली थी “नहीं तो ठीक है...” लियाकत साब जोर से हँसे थे। “अरे शाहीन शक्कर तो डालना ही भूल गयी...।” शाहीन चौंक कर अन्दर से शक्कर का पोट उठा लायी थी... “एक-एक चम्मच, सॉरी, भूल गयी...” हँस दी थी धीमे-धीमे। “कोई खास नहीं मुझे तो पता ही नहीं चला...” लियाकत साब हँस दिए थे “यह उम्र ही ऐसी होती है बेटा...।”

मैं विदा हो आया था। लियाकत साब गेट तक आए थे। शाहीन भी आई थी। “फिर आइएगा... और पढ़ाई भी तो शुरू करनी है। मैं भी पीछा नहीं छोड़ने की। आप पढ़ें या न पढ़ें, मुझे इकोनोमिक्स ज़रूर पढ़नी है आपसे...।” “हाँ याद है। पर मैं पहले फीस वसूल करूँगा, पढ़ाना तुम्हें पड़ेगा पहले मुझे... मैं उमर के हाथ समाचार भिजवा दूँगा।”

“फिर आना बरखुरदार इधर से निकलो तो, हाँ रामगंज में मेरी बेकरी है, उधर आओ तो बेकरी पर ज़रूर आना।” “हाँ-हाँ चाचा मैं ज़रूर आऊँगा आपसे मिलने।” मैं दुःखी मन शाहीन के घर से लौट आया था।

दस दिन तक मैं उलझा रहा था ऑफिस के काम में। शाहीन ने उमर के हाथ समाचार भिजवाया था। कल सण्डे से शुरू कर देते हैं। मेरे वहाँ पहुँचने से पहले ही शाहीन पहुँच

गयी थी। उमर ने हमारे बैठने की जगह की साफ़-सफाई कर दी थी। शाहीन साथ में उर्दू का कायदा भी लेकर आयी थी। मैं हँस दिया था। “अरे कायदे से तो बच्चे पढ़ाए जाते हैं, मोहतरमा... ये क्या ले आयीं आप...” “अब लिपि तो कायदे से ही सीखनी पड़ेगी न...” “ठीक है, जैसा गुरु का आदेश।” उमर चाय बनाने अन्दर चला गया था। शाहीन रो दी थी...। “अरे ये क्या... गुरु रोते हैं कभी...” “आप बड़े वो हैं, कहाँ थे दस दिन तक। फोन ही कर लेते।” “क्या फोन नम्बर दिया था आपने...” “आपने माँगा ही कब था... फिर भी उमर से माँग सकते थे नम्बर...” “अरे मैं ऑफिस के काम से बाहर चला गया था। मुआफी चाहूँगा।” “कितने बुरे निकले हैं ये दस दिन, तुम क्या जानो।” “नम्बर दे देती तो बात तो कर लेता।” उसने कायदे पर फोन नम्बर लिख कर मुझे दे दिया था। उमर काफी देर तक नहीं आया था। मैंने सोचा शायद हमें समय देना चाहता हो।

“आपकी इजाजत चाहिए थी...” मेरा वाक्य पूरा हो उससे पहले ही उसने मेरा मुँह पकड़ कर चूम लिया था। मैं अवाकू बाप रे, यह छुई-मुई ऐसा भी कर सकती है। “क्या करती तो जनाब को परमीशन चाहिए, हम तो बिना परमीशन के ही कर डालते हैं जो करना, होता है।” शाहीन ने मुस्कराते हुए सफाई दी थी। कैसे जान गयी थी शाहीन मेरे मन की बात।

मैं उसके बालों को सहलाने लगा था। वह दुःखी हो गयी थी। “क्या हुआ?” “कुछ नहीं, यों ही कुछ सोच रही थी क्या करने जा रहे हैं हम...” “अच्छा ही करेंगे घबराओ मत...” “हाँ, आप तो अच्छा ही करेंगे, पर सब कुछ जैसे आप ही करने वाले हैं।” शाहीन काफी समझदार थी, उस समय।

पढ़ाई चल निकली थी। मैंने सारे हर्फ लिखने सीख लिए थे। शाहीन ने इस दौरान मुझे कुछ शायरी भी सुनाई थी। अपनी भी और साहिर साहब की भी। साहिर व बशीर बद्र उसके पसन्दीदा शायर थे। ज्यों ही उमर पानी लेने अन्दर जाता शाहीन का पहला काम मुझे चूमना होता। मैं देखता ही रह जाता, समय ही नहीं मिल पाता।

“आज तो मैंने आपा से मिरची बड़े खिलाने की हाँ की थी। मैं जा रहा हूँ, भाईजान...” “अरे पैसे तो लेता जा...” मैंने आवाज़ दी थी। “पैसे हैं भाईजान मेरे पास।” शाहीन ने तब तक दुबारा चूम लिया था। “पैसे मैंने दे दिए हैं उमर को और हाँ आपकी परमीशन तो हम उस रोज ही ग्रान्टेड कर चुके थे।” “अच्छा तो यह बात है।” मैंने हलक से चूम लिया था शाहीन को... ईश्वर जाने कितना रोमांच हुआ... शाहीन पगला ही गयी थी। काँपने लगी थी। मैंने एक बार, दो बार पता नहीं कितनी ही बार चूमा उसे। वह पगलायी-सी मेरी गोद में ढह गयी थी। हम कितनी देर तक ऐसे ही बैठे रहे, पता नहीं...। उमर की खँखारने की आवाज़ से हम दोनों चौंक गए थे... “तो आपा, गर्मागर्म खाइए। मैं चाय बनाकर लाता हूँ।” पगला चुके थे हम तो बस देखते रहे कभी उमर को, कभी मिरची बड़ों को, तो कभी एक दूसरे को। शाहीन बुरी तरह चुप थी। चेहरे पर खुशी थी, पर एकदम से चुप। ऐसे अवसर पर तो बोलना चाहिए। पर हम दोनों चुप थे, हाँ आँखें बोल रही थीं, साँसे बोल रही थीं, हवा बोल रही थी, पूरा माहौल बोल रहा था।

चाय आ गयी थी। खुशी के मारे शाहीन के आँसुओं की बाढ़ आ गयी थी। उमर से आँसुओं को छुपाने के लिए उसने एक मिर्ची का बड़ा टुकड़ा मुँह में डाल कर चुभलाना शुरू कर दिया था। “मिर्ची बहुत है...” “लो भला मिर्ची में मिर्ची नहीं होगी तो फिर क्या होगा आपा...” उमर ने जैसे शाहीन को समझाना चाहा था। मैं समझ गया था, हँस दिया। शाहीन के करीब पाँच मिनट तक आँसू झरते रहे। चाय पीकर उमर कप अन्दर रखने चला गया था। “मुझे मायूस मत करना जनाब बस आपसे यही एक इल्तजा है।” “जनाब का एक नाम भी है, शाहीन।” “नहीं अपनों को नाम से नहीं बुलाया करते...” बड़े प्यार से देखा था शाहीन ने। मैं बौरा गया था...। नहीं शाहीन इस ज़िन्दगी में तो मायूस कर ही नहीं सकता तुम्हें, तुम्हें तो क्या, किसी को भी नहीं...।” मैंने भरोसा दिलाया था। शाहीन ने आसानी से भरोसा कर भी लिया था।

धीरे-धीरे हमारे ट्यूशन की बात मोहसिन तक भी पहुँच गयी थी। वह भी वहाँ आने लगा था। उमर ने मज़ाक़ की थी, “तो क्या भाईजान भी पढ़ना चाहेंगे आपा से...” “तेरी आपा पढ़ाए, तो क्यों नहीं पढ़ूँगा... बड़ी फीस देने के लिए भी तैयार हूँ...” मोहसिन बोला था। “पर हमें कोई फीस नहीं चाहिए... और हाँ, उमर, कह दो इनसे, हम जहीनों को पढ़ाते हैं, जाहिलों को नहीं” “अपनी आपा से बोलो उमर, तमीज से बोला करें। होने वाले शौहर को नफीस उर्दू में बोलने के और भी बहुत से लब्ज होते हैं। यही एक तो नहीं।” फुफकारा था मोहसिन। शाहीन गुस्से में भर चली गयी थी...। मैं और उमर रोकते रहे, पर वह गुस्से में हो, पर्दा गिराकर चली गयी थी...। मैंने मोहसिन को खाने वाली नज़रों से देखा था। हँस दिया था मोहसिन। “आप तो खामखाँ नाराज़ हो रहे हैं भाईजान। मज़ाक़ ही तो की थी मैंने, पता नहीं इस कद्र क्यों चिढ़ती हैं शाहीन मुझसे। बस निकाह पक्की समझिए। जितने नखरे करेगी, उतनी ही नमकीन होती चली जाएगी। अच्छी बात है गुस्सा करना भी। पर भाईजान, शाहीन सभी को प्यार करती है, मेरे बोलते ही क्यों नफरत करने लगती है, पता नहीं...।” मोहसिन की आवाज़ भरा गयी थी। अब मैं क्या जवाब दूँ उसे, सो चुप रहा था।

तीसरे दिन आयी थी शाहीन वह भी उमर को भेजने पर। “क्या बात है, आई क्यों नहीं तुम।” “वह मरा मोहसिन... पैगाम भिजवाया है मामू के हाथ। महीने भर में डोली उठवा दो। मैंने मुश्किल से मनाया है अब्बू को। बी.ए. तो कर लेने दें...। बस अम्मी का गुस्सा सातवें आसमान पर है। होता रहे... बोलने तक का तो सऊर है नहीं मोहसिन को... अम्मी अपने भाई-भतीजों के चक्कर में मुझे कसाई के घर बाँधने की तैयारी कर रही हैं।” कहकर जार-जार रो दी थी शाहीन। उसकी खूबसूरत नीली आँखें, रोने से लाल गुड़हल हो गयी थीं।

उमर के अन्दर जाते ही उसने एक झटके में मुझे चूम डाला था।” अब आपके हाथ में हैं मेरे प्राण—उबारो या मारो... आप कैसे मर्द हैं? मेरा निकाह पक्का हो गया है और आप कुछ करते ही नहीं। बी.ए. की परीक्षा दी और निकाह हुआ। परिणाम को नहीं देखना उन्हें। इस बात को लेकर घर में रोज़ झगड़ा हो रहा है। अब्बू—अम्मी रोज़ लड़ रहे हैं। यह तो दादी है जो बच्चियों को समय पर निवाला डाल रही है। दादी ने चिरोरी की है

तब जाके मानी है अम्मी परीक्षा तक निकाह को आगे खिसकाने के लिए।” रूअँसी हो गयी थी शाहीन। मैं चुपचाप सुनता रहा था।

“ऐसा है जनाब, अब्बू अम्मी से बेहद प्यार करते हैं। अम्मी अपने भाई से प्यार तो करती ही है साथ ही हम उनके एहसानों के तले भी दबे पड़े हैं। कैसे छः बेटियों को पार उतारेगी अम्मी, भाई के सहारे ही न... समय-समय पर मामू अर्थिक सहायता करते ही हैं। अब्बू की बेकरी से तो दाल-रोटी भी नहीं चल पाती। अब्बू इस धंधे के अलावा कुछ जानते भी नहीं हैं। बेकरी में भी नए तरीके अपनाते नहीं हैं। ऐसे में कैसे चले घर।” शाहीन ने अपने अब्बू-अम्मी की बेबसी मुझे समझाई थी।

“परीक्षा अप्रैल में होगी। अप्रैल में आपको मेरे लिए कुछ न कुछ करना ही होगा। घरवालों के पास मोहसिन को ब्याहने के अलावा और कोई चारा नहीं है। मोहसिन के घर डोली में मेरी लाश ही जाएगी। आप कुछ तो कीजिए। मुझे भगा तो सकते हैं न आप...।” शाहीन जबर्दस्त गुस्से में थी “मुझे सोचने दो शाहीन...” “आप सोचते ही रहें जब तक मेरा जनाजा उठ चुका होगा।” शाहीन गुस्से में बोली थी।

“भगाना इतना आसान नहीं है शाहीन...। मैं ए क्लास अफसर हूँ। नौकरी चली जाएगी। मम्मी पापा को 15 दिन से लगा हुआ हूँ मनाने में, पर पापा टस से मस नहीं हो रहे हैं।”

“तो फिर आप अपनी नौकरी और पापा के लिए बैठे रहिए, मैं झूल जाती हूँ रस्सी से...।” मैंने उसके सुन्दर होंठों पर अँगुली रख दी थी। वह जार-जार रो दी थी। “मैं मोहसिन की घरवाली नहीं बनना चाहती, किसी भी शर्त पर नहीं। आप चाहें तो मुझे कोठे पर बैठा दें, पर प्लीज यहाँ से निकालें...” “हो क्या गया है तुम्हें, मुझ पर विश्वास करो।” उसने मेरी एक नहीं सुनी थी और रोती हुई चली गयी थी बाहर। आज ना पढ़ी, ना पढ़ाया।

उमर से मेरी बात हुई थी। “कुछ करना ही पड़ेगा उमर।” “मैं आपके साथ हूँ भाईजान...” “क्या किया जाए?” “विवाह को भला पचा पाएगा समाज?” “यदि समाज नहीं पचा पाए तो क्या हम अपने प्राण त्याग दें।” “समाज गला घोटना जानता है भाईजान और कुछ नहीं।” उमर ने जैसे शाहीन की तरफदारी की थी।

“हाँ, पर कुछ तो करना ही पड़ेगा। प्यार तो जंजाल होता है। और हम फँस चुके हैं।” मैंने उसाँस भरी थी। “जैसे भी हो भाईजान आपा को बचाना ही पड़ेगा।” शाहीन का कड़ा पक्ष लिया था उमर ने।

परीक्षा का कार्यक्रम आ गया था। अम्मी ने मामू को विवाह की तारीख तय करने को बुला लिया था। परीक्षा समाप्त होने के आठवें दिन निकाह होना तय हुआ था। मुझे उमर ने सब कुछ बता दिया था। मैं यूनिवर्सिटी मिलने गया था। “भई निकाह मुबारक हो...” “खाली मजाक से काम नहीं चलेगा जनाब। इस तारीख तक आप मुझे भगाएँगे या मैं आपको भगाऊँ। वरना इस तारीख की शाम को मैं फाँसी के फंदे पर झूल जाऊँगी...” वह मायूस थी... काफी मायूस...। “इत्मीनान से बात करते हैं, कैफे चलते हैं। एक-एक कॉफी पीते है।” कॉफी के साथ ही उमर भी अन्दर आ गया था। “डेट ऑफ बर्थ क्या है शाहीन आपका...” “मैं परसों 21 की हो जाऊँगी। सर्टिफिकेट के आधार पर वैसे मुझे

छः महीने और चाहिए...” “ठीक है हम भाग चलेंगे...” “मैं भगा ले जाऊँगी परीक्षा समाप्त होते ही तुम्हें” “डन” “हाँ डन” उमर भी खुश था। अन्तिम पेपर वाले दिन आठ बजे उमर के घर हमारा मिलना तय हुआ था।

पेपर खतम होते ही शाहीन अपने घर आ गयी थी। मोहसिन वहाँ बैठा मिला... “देखिए मोहसिन फिलहाल आप जाइए यहाँ से...” शाहीन मोहसिन को देखते ही फट पड़ी थी।

“यह क्या कह रही हो शाहीन, आठ दिन बाद अपना निकाह होने वाला है...” “यह हम आठ दिन बाद में सोचेंगे... अभी तो आप यहाँ से फूटिए। हमारे सर में दर्द है, हम कल बात करेंगे आपसे...।” मोहसिन चला गया था, रूआँसा होकर... “देख लूँगा तुझे भी, सारे अपमानों का बदला आठ दिन बाद ले लूँगा...” कुड़मुड़ाया था मन ही मन मोहसिन।

वह काफी सुस्त थी। आज उसे घर छोड़ना था। उसने दादी अम्मा से प्यार किया था... अब्बू को फोन कर जल्दी बुला लिया था... आज हमारी परीक्षा पूरी हो गयी है, जल्दी घर आ जाइए, अब्बू थोड़ी देर में ही पहुँच भी गए थे। सभी को अपने हाथों शाहीन ने काली मिर्च—लौंग डली चाय पिलाई थी। शाहीन गमगीन लग रही थी। अब्बू भी गमगीन हो गए थे... “क्या करूँ मेरी बच्ची, तेरी अम्मा ने यह सब ज़िद में आकर करा लिया...” अब्बू ने दुःख व्यक्त किया था। “वह सब ठीक हो जाएगा अब्बू, अगर आप साथ दें तो...” शाहीन अब्बू को विश्वास में लेने हेतु बोली थी।

“वह कैसे बेटा...” वे दोनों अन्दर चले गए थे। “अब्बू शिवम विवाह के लिए तैयार है।” “वह तो ठीक है बेटा, पर इस मोहसिन से कैसे पीछा छुड़ाएँ।” “हम आज आठ बजे भाग जाएँगे। मैं इक्कीस की हो गयी हूँ। कहीं भी मैरिज कर सकती हूँ... सो कर लेंगे...” “पर बेटा तेरे मामू... खा जाएँगे हमें...। खैर हमारा जो होगा देख लेंगे। पर तेरे मामू तुम्हें भी सही सलामत शहर नहीं छोड़ने देंगे... क्या शिवम के मम्मी-पापा तैयार हैं...” सवालियों की झड़ी लगा दी थी अब्बू ने। “माँ तैयार है, पापा भी तैयार हो जाएँगे, लेकिन अभी समय लगेगा... मेरे समाचार उमर भाईजान समय-समय पर आपको देते रहेंगे...।” शाहीन ने पूरी योजना अब्बू को समझा दी थी। “और हमें क्या करना है? अब्बू को जैसे तुरन्त जवाब भी मिल गया हो और हम तीन दिन बाद एफ.आई.आर. दर्ज कराएँगे, जब तक तुम काफी दूर जा चुके होंगे।” कातर स्वर में अब्बू बोले थे।

ठीक आठ बजे उमर के घर पहुँच गयी थी शाहीन। मैं भी तैयार था। टैक्सी को 8.15 पर आना था, वह भी सही समय पर आ गयी थी। हम चल दिए थे। तीसरे रोज फोन किया था उमर के ऑफिस। उसने बताया था एफ.आई.आर. करा दी है चचा ने। पर पुलिस कुछ खास करती नजर नहीं आ रही। पर हाँ, मामू गड़बड़ कर सकते हैं। वे जमात के नेताओं की मीटिंग बुला चुके हैं। इसे मजहब के खिलाफ़ लेना चाह रहे हैं। मैंने भी आर.एस.एस. वालों से बात कर ली है... आपके मित्र सहायता करेंगे पूरी-पूरी... लालाजी मजे लेते घूम रहे हैं—देख लिया ना, ये लड़का एक दिन ज़रूर गुल खिलाएगा, 35 हजार महीने की नौकरी को ठोकर मार गया ना। अब देखना, पुलिस पकड़ेगी... पिटाई होगी। नौकरी गयी, इज़्ज़त भी गयी... चलो जो जैसा करेगा वैसा भरेगा...। पर उदारवादी स्वयं सेवक आपका साथ दे सकते हैं... यदि जमात ने ज्यादा बवाल मचाया तो हमारे लोग

भी आपका बचाव करेंगे।” उमर का इशारा आर.एस.एस. की ओर था। “ज्यादा मुसीबत आने पर तुम मुझे फोन कर देना...।” मैंने उमर को होटल के नम्बर दे दिए थे।

दुबारा बात की थी उमर से। एफ.आई.आर. दर्ज कराए तीन दिन हो गए हैं। कुछ नहीं होने का। मामू ने हाईकोर्ट में हैवीयस कार्पस लगा दिया था। दोनों न्यायाधीशों ने 7 दिन के अन्दर-अन्दर जिन्दा या मुर्दा शाहीन को हाईकोर्ट में सुपुर्द करने का फरमान जारी कर दिया था। दोनों की फोटो भी पेपर में मुख्य पृष्ठ पर आ गयी थी। फोटो देखकर शिवम के पापा चहके थे। “तूने मुझे बहू की फोटो नहीं दिखाई... मिलाया नहीं, कोई बात नहीं, इतनी खूबसूरत बहू... पता नहीं कहाँ होगी अब। पापा मम्मी पर गरजे थे।

“क्यों, आप आर्शीवाद दें तो बता दूँ...”

“हाँ बता भागवान, हाईकोर्ट में रिट लग गयी है। बच्चे परेशान होंगे। कोर्ट में पेश करना पड़ेगा वरना और भी नई मुसीबत खड़ी हो सकती है। शिवम की माँ ने बुला भेजा था उमर को। उमर ने ही मुझे बताया था, बाबू जी तैयार हैं भाईजान तुम्हें अपना को। वे वकीलों से सम्पर्क कर रहे हैं। तुम उनसे बात कर लो।

पापा फोन पर थे... “हाँ भई ऐसी भी क्या जल्दी थी, आर्शीवाद लेकर ही जाते...” “अब ले लेंगे पापा...” “हाँ ऐन्टी लोगों ने रिट लगा दी है। तुम आ जाओ घर, मैंने वकील से बात कर ली है। मैं भी बहस करूँगा, केस की स्टडी कर ली है। बहू इक्कीस की है...हाँ विवाह कर लिया है तुम लोगों ने...?”

“हाँ पापा तीन दिन हो गए हैं...”

“जो भी सबूत हो, फोटो गवाह आदि साथ लेते आना, इन सबकी आवश्यकता होगी।”

बड़ी बोल्ड निकली थी शाहीन। फिकर नहीं है शिवम, मैं पूरी इक्कीस की हूँ, तुम्हारी पत्नी हूँ... मुझे तुम नहीं भगा के ले गए बल्कि मैं भगा कर ले गयी थी। हम दूसरे दिन जयपुर में थे। सीधे घर गए थे। पापा सेसन जज से रिटायर हुए थे। एस.पी. जानकार थे पापा के। आत्म समर्पण की बात पर राजी हो गए थे। पापा ने कुछ पेपर वालों को भी बुला लिया था। आज हमें हाईकोर्ट पेश करने की अन्तिम तारीख थी। एस.पी. सीधे हमें हाईकोर्ट के जज के पास ले गए थे। जज ने दूसरे जज साहब को घर पर बुला लिया था...।

शाहीन के घर वालों को बुला लिया गया था... अम्मी उसे देखते ही बिलख पड़ी थीं। मामू को जज ने अन्दर नहीं आने दिया था। केवल माँ-बाप मिल सकते हैं। तुम नहीं। मामू के वकीलों ने विरोध किया था। मामू भी मामले में पार्टी हैं। जमात के नेता हैं। बात बिगड़ सकती है। मामू को भी मिलने दिया जाए। पर जज नहीं माने थे।

माँ-बाप के सामने बेटी को अडिग देख जजों ने सभी को मिलने की इजाजत दे दी थी। मामू जार-जार रो रहे थे। “शाहीन ये क्या किया बेटा, बी.ए. क्या इसलिए किया था तूने। मोहसिन पसन्द नहीं था, तो बता देती बेटा, और कहीं निकाह करा देता... कोई बात नहीं मेरी बच्ची, बोल दे जज साब से सब कुछ सच-सच बता दे... कैसे यह मरदूद तुझे बैला-फुसला कर भगा ले गया... नाबालिग को भगाना जुल्म है, बोल मेरी बच्ची, बोल...।” मामू दहाड़ें मार-मार रो रहे थे। हँस दी थी शाहीन... “मामूजान मुझे शिवम ने नहीं बल्कि

मैंने उसे भगाया था। मैं बालिग हूँ। पूरी 21 वर्ष की हो चुकी हूँ। मैंने बाकायदा विवाह किया है शिवम से।” बिना घबराए बोल गयी थी शाहीन।

“नहीं मेरी बेटा, कह दे, यह सब झूठ है... अरे तू क्या बोल रही है मेरी बच्ची... यह मरदूद बुलवा रहा है तुझसे। इस काफिर को छोड़, बिरादरी में जिससे भी तू कहेगी, तेरा निकाह पढ़वा दूँगा... मेरी नाक मत कटा बेटा... जमात की नाक कट जाएगी।” “नहीं मामू, जो हुआ है, वही बोलूँगी। सच-सच बोलूँगी।” शाहीन दृढ़ता से बोली थी।

मामू जज के सामने रो-रोकर गिड़गिड़ा रहे थे। मेरी फूल-सी बच्ची को जालिमों ने पढ़ा-लिखा दिया है। जादू-टोना कर दिया है। आप एक दिन की मुहल्लत दीजिए माई-बाप मैं समझाऊँगा इस नासमझ को। ठीक है, हम परसों इसके बयान कलम बन्द करेंगे। मुझे फिर सेन्ट्रल जेल भेज दिया गया था। जुडिशियल कस्टडी में... शाहीन को लेडी पुलिस की निगरानी में एस.पी. ऑफिस में रखा गया था। मामू ने हजारों चालें चली थीं, दादी को भेजा... छोटी बहनों को भेजा... पर शाहीन नहीं पसीजी...।

नियत समय पर बयान हुए। बिना डरे, बिना झिझके शाहीन ने बयान दिए थे। पूरी इजलास खचाखच भरी थी।

शाहीन के बयान के कुछ मुख्य अंश इस प्रकार थे—“योर ओनर, गरीब माँ-बाप अपनी इच्छा से बेटे-बेटियों को ब्याह भी नहीं सकते... निकाह बराबर की हैसियत वालों में पढ़ा जाता है। हम दोनों बराबर थे ही नहीं। कहाँ पैसों वाला मोहसिन, कहाँ मैं पैसे-पैसे को मुहताज। दूसरी तरफ हमारा शैक्षणिक स्तर देखिए—अनपढ़—जाहिल मोहसिन बस पैसों के नशे में चूर, बात तक नहीं कर सकता ढंग से... कैसे निभ पाता हमारा वैवाहिक जीवन... इसलिए मैं विवश थी। शिवम को बहलाने फुसलाने में मैं कामयाब हो गयी। मैं भगा ले गयी उसे। मेरा साथ दिया शिवम ने... इसके लिए मैं उनकी शुक्रगुजार हूँ।” मामू जार-जार रो दिए थे। भीड़ हाथ हिलाकर शाहीन का साहस बढ़ा रही थी, ताली पीट रही थी।

“हाँ तो योर ओनर...” तालियों के गड़गड़ाहट में से एक तेज और मजबूत आवाज़ फिर उभरी थी... “हाँ तो योर ओनर मैं इक्कीस वर्ष की आठ दिन पहले ही हो गयी थी। मेरी मर्जी से मैं शिवम को भगा कर ले गयी थी। हमने पाँच दिन पहले विवाह किया है, आर्य रीति से...” विपक्षी वकील बोले थे “ऑब्जेक्शन योर ओनर, मुस्लिम लड़की इस ढंग से विवाह नहीं कर सकती...” जज बोले थे “आप पहले इन्हें बोलने दें, बाद में बहस में आप ऑब्जेक्शन कर सकते हैं।” जज ने विपक्ष के वकील को टोका था।

इसलिए योर ओनर, मैं शिवम की पत्नी हूँ। मैंने मेरी मर्जी से विवाह किया है। शिवम नहीं चाहते थे ये सब करना। पर मैंने उन्हें विवश किया। यह सब करने को मैंने धमकी दी थी... आज के दिन ही तय थी हमारी निकाह मोहसिन से। शिवम मुझे प्यार करते हैं। मैंने कहा था, जिद की थी यदि तुम मुझे नहीं अपनाओगे तो मैं निकाह के दिन स्वयं को पंखे से लटका कर मार लूँगी। शिवम प्यार करते थे मुझे। नहीं चाहते हुए भी, मुझे बचाने के लिए विवाह किया। इस सहयोग के लिए मैं पुनः उनका शुक्रिया अदा करती हूँ। जीवन भर मैं उनके इस ऋण से मुक्त नहीं हो पाऊँगी... मामू कहा करते थे—जोड़ियाँ

खुदा के घर से तय होकर आती हैं। मेरी जोड़ी अल्लाह-ताला ने शिवम से तय की है तो मामू दुःखी क्यों हो रहे हैं इतना। कह कर शाहीन चुप हो गयी थी। उसके चेहरे पर इबादत का नूर चमक रहा था। सभी नहा उठे थे।

वकीलों ने बहस की थी। पापा स्वयं बैरिस्टर की यूनिफार्म में थे, अच्छा लगा था। उन्हें इस यूनिफार्म में पूरे दस वर्ष बाद देखा था। विपक्षी वकीलों की सारी दलीलें काट दी गयी थीं। पापा ने जज साहब से रिक्वेस्ट की थी। एक गरीब बच्चे को पुलिस ने पकड़ रखा है। जब इन दोनों ने मर्जी से ब्याह किया है, तो बेचारे उमर को लड़की फुसलाने में सहयोग करने हेतु पुलिस ने क्यों पकड़ रखा है? उसे तो छोड़ा जाये...।” पापा की बात मान ली गयी थी।

जज साहब ने फैसला सुना दिया था। सबसे पहली लाइन उमर को पुलिस से छुड़ाने का आदेश था। शाहीन ने अपनी मर्जी से विवाह किया है... इसलिए लड़की को फुसलाकर भगा ले जाने का कोई मामला नहीं बनता है। शिवम को बाइज्जत बरी किया जाता है। दोनों के उज्ज्वल भविष्य की अदालत कामना करती है।

पापा ने गुप्ता अंकल को वकील किया था। अंकल भारत सरकार के सॉलीसिटर जनरल रह चुके थे। बिना फीस लिए उपस्थित हुए थे। निर्णय के बाद उन्होंने चुटकी ली थी। “अब समझा इस कंजूस ने बहू को बिना दहेज के भी क्यों स्वीकार कर लिया... अच्छी वकील बन सकती है बहू तो...”

पापा हँस दिए थे... “कैसे ताड़ गया सॉलीसिटर तू मेरे मन की बात... बुढ़ापे में वकील के साथ-साथ नजूमि भी बन गया है तू तो...” सभी हँस दिए थे।

इस फैसले को हुए पूरे 6 माह बीत गए हैं। उमर की पिटाई बहुत ही ज्यादा की गयी थी। वह अपना फ्रैक्चर लिए उसी बेड पर लेटा है बेस हॉस्पिटल में, जहाँ कभी हमारा पेसेन्ट लेटा था। जहाँ शाहीन को पहली बार मैंने देखा था और हम एक दूसरे के हो चुके थे। उमर हम दोनों को देखकर खिलखिला दिया था, ज़ोर से। प्लास्टर में से भी पुलिस की पिटाई साल गयी थी...” “हमें बहुत दुःख है उमर” “भाई जान... मैं ही इस सबके लिए जिम्मेदार हूँ... महीने भर बाद भला चंगा हो जाऊँगा। पुलिस से मुठभेड़ तो होती ही रहती है। भारतीय पुलिस का भले लोगों को दण्डित करने का इतिहास रहा है।” हँसा था उमर। इस सबके लिए शाहीन ने दुःख व्यक्त किया था।

“आपा आप बहुत मोटी हो गयी हैं...” उमर फिर बोला था

“नहीं मोटी नहीं, जल्दी ही शाहीन तुम्हें मामा बनाने जा रही है...।” मैंने उत्तर दिया था।

शाहीन लजा गयी थी। साल भर पहले जैसी ही मुस्कान उसके सुन्दर चेहरे पर फैल गयी थी। वही मन्दिम आवाज...। मैं अवाक् था। यह खूबसूरत बला कैसे झेल गयी बहुत बड़े तूफान को हँसते-हँसते।

चाय आ गयी थी। “कोरनर वाले चाचा की चाय होगी यह, मैं हरगिज नहीं पीऊँगी।” हँसी थी शाहीन। “क्यों-क्यों आपा, ऐसा क्या है इसमें...?” उमर ने टोका था। “नहीं भई समझा करो, पहली बार पी तो शिवम से विवाह करना पड़ा। अब हिम्मत नहीं है दुबारा

विवाह करने की।” सब हँस दिए थे। इतनी हँसी मजाक के बाद भी शाहीन ने हरगिज़ नहीं पी थी कोरनर वाले चाचा की चाय।

दोनों ने कोई अपराध नहीं किया, न ही कोई पाप कर्म था यह। यह तो धर्म-कर्म पाप-पुण्य, अच्छे-बुरे से परे एक नगमा छेड़ने जैसा ही था कुछ। एक ऐसा नगमा, जिसकी जुगलबन्दी की थी दोनों ने। जिसकी मधुर ताल सुन बेस अस्पताल ही नहीं, पूरा सांगानेरी गेट का इलाका झंकृत हो उठा था। जयपुर की तरतीब व बेतरतीब बसी आबादी मुग्ध हो उठी थी। चारों ओर फैली पहाड़ियाँ हरी-भरी हो उठी थीं और अमराइयों में और सुगन्ध फैला रही थी।

कैसा था यह मधुर राग?

कामायनी : पाठ की अन्तर्पाठीयता

✍ सुधीश पचौरी

कामायनी के बारे में कुछ तो बिल्कुल सामान्य-सी सूचना है, जो आप सबको मालूम है, उन्हें मैं दोहराऊँगा नहीं। इसको पढ़ते हुए हम सब एम.ए. किए हैं और कुछ लोगों ने इस पर शायद शोध भी किया हो। ये रचना ऐसी है जो बार-बार अपनी ओर खींचती है। इसमें ऐसी लय है, ऐसी वेगता है कि हम उसके अन्दर नहीं जा पाते उसके संगीत में बंध कर रह जाते हैं। यह रचना एक भूमिका के साथ शुरू होती है। भूमिका में प्रसाद देव सभ्यता की बात करते हैं, साथ ही यह भी कहते हैं कि, “यदि श्रद्धा और मनु, अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्य का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है।

लेकिन मेरा इरादा रूपक खींचना नहीं है। आचार्य शुक्ल ने निपटाने के अंदाज में इस पर लिखा। उसके बाद नन्ददुलारे वाजपेयी ने कामायनी पर लिखा, प्रसाद पर लिखा। उनकी स्थापना छायावादी तत्वों के भीतर ही है। यानी मन का, मनन का, मनुष्य का इत्यादि प्रतीकों की वे चर्चा करते हैं। तो प्रतीकवाद भी इसमें लागू किया गया। उसके बाद एक बड़ी किताब और आयी जिसकी बहुत ज्यादा चर्चा नहीं हुई जो ध्यान नहीं खींच सकी लेकिन तंग करती रही वह थी मुक्तिबोध की ‘कामायनी : एक पुनर्विचार’। इससे कुछ लेख 1950 से पहले हंस में छपे, तब वे दिलचस्पी और चर्चा के विषय बने। फिर 1950 के बिलकुल शुरू में उन्होंने इस किताब को किसी एक छोटे से प्रकाशक से छपवाया पर वो बहुत लोगों तक न पहुँच सकी और कुछ समय बाद गायब हो गई। बाद में हरिशंकर परसाई का जोर पड़ा कि भाई अब इसे पूरा कीजिए और नए सिरे छपवाइए। तब मुक्तिबोध ने उन तमाम संदर्भों को नए तरीके से इकट्ठा किया, कुछ और जोड़ा और इस तरह ‘कामायनी : एक पुनर्विचार’ मुकम्मल तौर पर तैयार हुई जो आज हमें उपलब्ध है। मुक्तिबोध की अपनी कविताओं की किताब, उनकी मृत्यु के बाद आई। लेकिन ये अकेली किताब ऐसी है जो उनके जीवन के दौरान उनके सामने आयी थी। इसमें नन्ददुलारे वाजपेयी की कुछ स्थापनाओं का जवाब है। जैसे कि, वे इसे कथा महाकाव्य कहते हैं तो मुक्तिबोध कहते हैं कि यह कथा काव्य नहीं है। दूसरी स्थापना में मुक्तिबोध कहते हैं, कि यह जीवन समीक्षा का काव्य है। यह जीवन समीक्षा किसकी? प्रसाद की, मनु की या मनुष्यता की। यह अत्यन्त सरलीकृत ढंग से मैं मुक्तिबोध की किताब से बता रहा हूँ, और सरलीकरण में यह जोखिम होता है कि आप बहुत-सी जो दुरुहताएँ; जटिलताएँ होती हैं उसे किसी प्रयोजन में छोड़ देते हैं, उसका जो बल होता है, उसका जो स्रोत होता है, उसे ही आप रेखांकित करने

की कोशिश करते हैं। तो मनु मूलतः प्रसाद का मन है और जिसकी अनेक समस्याएँ हैं। दूसरी बात यह कि, मुक्तिबोध ने एक और पद्धति से यह कहने की कोशिश की कि, मनु बराबर प्रसाद का मन यानी प्रसाद के व्यक्तित्व की भी अपनी समस्याएँ हैं। इस समस्याओं में समाज जीवन की समस्याएँ भी शामिल होती हैं। ये बात बराबर मुक्तिबोध दुहराते चलते हैं। मुक्तिबोध तीसरी बात कहते हैं कि वे 20 साल तक कामायनी को पढ़ते-पढ़ाते रहे। पठन-पाठन के दौरान लगातार कामायनी पर उन्हें सोचने का मौका मिलता रहा। 'अँधेरे में' कविता में कवि मन रक्तालोक स्नात पुरुष की जो फैंटेसी चल रही है जो कभी कहीं दिखता है कभी कहीं दिखता है, उसके नायक को वह कहीं एक जगह कविता में कौन मनु! कहकर संबोधित करते हैं। तो मुक्तिबोध के लिए मनु का जो चरित्र है वह एक बड़ा, केन्द्रीय और समग्र चरित्र है जिसको वे भूलते नहीं। प्रसाद उनके लिए एक तरह से सम्पूर्ण कवि हैं। उनके पसंदीदा कवि हैं और इस पसंदीदा कवि के महाकाव्य पर पूरी पुस्तक लिखते हैं, मेरी इस बात-चीत में मुक्तिबोध की जो आलोचना है उसका पाठ भी है, कुछ कामायनी का पाठ भी है और कुछ प्रथम विश्व युद्ध और द्वितीय विश्व युद्ध के बीच का पाठ भी है। कुछ रेनेसाँ का पाठ भी है, कुछ जर्मन नाटककार और महाकवि गेटे है। वह इतना बड़ा कवि है जिसके जरिए यूरोप के किसी भी चिन्तक की चिन्ता आ जाती है। उसका एक नाटक 1805 में प्रकाशित हुआ—फाउस्ट-1 और फाउस्ट-2 तो मेरी एक स्थापना यह भी है कि प्रसाद जी फाउस्ट से अनभिज्ञ नहीं रहे होंगे। मैं यह मान कर चल रहा हूँ कि प्रसाद जी बहुज्ञ थे। प्रसाद जी कई भाषाएँ पढ़े थे। न सही, जर्मन पढ़े हों लेकिन उस जमाने में जर्मन में जो कुछ हो रहा है उसकी सूचना बनारस में प्रसाद जी को न हो यह मैं नहीं मानता। अभी इस पर कुछ शोध की गुंजाइश है जिसको मैं करने की कोशिश कर रहा हूँ। लेकिन 'फाउस्ट' जो 1805 में छप चुका है, जिसने यूरोपीयन रेनेसाँ और यूरोपीयन आधुनिकता को फाउस्ट के रूप में एक नायक दिया। फाउस्ट एकदम आधुनिक नायक है। वह कर्मशील है और अपने कर्म की पूर्णता के लिए शैतान तक से समझौता करता है। मैफ़िस्टोफ़िलीज़ एक शैतानी ताकत है जिससे वह सिर्फ इसलिए समझौता करता है कि क्या ज्ञानी को और कर्मठ आधुनिक मनुष्य को कोई बिगाड़ सकता है? वह चुनौती स्वीकार करता है। मैफ़िस्टोफ़िलीज़ एक चुनौती देता है फाउस्ट को कि मैं तुमको संसार के सारे सुख दे सकता हूँ अगर तुम मेरी बात मानो। फाउस्ट को यह मालूम है कि मैफ़िस्टोफ़िलीज़ बहुत दुष्ट व्यक्ति है। मैं प्रसंगवश बता दूँ कि फाउस्ट अपने जमाने का परम ज्ञानी, परम प्रकांड पंडित है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया इन तीनों का योग है वह। ज्ञान, इच्छा और क्रिया का योग यानी वह आधुनिक मनुष्य जो अपने ज्ञान से अपनी इच्छा को पूरा करते हुए कर्म कर सकता है और उसका फल प्राप्त कर सकता है। ये समूची प्रक्रिया फाउस्ट के अपने व्यक्तित्व में है। वह दस साल तक लिखता-पढ़ता रहता है। उसका पिता बहुत ज्यादा पढ़ने-लिखने वाला है। उससे पहले ग्रीक मिथक में फाउस्ट नाम का ऐसा ही चरित्र है जो बड़ा ज्ञानी है, लेकिन अभिशप्त है। यह ज्ञानी है और स्वतन्त्र है। यह चुनौती लेता है कि देखूँ तो शैतान मेरा क्या बिगाड़ता है? मुझे लगा कि फाउस्ट का चरित्र बहुत कुछ प्रसाद के मनु जैसा है। प्रसाद के दिमाग में कही-न-कहीं फाउस्ट बैठा

हुआ है और इसीलिए मेरी एक स्थापना यह है कि, मनु 1935-36 का आधुनिक व्यक्ति है। मनु के रूप में आधुनिक मनुष्य की पहली परिकल्पना है कामायनी। आप चाहें तो उसे मन का प्रतीक मानते रहें मुझे कोई ऐतराज नहीं। आप चाहें तो मनन करते रहें। आनन्दवाद कहते रहें इससे कोई दिक्कत नहीं। रहस्यवादी बताते रहिए हमें कोई दिक्कत नहीं। मगर मुझे बार-बार लगा और मैं इस बात को एक प्रस्थापना की तरह से कह रहा हूँ, एक पूर्व स्थापना की तरह से कह रहा हूँ जैसे कि थीसिस में हम पूर्व स्थापना करते हैं कि ऐसा हो सकता है और फिर उसके लिए अध्ययन करते हुए कोशिश करते हैं कि क्या ऐसा था? हाँ, अंत में ऐसा हो सकता है कि वह न हो। तो फाउस्ट का चरित्र यूरोप में एक आधुनिक व्यक्ति का चरित्र है। गेटे उस आधुनिक संस्कृति के नायक को निर्मित करने वाले कवि माने जाते हैं। अंग्रेजी की कोई चर्चा ऐसी नहीं है जो 19वीं शताब्दी को लेकर शुरू हो और गेटे का नाम न आया हो। जब मैं उसका हिन्दी अनुवाद खोजने लगता तो ज्ञानपीठ से 2002 ई. में प्रकाशित अनुवाद का पता लगा जिसे अरविन्द कुमार ने अनुदित किया है। यह पुस्तक बड़ी मुश्किल से एन.एस.डी. से मुझे मिली। अंग्रेजी में भी एक अनुवाद है डब्ल्यू.एच. ऑडेन का, जिसे मैं लाया। और कुछ बातें सामने आईं जिनकी चर्चा मैं करूँगा। एक जो सबसे जरूरी बात है वह यह कि, जो अब तक प्रसाद के बारे में लिखा गया है या अब तक कामायनी के बारे में लिखा गया है क्या हम प्रसाद को उसके चक्र से बाहर निकाल सकते हैं? क्या हम सारस्वत सभ्यता के निर्माण को किसी पूँजीवादी व्यवस्था के निर्माण की तरह नहीं देख सकते? वैसी स्थिति में मुक्तिबोध जब बार-बार कहते हैं कि मनु मूलतः सामन्ती व्यवस्था की मूर्खता का प्रतीक है मरणासन्न जो सामन्ती व्यवस्था जो वह उसका प्रतीक है वह विलासिता का जीवन चाहता है, वासनामय जीवन चाहता है भोग का जीवन चाहता है तो हमें ये लगता है कि मुक्तिबोध का जो एक बुनियादी तत्व है वह है समाजवादी समाज का सपना। जो समाजवादी समाज के सपने को नहीं देखता है, वह सामंतवादी है, नीच है, वह प्रपंची है इत्यादि इत्यादि। ये उनकी आलोचना पद्धति की बाधा है। तो एक झगड़ा हम मुक्तिबोध से भी कर सकते हैं। एक और छोटी-सी बात कि, क्या यह जरूरी है कि हम प्रतीक को प्रतीक के तौर पर ही देखें? जैसे कि यह फिक्स हो गया हो। टनों में थिसिसें आ रही हैं। हर साल जो सवाल आता है उसमें मनु और इड़ा और श्रद्धा के सांग रूपक का निर्वर्ण करते हुए कोई न कोई सवाल कर ही लिया जाता है, जिसका उत्तर मन का मतलब मनु, और इड़ा का मतलब बुद्धि और ऋद्धा का मतलब भावना करके बड़ी आसानी से दे दिया जाता है। बड़ा आसान-सा है यह सब लेकिन क्या मनु फाउस्ट की तरह इन तीनों को स्वायत्त कर सके हैं? क्या हिन्दुस्तानी उच्चवर्गीय पूँजीवादी वर्ग इतना प्रगतिशील है जितना कि जर्मनी का रहा है? जिसने एक ऐसे आधुनिक मनुष्य को सृजित किया जो कि प्रोटेस्टेंट था जो धर्म के भीतर भी सुधार की कामना करता है और समाज को आगे बढ़ाने के लिए शैतान से समझौता करता है। वहाँ वह शैतान है पूँजी कामायनी में शैतान है किलात आकुली—‘किलाताकुली—इति हासुर ब्रह्मावासतुः’ यह पुरोहित वर्ग का प्रतीक है।

देव सृष्टि मुक्तिबोध के अनुरूप सामन्ती सृष्टि। मैं इस देव सृष्टि को एक पूर्व कल्पना,

एक हाइपोथिसिस के रूप में देखता हूँ। और उसके ठीक विपरीत सारस्वतः प्रदेश की जो पूँजीवादी सभ्यता की थीसीस है उसे रखता हूँ। मैं बार-बार इस बात पर सोचता रहा हूँ कि मनु क्यों? जिस देव सभ्यता से अलग होकर आया उसी देव सभ्यता के ध्वंस पर चिन्ता करता है, दुःख प्रकट करता है और अपराध-बोध से ग्रस्त हो जाता है कि इसके लिए हम देवता ही स्वयं जिम्मेदार हैं। हमने प्रकृति के नियम तोड़ डाले। 'भरी सना-सरिता का वह/ कैसा था मदमत्त प्रवाह/प्रलय जलाधि में संगम जिसका/देख हृदय था उठा कराह।' चारों तरफ भोग ही भोग है। यह देव सभ्यता है। स्वर्ग की सभ्यता कह लीजिए इसे। आर्य सभ्यता कह लीजिए। इसका मतलब ये हो गया कि जो वेदों का संरचना है वह बड़ा सम्पन्न और ऐश्वर्य शाली लोगों की संरचना है। यदि हम तो समझेंगे ये क्या है? इसका मतलब बहुत है। देव सभ्यता है वो भोग की सभ्यता है। यदि हम देव सभ्यता के ध्वंस पर मनु का पश्चाताप करते हुए सुने तो बात और स्पष्ट होती है—'चिन्ता करता हूँ मैं जितनी/उस अतीत की, उस सुख की/उतनी ही अनंत में बनती/जाती रेखाएँ दुःख की।' जाहिर है कि, जैसे हर कवि के कुछ औजार होते हैं, कुछ तरीके होते हैं, उसी तरह कुछ प्रतीकात्मक अघात हैं जिनके जरिए प्रसाद कई स्थापनाएँ करते हैं। कुछ लोग अक्सर स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का कुछ सांकेतिक चित्र देकर चले जाते हैं। यदि हम कल्चर प्रिंसीपल बात करें तो यह ऐसी सभ्यता है जो आराम से जीवन बसर कर रही है इसके पास सुख का संचय इतना हो गया है कि आराम ही आराम है। यह जो देव सभ्यता है जाहिर है शापग्रस्त है प्रकृति नाराज हो गई प्रलय हुआ, सब कुछ खत्म है। तो मनु का उस प्रलय के पहले के जीवन को याद करना और सारस्वत प्रदेश की सभ्यता को याद करना दोनों लगभग एक है। इस तरह से दो देव सभ्यताएँ हैं। एक तो वह देव सभ्यता जो प्रलय के पहले और एक वह जो मनु ने इड़ा की प्रेरणा से सोची बनाई। दोनों का अन्त एक जैसा होता है। एक में प्रकृति नाराज होती है, एक में जनता यानी प्रगति। तीसरी सभ्यता की खोज मनु के लिए नहीं। वे अंततः ऋत की सभ्यता में चले जाते हैं। क्या हम इसे मनु का पलायन कहें? या थकान कहें? या ये कहें मनु जो मन है, उसने मानव को सारस्वत प्रदेश के बन्दोबस्त की जिम्मेदारी दे देता। अब अगर वैश्विक पूँजीवाद की बात करें तो सन् 1929 में अमरीका में मंदी छा जाती है, बड़ी-बड़ी कंपनियाँ बैठ जाती हैं, लोगों के पास पैसे की कमी होने लगती है। सामान बाजार में अंटा पड़ा रहता है, तो क्या इस सारी प्रक्रिया का असर इंग्लैण्ड की अर्थव्यवस्था पर नहीं हुआ होगा, ऐसा कैसे माना जा सकता है। ऐसे में हिन्दुस्तान में जो इंग्लैण्ड के पूँजीपतियों का, कंपनी का या बुरुआवाजी का जो पैसा लगा हुआ है, उस पर भी तो सकंट आएगा। मुझे अच्छी तरह से याद है रजनीपाम दत्त की किताब है—'India Today' 'आज का भारत' ग्रंथशिल्पी से छपी हुई है इस किताब में इस बात के अनेक संदर्भ हैं। हिन्दुस्तान में अंग्रेजों के राज्य को लेकर क्या-क्या हुआ, अंग्रेजों का शासन कैसे-कैसे हुआ और स्वतंत्रता आंदोलन कैसे-कैसे चला और अर्थव्यवस्था कैसे-कैसे काम करती रही है, उसे लेकर एक बहुत ही अच्छी ग्राफिक बुक है यह यदि हम इस आलोक में देखें तो मुझे बार-बार लगता है, कि जो पहली देव सभ्यता का ध्वंस है वह मन्दी की मारी हुई सभ्यता है। मुक्तिबोध एक बात कहते हैं कि, प्रसाद जी बणिक थे। हम भी जीवन परिचय

में लिख देते हैं—वो सुँघनी साहू थे। इसके बाद भूल जाएँगे कि उनके सुँघनी साहू होने का असर उनकी रचनाओं पर भी पड़ा होगा। कामायनी को लिखते हुए क्या वे बनिया नहीं थे? सिर्फ जीवन परिचय में पहली लाइन में लिख दिया कि वे बणिक परिवार में पैदा हुए थे, इतना कहने भर से बात तो नहीं छूट जाती न। क्योंकि आपकी जाति जीवन भर संग चलती है। आप अपने धर्म को मानें या न मानें दूसरा मनवा देगा। ऐसे में हमें इसकी गुंजाइश दिखती है कि हम अगर किसी की जाति जानते हैं, तो जरा-सा यह देख लें कि इस जाति का पराक्रम क्या है? लीला क्या है? ध्यान दें कि, मनु एक टिपिकल बनिया है। वणिक है, कंजूस है। अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान में बहुत से टेक्सटाइल मिल बहुत से जूट मिल कलकत्ते में, महाराष्ट्र में बेचे और हिन्दुस्तानी सेठों ने उन्हें खरीदा था। खुद मुक्तिबोध कहते हैं कि, जब प्रसाद लिख रहे थे तो हिन्दुस्तान में एक अच्छा खासा पढ़ा-लिखा शहरी मध्यवर्ग बन गया था। उसकी इच्छाएँ आधुनिक थीं। ये कैसे हो सकता है कि मध्यवर्ग हो, पूँजीवादी व्यवस्था हो, रचनाकार बुर्जुआव हो, व्यापारी हो और उसकी रचना के नायक में व्यापार का कोई चिह्न घुसा ही न हो। रेनेसाँ के नायक सबसे बड़े बुर्जुआवादी हैं, व्यापारी हैं। वो कर्मशील भी हैं, हिन्दुस्तान का पूँजीपति वर्ग उतना कर्मशील नहीं है जितना उधारी खरीदारी करने वाला है। मनु उधारी का जीवन जीता है। वह आत्मसचेत नहीं है। मुक्तिबोध कहते हैं कि, उसकी भूमिका क्या है यह या तो उसे ऋद्धा बताती है या तो इड़ा बताती है।

हिन्दुस्तानी बुर्जुआजी या पूँजीपति कई संघर्षपूर्ण आधुनिकताओं से बचती रही है। संघर्षपूर्ण आधुनिकता क्या है? आप सब संसद में देख रहे हैं, आधुनिकता पर एक बिल है जिसमें स्त्रियों को विधान का अवसर देने की बात है कि तुम भी आओ कानून बनाओ, काम करो। आधुनिक मनुष्य परिवर्तन का अभिकर्ता है स्त्रियों के परिवर्तन के विरोध में नहीं है। क्या मनु परिवर्तन के विरोध में हैं? नहीं वह अपने ढंग से परिवर्तन करना चाहता है और उसके ढंग से परिवर्तन नहीं हो रहा है। इसलिए वो असफल है। इस दृष्टि से हम अनेक चीजों में प्रवेश करके आते-जाते हैं। इसके लिए हमें सोचना होगा कि जो हम पढ़ते हैं वो क्या है? और क्या हम जो पढ़ते हैं उसका एक ही अर्थ होता है? एक ही सन्दर्भ या व्याख्या होती है? मैं पूछता हूँ कि पाठ क्या होता है? हम अन्तर्पाठीय प्रक्रिया की बात करते हैं। इंटरटेक्स्टुअलिटी में रहते हैं। प्रेमचन्द पर किसका प्रभाव था। प्रेमचन्द किससे प्रेरणा लेते हैं? मुड़के देखेंगे तो बहुत से होंगे उस जमाने में। पाठ को जब हम पाठ की तरह से लेंगे, अन्तर्पाठीयता पर बात करेंगे तो ये बातें सामने आएँगी कि मैं जो कह रहा हूँ बहुतों का दिया-लिया है। मैं कोई मौलिक बात नहीं कर रहा हूँ। अन्तर्पाठीयता की कोई मौलिकता नहीं होती। उनके विचार बहुत मौलिक है सबसे घटिया तर्क है। मेरे विचार बहुत मौलिक है, मैं ऐसा कहूँगा तो उपहास का, हास्य का पात्र हूँ। हम यह क्यों मान कर चलें कि यह पक्कापन है कोई भी पाठ पक्का है, इतनी पक्का है, इतना मौलिक है कि उसमें किसी चीज का प्रवेश नहीं है, ऐसा कैसे माना जा सकता है? मैं आपसे दो चीजों के बारे में बात करूँगा पहले मैं आपसे पूछूँगा कि पाठ क्या है? और फिर मैं बताऊँगा अन्तर्पाठीयता क्या है? इतनी देर से मैं प्रसाद के जिन पहलुओं पर बात कर रहा था, उसके पीछे कोशिश यही थी कि कामायनी को उसकी अन्तर्पाठीयता में देखा जाए और उसके

जरिए उसे पढ़ने की कोशिश की जाए और उससे मुझे अचानक लगा कि क्या हम मनु को आधुनिक मनुष्य, खासकर आधुनिक मन का नायक कह सकते हैं? मैं मानता हूँ कि इसकी पूरी गुंजाइश इसमें है। मुझे याद आया गेटे ने कालिदास के नाटक पढ़े थे। जब गेटे कालिदास का नाटक पढ़ सकता है तो प्रसाद जी क्यों नहीं। हम अक्सर हिन्दी में एक शब्द का इस्तेमाल करते हैं—पाठ। रीडिंग क्या है? हम उसे भी पाठ, वाचन, पठन कह देते हैं। क्या हर लेखन पाठ है? यह एक पहला सवाल है। अब हर लेखन यदि पाठ है तो कृत (Work) क्या है, कृति क्या है? हम आज हिन्दी आलोचना की मेहरबानी से जिस अन्तर्वस्तु और रूप में फँसे हुए हैं? मैं आज तक यह नहीं समझ पाया कि सम्वेदना क्या है, और शिल्प-क्या है? काम चलाने के लिए हम कह देते हैं कि जहाँ सम्वेदना है वहीं शिल्प है। प्रकृति एक शिल्प है उसी में सम्वेदना है यह भी हम ज्यादा जोर से नहीं बोलते। क्योंकि हम ज्यादातर लोग सम्वेदन वाले हैं। हम सीधे अन्तर्वस्तु तक पहुँचते हैं। हम सीधे भावपक्ष पर विचार करते हैं। जिस रास्ते से भाव पक्ष की ओर जा रहे हैं, उसे छोड़ देते हैं, सीधे लक्ष्य का संधान करते हैं, अर्जुन की तरह। हमें तैयार माल चाहिए। जो प्रक्रियागत मामला है उसमें हम नहीं फँसना चाहते। संरचनावादी चिंतनशास्त्री सॉस्यूर की स्थापना है कि, मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि अर्थ क्या है! मुख्य प्रश्न यह है कि अर्थ कैसे आया है? रोलांबार्थ ने एक लंबा लेख लिखा—पाठ का सिद्धान्त (Theory of text), जिसमें विस्तार से उसने पाठ की प्रक्रियाओं को समझाया है। अतः प्रक्रिया और पाठ के अंतःसंबंध को समझना जरूरी होता है। ध्यान दीजिए वेद को पढ़ने वाले पुराने पंडितों को वेदपाठी कहा जाता था। ऐसा माना जाता था कि पाठ करने के उनके ढंग में ऐसी बात थी जिससे वेद का पाठ उन्हें याद रहता था। परन्तु डॉ. कर्ण सिंह ने वेदों के पाठ और उन्हें पढ़े जाने के ढंग पर काम किया तो उन्होंने बताया कि वेद पाठ के भी दर्जनों तरीके हैं। इसका मतलब है कि वेदों में इसकी गुंजाईश थी कि उन्हें एक तरह से ने पढ़ा जाए। वो कई तरह से बाँचे जा सकते हैं। मेरा कहना है कि पाठ कई तरह से पढ़ा जा सकता है। रोलांबार्थ के शब्दों में ही बता रहा हूँ, जो उपरी कवच (Fenomital Surface) है वह शब्द का फर्श है, कृति का फर्श है उसके अन्दर बहुत कुछ भरा हुआ है। शब्द भरा हुआ है, वर्ण भरा हुआ है, सम्वेदना भरी हुई है। इनके बिना पाठ नहीं। दूसरी बात यह है कि, पाठ कृत कार्य का भौतिक निर्माण (Materialistic description of works) है। यह भौतिक या तात्विक निष्पत्ति ही आपके कार्य को स्थायित्व देती है।

देंरिदा के अनुसार हर लेखन एक पाठ (Text) है। जो नहीं भी लिखा गया वह पाठ है। आंगिक अभिनय, मेरे हाथ का यह संचालन सब एक एक पाठ है भले ही यह लेखन में न आया हो, जो लेखन में नहीं आया वह भी पाठ है। ऐसे में एक 'पाठ' जिसमें कि एक स्थायित्व है जिसे हम बार-2 पढ़ देख सकते हैं, जो एक संरचना है बंधन है पूरा का पूरा। इसलिए हर एक पाठ में कोई और चीज भी शामिल होती है उसमें एक और भावार्थ है। माने पाठ एक हथियार है, समय के विरुद्ध। समय के पार जाता है पाठ। माने जिसे विस्मृति में डाल दिया जाता है पाठ उसके भी खिलाफ जाता है। छलप्रपंच के मध्य साक्ष्य है पूरा का पूरा पाठ। बोलने और बोलकर निकल जाने में हमेशा एक छूट मिल जाती है।

मैंने तो नहीं कहा। तुम कह दोगे कि नहीं मेरा मतलब यह नहीं था। मना भी कर दोगे कि नहीं मैंने कुछ नहीं कहा था। लेकिन एक बार जो चीज 'पाठ' बन गई तो वह टँक गई और जब टँक हो गई तो आपका पीछा नहीं छूटेगा। अर्थात् बोली गई जो छलना है उसके भी खिलाफ है पाठ (Text)। रचनाकार का एक तरह से 'कमिटमेंट' है 'पाठ'। अब उसमें चाहें वह विचार लिख दे चाहें अचार लिख दे। अब ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि हम जब 'टेक्स्ट' पढ़ते हैं, तो जिसे हम अन्तर्वस्तु कहते हैं वह क्या है? देखिए! गोपियों के विरह पर सूर ने अनन्त छंद लिखे। तब वो उनकी कृति है लेकिन कृति को 'टेक्स्ट' बनाने के लिए वो पद का इस्तेमाल करते हैं पदों के छोटे-2 अन्तरालों का इस्तेमाल करते हैं और संगीत का इस्तेमाल करते हैं अपने नाम का इस्तेमाल करते हैं दुनिया भर के अलंकारों का इस्तेमाल करते हैं, वक्रोक्ति का इस्तेमाल करते हैं, ये तमाम उपादान हैं 'पाठ' के। इन सबसे वो एक 'पाठ' बनाते हैं, और जो चीज 'टँक' गई वह टिक गई। यह टिकना ही हमारी स्मृति, हमारी संरचना को ढाँचाबद्ध करता है। कहते हैं यह संरचना ही 'पाठ' की भी संरक्षा करती है। अर्थ को भी सुरक्षित रखती है, उसमें स्थायित्व लाती है। जो अस्थिर है उसे स्थिरता का मान देती है। कहने का मतलब यह है कि 'पाठ' पूरा-का-पूरा एक अनुशासन है आप चाहे उसे शिल्प कह लीजिए चाहे कुछ और उसमें कोई समस्या नहीं है।

हम अन्तर्पाठीयता की बात करते हैं। यह मान कर चलते हैं कि अनेक कृतियाँ होती हैं एक कृति में। सिद्धान्त के तौर पर इसे हम कैसे ग्रहण करें। और अभ्यास के तौर पर साहित्य-समीक्षा के व्यवहार के तौर पर इसे हम कैसे ग्रहण करें। तो, मैं आपको स्मरण दिलाना चाहूँगा कि जो उत्तर संरचनावादी चिन्तक हैं, उनके आगे भी कुछ और चिन्तक हैं। उनमें से एक चिन्तक का नाम है—हेरॉल्ड ब्लूम। इन्होंने मिल्टन पर काम किया और रोमांटिक दौर के जो कवि हैं उन पर अध्ययन किया। इन्होंने अन्तर्पाठीयता की अवधारणा को उसकी पूरी प्रक्रिया में स्पष्ट किया। आमतौर पर हम कुछ चीजें व्यवहार में लाते तो हैं। जैसे कि एक बात मैं कहूँ कि, किसी भी रचनाकार का अपने समय में देर से आना भी एक तरह का अर्थ रखता है। जिसे आप विलम्बित का विवेक (The Sense of Belatedness) कह सकते हैं। आप साहित्य में आए हैं लेकिन जरा देर से आए हैं तो क्या आपका देर से आना किसी सूत्र की ओर ले जाता है, कोई अर्थ इससे बनता है? आज के युग में कोई रचनाकार या पुराने समय में जब कोई रचनाकार रचना कर रहा था तो क्या उसे यह एहसास था कि वह देर से आया हुआ है और अगर उसमें यह एहसास रहा कि वह देर से आया हुआ है तो क्या हमें यह एहसास है कि वह देर से आया है? अगर हमें उस रचनाकार के 'सेन्स ऑफ बिलैटेडेनस' की जानकारी नहीं है तो हम आसानी से यह निष्कर्ष दे देते हैं कि वह अद्वितीय है, मौलिक है। न आज तक ऐसा रचनाकार हुआ है, न होगा। लेकिन हेरॉल्डब्लूम ने मिल्टन को लेकर है, एक पते की बात कही उन्होंने कुछ निष्कर्ष निकाले हैं। ब्लूम के इस निष्कर्ष को आप ग्राहम एलेन की पुस्तक 'इंटरटेक्स्टुएलिटी' में पढ़ सकते हैं। रूटलेज से यह पुस्तक छपी है। इसमें उन्होंने एक ऐसे सिचुएटेड रीडर या पाठक की बात की है जो देर से आया है। उसे यह एहसास है कि वह देर से पहुँचा है। उससे पहले बहुत सारे लोग आ चुके हैं। यह एहसास ही उसे अपने पूर्ववर्तियों से

एक संवाद की स्थिति में ले जाएगा। व्यक्ति के रूप में एक कवि क्या किसी भी व्यक्ति से बात नहीं करता। ब्लूम कहते हैं कि, ऐसा नहीं है। तब वो किससे बात करता है। वो अपने से पहले होने वाले रचनाकारों से संवाद करता है, उसका संघर्ष उनसे चलता रहता है। यह मैं अपने शब्दों में अत्यधिक सरलता का खतरा लेते हुए कह रहा हूँ ताकि आप सीधे उससे जुड़ सकें। यानी उसका संघर्ष उसका द्वन्द्व अपने विषय से उतना नहीं होता जितना कि उससे होता है जो पहले हो गया और जो उससे बड़ा उस्ताद है और कुछ भी लिखना उससे छोटा पड़ रहा है। उसकी चुनौती ये होती है। इस तरह एक व्यक्ति एक कवि से एक व्यक्ति के रूप में बात नहीं करता वह ऐसे व्यक्ति के रूप में उससे बात करता है जो उसके पहले का है, उसका पुरखा है। यह मृत व्यक्ति अपने जीवन काल में जितना जीवित था, इस कवि के काल में उससे ज्यादा जीवित होता है। हम इसे जितना वह था उससे बड़ा करके चलते हैं कि क्योंकि उससे हमारी लड़ाई तो बिलैटेडेनेस की है, यह देर से आने के कारण अपनी जगह और स्पेस बनाने की कोशिश है। तो हमारे यहाँ जो कवि हैं, मनीषी हैं, स्वयंभू हैं। यह स्वयंभू बड़ा धोखा है। हेरॉल्ड ब्लूम इसे बहुत बड़ा धोखा मानता है क्योंकि स्वयंभू कोई नहीं होता। संरचनावाद की एक मान्यता है कि कोई महान नहीं होता लेखक होता है और वह लेखक पत्र लेखक भी हो सकता है, वह लेखक फिलॉ सफर भी हो सकता है वह लेखक कोई और भी हो सकता है। कोई छोटा बड़ा नहीं। इसीलिए विशेषणों का अंबार लगा कर कुछ नहीं प्राप्त किया जा सकता। ब्लूम के अनुसार बिलैटेडेनेस (देर से आना) अन्तर्पाठीयता की बुनियाद है। चूँकि मैं देर से आया हूँ इसलिए विषय को थोड़ा पढ़ूँगा, पूर्व को जानूँगा और उस पर अपना रुतबा जमाऊँगा। ये बात मैं इसीलिए कह रहा हूँ कि मेरे दिमाग में बैठा हुआ है कि 'फाउस्ट' को प्रसाद ने जरूर जाना होगा। मैं ये पूछ रहा था अपने मन से कि प्रसाद जी का झगड़ा किससे रहा होगा। कौन वो कवि था जिसको वह सोचते होंगे कि ये मुझसे से बड़ा है और मैं इसके बाद आया हूँ, और मुझे इससे बड़ी बैचेनी है। अजीब बात है कि उनसे पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हैं, श्रीधर पाठक हैं, दो-चार और छोटे-2 कवि मिल जाएँगे।

जब मैं कह रहा हूँ कि अपने से पूर्व व्यक्ति से जब कोई व्यक्ति लड़ाई ठानता है तो इसका मतलब ये नहीं कि वह भौतिक अथवा शारीरिक संघर्ष है, नहीं वह भव्य से भव्यतर, परम अभिव्यक्ति का संघर्ष है। पहली भव्य मूर्ति के मुकाबले मैं कितना छोटा हूँ। क्या मैं उससे आगे जा सकता हूँ, इस प्रकार का भाव। एक स्पेर्डा है, तो क्या ये सम्भव है कि फाउस्ट जैसे नायक का होना या कहना चाहिए कि, मिल्टन की 'स्वर्ग से पतन' (Paradise lost) और 'स्वर्ग की प्राप्ति' (Paradise Regain) जैसी कृतियाँ प्रसाद के दिमाग में रही हों? क्या हम इसको एक पूर्व-कल्पना के तौर पर सोच सकते हैं कि कामायनी से पहले प्रसाद के मन में कोई एक बड़ा 'टेक्स्ट' कोई एक बड़ा कवि है, चाहे वह संस्कृत का हो, चाहे वह बांग्ला का हो और चाहे वह जर्मन का हो या इंग्लिश का हो। कौन? हमें इसके बारे में नहीं मालूम। हिन्दी आलोचना में इस तरह की कोशिश नहीं होती ये मेरे ज्ञान में नहीं है यदि आपके संज्ञान में हो तो जरूर इस पर विचार करें।

चित्रकथाओं में मीरा का छवि निर्माण

✍️ माधव हाड़ा

धार्मिक सम्प्रदायिक चरित्र-आख्यानों और उपनिवेशकालीन इतिहासकारों ने मीरा की जो आदर्श हिन्दू स्त्री संत-भक्त और रहस्यवादी कवयित्री छवि निर्मित की, उसकी व्यापक प्रतिष्ठा और प्रचार-प्रसार में चित्रकथाओं का खास और निर्णायक योगदान रहा है। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब टीवी की लोकप्रियता परवान नहीं चढ़ी थी, तो चित्रकथाओं के लिए बच्चों और उनके अभिभावकों में आकर्षण खूब था। चित्रकथाओं की सफलता का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि इसके प्रकाशन की एक शृंखला *अमर चित्रकथा* को स्वतन्त्र भारत का सबसे बड़ा सांस्कृतिक उत्पाद कहा गया है और आज इस उत्पाद की हैसियत किसी मिथक से कम नहीं है। मीरा पारम्परिक अर्थ में संत-भक्त नहीं थी, उसने राजसत्ता और पितृसत्ता के विरुद्ध अपने विद्रोह को भक्ति के आवरण में व्यक्त किया, जिसके पर्याप्त साक्ष्य उसकी कविता में हैं, लेकिन इस नए माध्यम ने मीरा की पारम्परिक छवि को ही अपना आधार बनाया। मीरा की यह छवि इस माध्यम के अनुकूल थी। धार्मिक प्रभाव में रंगे अधिकांश मध्यवर्गीय अभिभावकों की अपेक्षाओं के अनुसार इस माध्यम ने बच्चों के सामने पूर्व आधुनिककालीन हिन्दू आदर्श प्रस्तुत किए। इस जरूरत के तहत इसने कुछ हद तक मीरा की पारम्परिक छवि में रद्दोबदल भी किए। मीरा चित्रकथाओं में एक आदर्श हिन्दू पत्नी के रूप में चित्रित हुई। मीरा एक संसारी स्त्री थी और उसके जागतिक सरोकार बहुत व्यापक, मूर्त और सघन थे। वैयक्तिक पहचान और सांसारिक सम्बन्धों के द्वंद और तनाव का आग्रह उसमें निरन्तर था। उसने जागतिक व्यवस्था को सामंजस्यपूर्ण मानकर सहमत होने के बजाय आजीवन विरोध किया था। उसकी अभिव्यक्ति और भाषा भी पूरी तरह लोकसंपृक्त और स्त्री लैंगिक है। ये तमाम तथ्य उसको लोक विरत संत-भक्त से पहले एक स्त्री अस्तित्व सिद्ध करते हैं, लेकिन अन्य माध्यमों की तरह चित्रकथाओं में भी इनसे परहेज किया गया।

मीरा के संत-भक्त और आदर्श हिन्दू पत्नी रूप के निर्माण और प्रचार-प्रसार में अमर चित्रकथा शृंखला की चित्रकथा *मीराबाई*¹ और इसके अनुकरण में मकॉव बुक्स द्वारा तैयार की गई चित्रकथा *मीराबाई*² की भूमिका सर्वाधिक है। इन चित्रकथाओं ने बालकों के मन-मस्तिष्क में मीरा के इस निर्मित रूप की जड़ें जमाने में खास मदद कीं। अमर चित्र कथा शृंखला बच्चों में अंकल पै के नाम से विख्यात अनन्त पै के दिमाग की उपज थी। इसकी विस्फोटक लोकप्रियता के कुछ कारण थे। एक तो 1960 और 1970 के दशक में भारतीय राष्ट्र राज्य के निर्माण की प्रक्रिया अपने अहम दौर में थी और दूसरे इस दौरान

संयुक्त परिवार सामाजिक कारणों से एकल परिवार में बदल रहे थे। परम्परा से गहराई तक जुड़े मध्यवर्ग को इस दौरान राष्ट्र राज्य की आत्मछवि के निर्माण के लिए हिन्दू अतीत से जुड़े नायकों, प्रतीकों और वृत्तान्तों की जरूरत महसूस हुई। इस दौरान परिवारों के एकल हो जाने के कारण कथा-कहानी कहने वाले बुजुर्गों का स्थान रिक्त था। अनन्त पै ने इस जरूरत को समझा और वे एक अभिभावक की भूमिका में आ गए।³ उन्होंने पूर्व आधुनिककालीन इतिहास और मिथकों की कहानियों को हिन्दू आदर्शों के अनुसार रूपान्तरित किया और उनका चित्रांकन करवा कर अमर चित्र कथा के रूप में प्रस्तुत किया।⁴ “खुले तौर पर इस उत्पाद का मकसद मुख्यतः अंग्रेजी माध्यम जानने वाले विद्यालयी बच्चे थे जिनमें (ऐसा माना गया) किसी भी भारतीय चीज को घटिया माना जाता था।”⁵ इस शृंखला को अभूतपूर्व सफलता मिली। इसको परिवारों, विद्यालयों व राज्य से भी बहुत सहारा मिला। इस शृंखला में मीरा, नानक, कबीर, तुलसीदास, सूरदास, रविदास आदि मध्यकालीन सन्त-भक्तों सहित कई इतिहास और मिथक पुरुषों पर चित्रकथाएँ प्रस्तुत की गईं। अनन्त पै ने अपनी अन्य चित्रकथाओं की तरह ही *मीराबाई* में मीरा के चरित्र का हिन्दू आदर्शों के अनुसार रूपान्तरण किया। खास बात यह है कि मीरा की संत-छवि के अनुसार जो सामग्री अनन्त पै के सामने थी, उसको उन्होंने इस तरह से प्रस्तुत किया कि यह आदर्श हिन्दू पत्नी की छवि के अनुकूल हो। पै ने इसके लिए उपलब्ध जनश्रुतियों को बदला और अपनी तरफ से कुछ नयी घटनाएँ परिकल्पित कीं। पै ने मीरा विषयक कथा और चित्रों में उसके सम्बन्ध में भक्तमाल सहित विभिन्न ग्रंथों में प्रचलित कथाओं और जनश्रुतियों का सहारा लिया। बचपन में कृष्ण की मूर्ति की पति रूप में वरण, भोजराज से विवाह, कुलदेवी की पूजा से इंकार, ऊदा की शिकायत पर भोजराज का क्रुद्ध होकर मीरा के महल में जाना और उसको कृष्ण भक्ति में लीन पाना, अकबर और तानसेन का मीरा के यहाँ आगमन, भोजराज की असामयिक मृत्यु, मीरा का सती होने से इंकार, विक्रमादित्य द्वारा मीरा को दी गई यातनाएँ, मीरा को साँप, शूल शय्या और विष से मारने के उपक्रम, मीरा का तुलसीदास से पत्राचार, मेड़ता आगमन, वृंदावन, मथुरा और द्वारिका की यात्रा और अन्त में द्वारिका में कृष्ण की प्रतिमा में विलय की घटनाएँ और प्रकरण चित्र कथा में आते हैं।

जन्म से लेकर मृत्यु तक मीरा के जीवन वृत्तान्त को सजगतापूर्वक हिन्दू आदर्शों के अनुसार ढालने के लिए अनन्त पै इस चित्रकथा में अपनी तरफ से कुछ प्रकरण और कुछ घटनाएँ इस तरह जोड़ते हैं कि मीरा के स्वेच्छाचार और विद्रोह की घटनाएँ भी उसके पत्नी धर्म की पूरक बन जाती हैं। मीरा का कृष्ण प्रेम इस चित्रकथा में उसके पत्नी धर्म में बाधा नहीं है। एक चित्र में मीरा भोजराज के पाँवों में पड़ी हुई है और कैप्सन लिखा गया है कि “मीरा आदर्श हिन्दू पत्नी थी, उसका पति उससे बहुत प्रेम करता था।”⁶ (चित्र सं. 1) अनन्त पै यह भी जोड़ना नहीं भूलते कि “मीरा गृहस्थी का नित्य प्रति का काम पूरा करते ही अपने दैवी पति गोपाल के ध्यान में लग जाती थी।”⁷ (चित्र सं. 1) मीरा को आदर्श पत्नी का रूप देने के लिए पै एक और घटना की परिकल्पना करते हैं, जो भक्तमाल सहित किसी भी ग्रन्थ में पहले नहीं मिलती। मीरा की विधर्मी अकबर से भेंट से क्रुद्ध भोजराज उसे किसी नदी-नालों में डूब मरने की आज्ञा देते हैं और मीरा आदर्श

हिन्दू पत्नी की तरह डूबने के लिए चल पड़ती है। चित्र में वह सखियों के साथ बिलख रही है और कैप्सन में लिखा गया है कि “मीरा तो एक आदर्श हिन्दू पत्नी थी। उसने वह आज्ञा शिरोधार्य की और बिलखती हुई सहेलियों से विदा ली।”⁸ (चित्र सं. 2) पै इसी तरह एक और घटना की कल्पना करते हैं। उनके अनुसार मीरा की वापसी के लिए भगवा वस्त्र धारण कर भोजराज स्वयं वृन्दावन गया और उसने मीरा से क्षमा याचना की और मीरा उसके आग्रह पर चित्तौड़ आ गई। एक चित्र में वृन्दावन में कई स्त्री-पुरुष की भीड़ में मीरा भोजराज के पाँवों में पड़ी हुई है और कैप्सन में भोजराज उससे कह रहा है कि “मुझे क्षमा कर दो, मीरा—मैं यही भीख माँगता हूँ। वापस चित्तौड़ चलो। उत्तर में मीरा कह रही है, मीरा ने क्या कभी अपने पति की आज्ञा टाली है? मैं चित्तौड़ चलूँगी।”⁹ (चित्र सं. 3)

अनन्त पै मीरा के स्वेच्छाचार और अवज्ञा को भी दैवीय रूप देकर उसके आदर्श पत्नीत्व में अवरोध बनने से रोक देते हैं। निरन्तर प्रताड़ना और दमन से त्रस्त मीरा वृन्दावन चली जाती है, जो एक तरह से अवज्ञा है, लेकिन अनन्त पै इसको दैवीय आदेश के तहत हुई घटना मानते हैं। एक चित्र में पानी में डूबने के लिए प्रस्तुत मीरा को कृष्ण अपनी बाँहों का सहारा देकर बचा लेते हैं और बेहोश मीरा को जब चेतना आती है तो कैप्सन में वे कहते हैं कि “पति के साथ तुम्हारा नाता समाप्त हो चुका। अब तुम मेरी हो। वृन्दावन जाओ और वहीं मुझे प्राप्त होओ।”¹⁰ (चित्र सं. 4) भोजराज और मीरा के सम्बन्ध को तनावपूर्ण बनाने से भी अनन्त पै सजगतापूर्वक बच जाते हैं। भोजराज के निरन्तर प्रयत्नों के बावजूद जब मीरा भक्ति विमुख नहीं होती तो अनन्त पै के अनुसार भोजराज उसके लिए एक मन्दिर बनवा देते हैं। एक चित्र में मीरा नृत्यरत है और कैप्सन में लिखा गया है कि भोजराज को विश्वास हो गया कि उसकी पत्नी पागल है। उसे प्रसन्न रखने के लिए एक मन्दिर बनवा दिया ताकि वह अपने प्रेमी की मूर्ति की जी भर कर पूजा कर सके। कुछ ही दिनों में मीरा के पास भक्तों की भीड़ जमा होने लगी। वह अपने भगवान के सामने गाती, नाचती और प्रेम में बेहाल हो जाती है।”¹¹ (चित्र सं. 5)

अमर चित्रकथा की अभूतपूर्व लोकप्रियता और व्यावसायिक सफलता ने बच्चों के लिए पुस्तकें प्रकाशित करने वाले दूसरे प्रकाशकों को भी इस क्षेत्र में आने के लिए प्रेरित किया। बहुराष्ट्रीय और बहुभाषी प्रकाशक मर्कॉव बुक्स ने 2009 में मीरा सहित अष्टावक्र, श्रवणकुमार, सत्यवान-सावित्री, अंगुलीमाल और सुदामा जैसे मिथकीय भारतीय चरित्रों पर अंग्रेजी में चित्रकथाएँ प्रकाशित कीं। मर्कॉव बुक्स का घोषित उद्देश्य बच्चों के लिए ऐसी पुस्तकों को प्रोत्साहन देना था, जो न केवल उनकी अन्तहीन जिज्ञासाओं को शान्त करें बल्कि ये उनकी रचनात्मक प्रवृत्तियों का भी पोषण करें।¹² अनन्त पै की अमर चित्रकथा व्यावसायिक उपक्रम के साथ एक मिशन भी थी, जिसका उद्देश्य बच्चों को उनके भव्य और स्वर्णिम पूर्व आधुनिककालीन अतीत से परिचित करवाना था। मर्कॉव बुक्स की यह शृंखला इस तरह के किसी मिशनरी उद्देश्य से परिचालित नहीं थी। इस शृंखला का लक्ष्य पाठक वर्ग अभिजातवर्गीय अंग्रेजी भाषी बच्चे थे इसलिए इसमें कहीं-कहीं चरित्रों के अभिजातकरण की सजग कोशिश जरूर हुई है। इसे अभिजातवर्गीय रूप देने के लिए मीरा

की आरम्भिक औपचारिक शिक्षा का उल्लेख आता है, जो इतिहास से प्रमाणित नहीं है। एक चित्र में मीरा धनुष पर बाण संधान कर रही है और कैप्सन में लिखा गया है कि “मीरा को बचपन में धर्मग्रंथों के पाठ संगीत, धनुर्विद्या, व्यूह रचना, अश्वारोहण, रथ और शस्त्रचालन आदि की शिक्षा दी गई थी।”¹³ (चित्र सं. 6) मर्कॉव बुक्स की *मीराबाई* में अमर चित्रकथा की *मीराबाई* में वर्णित-चित्रित कमोबेश सभी घटनाओं का समावेश हो गया है। मध्यकालीन धार्मिक-सम्प्रदायिक चरित्र-आख्यानों में आई दो घटनाओं—रैदास से सम्पर्क और दीक्षा तथा वृन्दावन में जीव गोस्वामी से भेंट—इसमें अतिरिक्त जोड़ी गई हैं। इसमें अमर चित्रकथा की तरह मीरा के जीवन की सजग भाव से हिन्दू आदर्शों के अनुसार पुनर्रचना तो नहीं है, लेकिन इसकी निर्भरता अमर चित्रकथा पर है। अमर चित्रकथा में वर्णित मीरा के आदर्श हिन्दू पत्नी रूप को पुष्ट करने वाली घटनाएँ यथावत् इसमें भी आई हैं। एक चित्र में खड़ी हुई मीरा के कंधे पर कृष्ण का हाथ है और कैप्सन में लिखा गया है कि “मीरा ने अपने ससुरालवालों की आज्ञा का पालन किया और नदी में डूबने के लिए गई। पूरे रास्ते वह ‘गोविन्द, गिराधारी और गोपाल’ गाती हुई नृत्य करती रही। जैसे ही वह नदी में डूबने के लिए बढ़ी एक हाथ ने पीछे से उसे रोक लिया। उसने मुड़कर देखा तो उसके प्रियतम कृष्ण उसके सामने खड़े थे और वह मूर्च्छित हो गई।”¹⁴ (चित्र सं. 7) रैदास के साथ सम्पर्क और वृन्दावन में जीव गोस्वामी से भेंट के प्रकरण अमर चित्रकथा में नहीं थे, लेकिन यहाँ आए हैं। स्पष्ट है कि अमर चित्रकथा की तरह मीरा के चित्रांकन में मर्कॉव बुक्स का कोई मिशनरी उद्देश्य नहीं था, लेकिन अमर चित्रकथा पर निर्भरता के कारण इसमें नवीन और मौलिक कुछ नहीं हुआ। इसने भी अमर चित्रकथा द्वारा पुष्ट और प्रचारित मीरा के आदर्श हिन्दू पत्नी रूप के प्रचार-प्रसार में ही योग दिया।

मीरा पारम्परिक अर्थ में संत-भक्त नहीं थी। उसने पितृसत्ता और राजसत्ता के विरुद्ध अपने संघर्ष को समाज में मान्य और स्वीकार्य बनाने के लिए भक्ति को हथियार की तरह इस्तेमाल किया। अन्य माध्यमों की तरह चित्रकथाओं में भी मीरा का यह रूप नहीं आया है। मध्यकालीन धार्मिक-साम्प्रदायिक चरित्र-आख्यानों और उपनिवेशकालीन इतिहासकारों द्वारा निर्मित मीरा का स्त्री संत-भक्त रूप ही इनका आधार रहा है। अमर चित्रकथा के जन्मदाता अनन्त पै का ध्येय बच्चों को अपनी परम्परा में दीक्षित करना था इसलिए उन्होंने मीरा के संत-भक्त रूप को और विस्तृत करते उसमें आदर्श पत्नी रूप को जोड़ दिया है। इसके लिए अनन्त पै ने मीरा के जीवन के कुछ पारम्परिक प्रसंगों की पुनर्रचना की और साथ ही इस नए रूप को पुष्ट करने के लिए कुछ मौलिक उद्भावनाएँ भी कीं। अमर चित्रकथा के बाद उसके अनुकरण में तैयार की गई चित्रकथाओं में अंग्रेजीभाषी बच्चों की जरूरत के अनुसार मीरा के आंशिक अभिजातीकरण के अलावा नया कुछ भी नहीं है।

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

1. *मीराबाई* (हिन्दी अमर चित्रकथा), इण्डिया बुक हाउस प्रा. लि., मुम्बई, पुनर्मुद्रण, 2007
2. *मीराबाई* (अंग्रेजी), मर्कॉव बुक्स, 2009

3. आर्यक गुहा—एक भारतीय चित्रकथा का किताब बनना (हिन्दी अनुवाद—रविकांत), *शिक्षा विमर्श*, सितम्बर-अक्टूबर, 2009, दिगंतर, जयपुर, पृ. 30
4. स्ट्राटोन हावले—*श्री भक्ति वॉयसेज*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2005, पृ. 142
5. आर्यक गुहा—एक भारतीय चित्रकथा का किताब बनना, *शिक्षा विमर्श*, सितम्बर-अक्टूबर, 2009, पृ. 31
6. *मीराबाई* (अमर चित्र कथा), इण्डिया बुक हाउस प्रा. लि., मुम्बई, 1994 पृ. 4
7. वही, पृ. 4
8. वही, पृ. 11
9. वही, पृ. 17
10. वही, पृ. 13
11. वही, पृ. 7
12. मर्कॉव बुक्स की अंग्रेजी चित्रकथा *मीराबाई* के आवरण के पृष्ठ भाग पर मुद्रित शृंखला विषयक परिचयात्मक टिप्पणी से उद्धृत
13. *मीराबाई* (अंग्रेजी), मर्कॉव बुक्स, 2009, पृ. 2
14. वही, पृ. 16

□

अवकाश प्राप्त

✍ पी.सी.जोशी

अवकाश प्राप्ति का समय
ज्यों-ज्यों आ रहा है
समीप
यह कैसी है उथल-पुथल
मेरे मन में
सुख सुविधाएँ
जो जुड़ी हैं
मेरे ओहदे से
हो गया हूँ मैं
आदी उनका
यह ख्याल भी
कि अब ये नहीं रहेंगी
मुझे सुलभ
हो जाएँगी
दुर्लभ
पैदा करता है मन में
अजीब असुरक्षा

लान और किचन गार्डन के साथ
इतना बड़ा आवास
माली चपरासी की सुविधा
सरकारी गाड़ी
टेलीफोन
पर्सनल सेक्रेटरी
छब्बीस जनवरी को राष्ट्रपति भवन
और
पन्द्रह अगस्त को लाल किले पर
वी.आइ.पी. के रूप में

निमन्त्रण
हवाई जहाज का
या ए.सी. फर्स्ट क्लास का
सफर
और राजभवन
वी.आइ.पी. अतिथि गृह
या पंच सितारा होटलों में
विश्राम

इन सबका हो गया हूँ
मैं आदी
जब लोग मुझे
मेरे नाम से नहीं
ओहदे से जानते हैं
देते हैं प्रतिष्ठा
आदी हो गया हूँ
उस औपचारिक अभिनन्दन
प्रशस्ति पत्र का
जो मुझे मिलते हैं
अपने ओहदे के एवज में
इसलिए नहीं
कि मेरी बात में वजन है
और मेरे फैसले में
बुद्धिमत्ता

और जब सोचता हूँ
कि एक झटके में
यह सब
मुझसे छिन जाएगा
तो मुझे होती है
दहशत
और चाहता हूँ
क्यों न फिर
किसी प्राइवेट कम्पनी में
या किसी सरकारी विभाग या पब्लिक सेक्टर में
बन जाऊँ फिर से सलाहकार

ताकि यह सब
सिलसिला
वैसे ही चलता रहे
जैसे अब तक
चलता आया है

किन्तु
मन के किसी कोने से
उठती है एक आवाज
धीरे धीरे
फिर बुलन्द
शायद अन्तरात्मा की आवाज
मुझे झकझोरती
रहती है—
क्या तू ऐसे ही रहेगा सदा
शरीर और आत्मा
दोनों की स्वायत्तता से
वंचित—केवल चाकर

तू ओहदे से जुड़ी
झूठी प्रतिष्ठा
ठट बाट
सुख सुविधा को ही
समझ बैठा है
श्रेष्ठ जीवन की चरम पराकाष्ठा
तूने जाना ही नहीं
स्वधर्म क्या है
और क्या है
सच्चा सुख संतोष
और आत्मिक आनन्द
अन्तरात्मा कहती है
जियो एक बार फिर
साधारण जन की तरह
अपना सुख-दुःख
दूसरों का कष्ट क्लेश
परस्पर बाँटते हुए

एक बार फिर से
पहचानो अपने को
नये मानवीय सम्बन्धों में
अनुभवों में

राशन की दुकान में
खड़े होकर सबके साथ
कतार में
विशिष्ट जनों के
सुपर बाजार में नहीं
आम बाजार में खरीदो स्वयं
दैनिक जीवन की सामग्री
साग सब्जी
आटा चावल दाल
नमक तेल
साबुन कपड़ा
दवा दारू
यात्रा करो
रेलगाड़ी में सबके साथ
अस्पताल में जाओ
बिना विशेष सुविधा के

तुम भूल गए
प्रकृति को
फुर्सत से
मुग्ध दृष्टि निहारने का
अद्भुत आनन्द
उगते हुए सूरज की किरणों से
रक्तिम होता क्षितिज
संध्या की लालिमा से
आरक्त गगन
चहकती चिड़ियों
बसन्त के फूलों की
नयी बहार
खेलते बच्चों का कोलाहल
नवजात शिशु की

मुस्कान
अल्हड़ षोड़षियों की
मादक हँसी
इन सबसे फिर करो
परिचय

और अपनी सुरक्षित कोठी से
बाहर निकल
देखो भूख प्यास बेरोजगारी से
बिना दवा दारू
गरीबों का तिल-तिल
तड़पना
और मरना
और करो
जन-जन से फिर
साक्षात्कार

यही कहती है
अन्तरात्मा
और मैं सोचता हूँ
क्या मैं जुटा पाऊँगा
इतना साहस
अपने को फिर से
पहचानने का
कि खड़ा हो सकूँ
फिर से
आम लोगों के बीच
बिना किसी लज्जा के
ओहदे के बिना
केवल अपने नाम से
पहचान
बनकर इन्सान
महज एक डेजिगनेशन बनकर नहीं
करूँ इस सत्य का
सामना
कि मैं हूँ एक इन्सान

महज ओहदा नहीं
मैं हूँ आदमी
बाजार में
महज खरीद फरोख्त की वस्तु नहीं
मैं स्वायत्त हूँ
मेरा मोल
सत्ता के उतार-चढ़ाव के साथ
घटता बढ़ता नहीं
सुविधाएँ मेरा साधन हैं
साध्य नहीं
मैं फिर से जीना चाहता हूँ
होकर
मुक्त
स्वाधीन
साधारण इन्सानों के बीच!

एक छोटा सा ब्रेक लेकर ईश्वर के बहाने कुछ बकबक!

✍ कमलेश्वर साहू

एक

ईश्वर ने कहा
मेरे लिए बनाओ मन्दिर
खुद रहो बेघर

ईश्वर ने कहा
मुझे पहनाओ नए-नए कपड़े
खुद रहो नंग धड़ंग निर्वस्त्र

ईश्वर ने कहा
मुझे खिलाओ फल-फूल कन्दमूल
मिठाइयाँ श्रीफल
खुद मरो भूख से

ईश्वर ने कहा
करो मेरी पूजा
मेरे लिए जलाओ
दीए अगरबत्तियाँ लोभान

मैंने तुम्हें बच्चे दिए
मुझे खुश करने के लिए
अपने बच्चों की दो बलि
अपने बच्चों को करो हलाल
रहो बेऔलाद—
ईश्वर ने कहा!

दो

ईश्वर ने कहा
जय श्रीराम
ईश्वर ने कहा
अल्लाह-ओ-अकबर

ईश्वर ने कहा
सत् श्री अकाल

ईश्वर ने कहा
महात्मा गाँधी की जय
भारत माता की जय
जनता जनार्दन की जय

ईश्वर ने जो कुछ भी कहा
उससे ईश्वर को फायदा हुआ
लोगों को नहीं

तीन

ईश्वर ने कहा
असली हिन्दू हो
हिन्दू की असली औलाद हो
तो मार गिराओ मुसलमानों को

ईश्वर ने कहा
असली मुसलमान हो
मुसलमान की असली औलाद हो
तो हलाल कर दो हिन्दुओं को

ईश्वर ने
अपने बारे में
अपनी आल-औलाद के बारे में
अपनी बिरादरी के बारे में
किसी से कुछ भी नहीं कहा

चार

ईश्वर ने कहा
देश का राष्ट्रीय पुष्प कमल है
राष्ट्रीय पशु सिंह
राष्ट्रीय उद्यान कान्हा
राष्ट्रीय चिन्ह अशोक स्तम्भ
राष्ट्रभाषा हिन्दी
राष्ट्र गान वन्देमातरम्
राष्ट्र ध्वज तिरंगा
देश की राजधानी दिल्ली है
ईश्वर ने कहा

ईश्वर से पूछा गया
देश का राष्ट्रीय धर्म क्या है
राष्ट्रीय पूजा स्थल कहाँ है

समय आने पर बताया जाएगा कहकर
ईश्वर ने
मौन व्रत धारण कर लिया

पाँच

ईश्वर ने कहा
मैं मन्दिर में रहता हूँ
लोग सुने
और मन्दिर को चले गए

ईश्वर ने कहा
मैं मस्जिद में रहता हूँ
लोग सुने
और मस्जिद को चले गए

ईश्वर ने कहा
मैं गिरिजा में रहता हूँ
लोग सुने
और उसी का रास्ता नापने लगे

ईश्वर ने कहा
मैं गुरुद्वारा में रहता हूँ
लोग सुने
और गुरुद्वारा को चले गए
ईश्वर ने कहा
वास्तव में मैं
उस आदमी में रहता हूँ
उस आदमी की आत्मा में रहता हूँ
ईश्वर ने जिस व्यक्ति की ओर
इशारा किया था
दरअसल वह
मन्दिर में झाड़ू लगाकर
मस्जिद की
सफाई के लिए जा रहा था

दूसरे दिन वह व्यक्ति
काम से निकाल दिया गया

कुछ दिनों बाद पता चला
वह मार दिया गया

लोगों ने ईश्वर पर
पहली बार सन्देह किया

छः

ईश्वर ने कहा
मैंने तुम्हें पृथ्वी दी
आकाश दिया
अग्नि जल वायु
सूरज चाँद सितारे दिए
दिए दिन रात

सुख समृद्धि दी
धन दौलत दिए
भाषा संस्कृति सभ्यताएँ दी

गीत संगीत दिए
पेड़ पौधे फल-फूल खुशबू दिए

गरज कि ज़िन्दगी दी
और जीने के लिए
पूरी प्राकृतिक व्यवस्था

मैंने तुम्हें धर्म दिया
ईश्वर ने कहा

लेकिन ईश्वर ने
धर्म देते समय
यह नहीं बताया
इस धर्म की रक्षा के लिए
इतना खून बहाना होगा
इतनी लाशें बिछानी होंगी।

सात

ईश्वर ने कहा
मैं खुश हूँ
महँगाई बढ़ गई

ईश्वर ने कहा
मैं खुश हूँ
बेरोज़गारी बढ़ गई

ईश्वर ने कहा
मैं खुश हूँ
रुपये का मूल्य गिर गया

ईश्वर ने कहा
मैं खुश हूँ
राष्ट्र विरोधी गतिविधियाँ बढ़ गई

ईश्वर ने कहा

मैं खुश हूँ
तो ये हो गया
ईश्वर ने कहा
मैं खुश हूँ
तो वो हो गया

ईश्वर ने कहा
मैं खुश हूँ
लोग धार्मिक हो गए
ईश्वर ने कहा
मैं खुश हूँ
लोग साम्प्रदायिक हो गए

देश भर में दंगा हुआ
हज़ारों-हज़ार मारे गए
लाखों अन्धे-बहरे लूले-लँगड़े हो गए
घर दुकानें जल गईं
बच्चे अनाथ हो गए
माँ-बाप बेऔलाद हो गए
औरतें विधवा हो गईं

मारे खुशी के गदगद होकर
ईश्वर ने कहा—
मैं
खुश
हूँ!

पाँच कविताएँ

✍ सुरेश सेन निशान्त

बिजली मज़दूर

वे क्या ढूँढ़ रहे हैं
तूफान के बाद
इन खम्भों के आसपास
इनके ऊपर चढ़कर।
देखते ही बनती है
सर्कस के कारिन्दों सी
उनकी चपलता।
बिना नसैनी के
एक तार के बल से खम्भे पर चढ़ने की।
वह एक तार जो धरती में गड़ी है
इस तरह एक खास एंगल से पकड़े हुए है
खम्भों की देह
कि उसे जरा सा हटा दो तो
धड़ाम से गिर पड़ेंगे सभी खम्भे
और उनकी देह पर
गहनों से सजी ये तारें भी।

तूफान के बाद
गुल है बिजली
वे उसे ही ढूँढ़ रहे हैं
जो इन्हीं खम्भों पर बैठी है शायद
लुकी हुई।

वे भेजेंगे उसे हमारे घरों में
वे जानते हैं अँधेरे में घिरे घरों में
बच्चों को करना है पूरा

अभी अपना होम वर्क
क्रोसिए से कपड़े पर
बुन रही है स्वप्न वह जो एक लड़की
उसका स्वप्न अभी अधूरा है।

बिना बिजली के नहीं उतरेगा
बच्चों की कॉपियों पर एक भी अक्षर
और न ही उस लड़की के सपनों का
खिलेगा कोई भी फूल
जो अँधेरे में बैठी
जोह रही है उजाले की बाट
गृहणियों की रसोई का सारा सामान भी
रहेगा अस्त-व्यस्त।

व्यग्रता से भरे
निहार रहे हैं उन्हें सभी
सभी को है बिजली का इन्तज़ार।

बन्द पड़े हैं टीवी
क्या कुछ घट गया होगा
इतनी देर में कुछ पता नहीं।
कितने जहाज डूब गए
कितनी डकैतियों में
दिखा दिया होगा डाकुओं ने
अपनी सफलता का रंग।
कितने रनों से पता नहीं
कौन देश जीत गया होगा
खूब दिलचस्प रहा होगा वह मैच भी
जिसे नहीं देख पाया है कोई भी
बिना बिजली के।

अँधेरे में खड़ा
कोई कोस रहा है उन्हें
इस देरी के लिए
कोई मन ही मन कर रहा है नमन
कि कोई है जो आज भी

निभाते हैं ढंग से अपना पेशा ।
वे प्रशंसा और आलोचना से कोसों दूर
अपने काम में मगन हैं ।

बहुत मेहनत से ढूँढ़ने पर
मिल गई उन्हें वह शरारत
एक तार में थी जो छुपी बैठी
अचानक उनकी खामोशी में
फूट आए खुशी भरे स्वर
फैल गया उजाला ही उजाला
हैरान थे कई
कि इतनी छोटी-सी जगह पे
लुकी रही इतनी देर
इतने सारे घरों की बिजली ।

उन्होंने ठीक की बिजली
और चल पड़े चुपचाप
एक अँधेरी-सी गली में
बीड़ियों की चमक के बीच ।
खुशी तो थी ही नहीं
उस ओर हर्गिज उनके इन्तज़ार में
बैठी हुई
जिस ओर निकले थे
बिजली ठीक करने के बाद वे ।

उनके जाने के बाद
अकेला खड़ा था सुतून
पूरी बस्ती के उजाले को
अपने सबल काँधों पर सँभाले ।

उस सुतून को देख
कहा किसी गृहिणी ने
मन ही मन
कि भला हो उनका
जिनकी वजह से
छँट गया यह तम ।

पसीने से भीगी
उनकी थकी पीठों पर
दी थी किसी ने
चुपचाप यह थपकी
एक शाबाशी की तरह।

रात के उस वक़्त में
थके हुए थे सभी
एक को लगी थी भूख खूब
एक को हो रही है तलब
चाय की
एक ने कर लिया रुख
कलारी की ओर
उस घने अँधेरे के बीच
अपनी उदासियों से
लड़ने के लिए।

याद नहीं आ रहा है
उन्हें अपना कसूर
क्यों मिली सजा उन्हें छँटनी की
क्यों सूरज बुझा-बुझा-सा है
उनके भविष्य का?
क्यों घुट रही है साँस
उनकी छोटी-छोटी खुशियों की?
चमचमाती आज़ादी के इस पर्व पर
दिख रहा उन्हें अँधेरा
इतना घना क्यों?
उनके आसपास
ये खुशी के बाजे-गाजे
किसके लिए बज रहे हैं
ये कौन नाच रहा है
नशे में पागलों की तरह
जैसे उनकी खुशियों को
रौंदता हुआ

उजाला बाँटने वालों के

अँधेरे में घिर गए हैं घर
पता ही नहीं चल रहा उन्हें
कि कहाँ कैसे है यह फाल्ट।

दूर देश का एक राष्ट्रपति
हमारे प्रधानमन्त्री को
अपने सामने बिठा
हँसते हुए उजाले के बीच
कर रहा है हस्ताक्षर
किन्हीं मसौदों पर।

उसके हस्ताक्षर करते ही
अँधेरे में घिर गए हैं यहाँ कई घर
सूखने की कगार पर पहुँच गई है
हमारी हरहराती नदियाँ
तारों में दौड़ती इस बिजली की भी
हलक में अटक गई है जैसे साँस।

वहाँ कैमरे चमक रहे हैं
हमारे प्रधानमन्त्री के भी मुस्कुराते चेहरे पर
यहाँ इनके चेहरों पर
कर दी है शुरू उदासी ने
दिखानी अपनी रंगत।

बोझ

मेले की भीड़ में
ढोल नगाड़ों की धुन पर
लोगों के काँधों पर बैठ
नाचते हुए आ रहे हैं देवता।

कितना अच्छा लगता है
दूजे के काँधों पर नाचना
यह पूछे कोई देवता से
या फिर राजा से
उनसे नहीं जिनके काँधों पर बैठ

नाचते रहते हैं ये ता-उम्र
बोझ बनकर।

हर बार पुलिस की पकड़ में आनेवाले एक छोटे से अपराधी का बयान

हम और क्या करते
जीने के लिए
जो कुछ भी किया
वह अपराध था
कानून की नज़रों में।

जिस सरकारी स्कूल में
पढ़ने के लिए हमें भेजा गया
वहाँ ऐसे अध्यापकों से हमारा पाला पड़ा
जिनकी नजदीक की नज़रें
कमज़ोर हो चुकी थीं
वे ईमानदारी और सच्चाई की बातें करते हुए
जो बातें हमें समझाना चाहते थे
हमारे आस-पड़ोस में
बिल्कुल इससे उल्टा ही
देखने को मिलता।

वे जिस भाषा में
मन लगा के पढ़ाते
सरकार उस भाषा को
मान्यता ही नहीं देती थी।

अपनी प्यास के लिए
जो कुँ हमने खोदे
उनका पानी पीने के काबिल नहीं था
नदियों के पास गए
उनका जल भी गन्दला हो गया था
हकीमों की हिदायत थी
कि कुछ और दिन जीने की
अगर हमारी इच्छा है

तो इस पानी को पीना
हमें बन्द कर देना चाहिए।

हम क्या करते
जब-जब भी जीने की इच्छा से भरे
साफ़ पानी ढूँढ़ने निकले
पता नहीं किस कानून के तहत
कैद कर लिए गए।

कानून हमें कटे हुए पेड़ों से फल
और सूखी हुई नदियों से
पानी पीने की सलाह देते हुए
कुछ दिन बाद रिहा कर देता।
हमारी बस्ती के कई लोग तो
फलदार पेड़ों की छाया में
खड़े होने के जुर्म में भी
लम्बी सजाएँ भुगत रहे हैं।

हम रोटी कमाने के लिए
सुबह-सुबह घर से निकलते हैं
और शाम को चोरी न करने पर भी
चोरों की तरह
सहमे हुए अपने घर में घुसते हैं।

हम ही तो हैं वे
अखबारों में जिनके उदास से फोटू
अक्सर गर्वमय पुलिसियों के संग
अपराधियों के रूप में छपते रहते हैं
आदर योग्य रिश्तखोर बहादुर पुलिसवाले
कई बार किसी गम्भीर अपराध में
हमारा एनकाउन्टर भी करवा देते हैं
हमें पता है
बड़े-बड़े लोगों से लेकर
छोटे-छोटे लोगों तक को पता है
ऐसा वे किसी निजी स्वार्थ के लिए
नहीं करते

ऐसा वे कानून पर लोगों का
यकीन बनाए रखने की मजबूरी में करते हैं।
हमारी इस तरह की मौत पर
हमारे रिश्तेदारों को
रोने तक की मनाही होती है।

वैसे सभी जानते हैं
कि हम साधारण से चोर हैं
जो साफ पानी पीने की इच्छा से भरे
पूरी जिन्दगी में एक गिलास
साफ पानी भी नहीं हैं चुरा सके।

पिता की छड़ी

दीवार से टिकाए हुए अपनी देह
सोच रही है छड़ी
कि पिता आएँ तो वह भी
निकले उनके संग घूमने।

वह हतप्रभ सी ताक रही है पिता के
चश्मे को, गमछे को उनके जूतों को
जो गुमसुम से पड़े हैं
उनकी खाली चारपाई के पास।
ऐसा कभी नहीं हुआ था
कि वह इन सभी को अकेला छोड़कर
निकल गये हों काम पर कभी
छड़ी उनकी सबसे विश्वसनीय साथी
जो थामे रखती थी उनका हाथ
छड़ी की ठकठकाहट में
उसकी सबलता में वह बेटे का-सा
भरोसा महसूस करते थे।

छड़ी पिता के दोस्त की तरह थी
जो राह चलते हुए
बतियाती जाती थी उनके अकेलेपन से
लम्बे सफर में

गमछा या पैसा भले ही भूल गए हों कहीं
पर छड़ी कभी नहीं।

किसी दुकान पर बिकने के लिए
पहुँचने से पहले यह छड़ी
सागवान के घने जंगलों से
पता नहीं कितनी यात्राएँ
कितने पड़ावों को लाँघती पहुँची थी
एक बूढ़े कुशल कारीगर के हाथों में
इसकी देह पर उकेरी है जिसने अपनी कला
इसे आकर्षक बनाने में

उसकी रातों की नींद
और दिन का श्रम
अभी भी बतियाता रहता है
देखने वालों से।

पिता अक्सर माँ से कहते थे
कि इसकी छुअन में उन्हें कभी-कभी
किसी बीज के चटखने की
आवाज़ सुनाई देती है
इसकी ठकठकाहट में
किसी युवा वृक्ष की टहनियों पर बैठे
परिन्दों के चहकने के
मधुर स्वर सुनाई देते हैं
इस छड़ी की हथ्थी
उन्हें अक्सर हल की हथ्थी की
याद दिला देती है।

पिता के जाने के बाद
हम बेटों ने आपस में
सब कुछ बाँट दिया
जमीन, घर, पासबुक में पड़े सभी पैसे
रह गई थी घर के कोने में पड़ी
टुकर-टुकर कर निहारती माँ
और वह छड़ी।

नदी

(एक पहाड़ी लोकगीत को सुनकर)

एक

तुम पर पुल क्या बना नदी
तुमसे बात करना ही भूल गए
भूल गए तेरी देह पर तैरती
खुशियों भरी चंचल लहरों की छुअन
तेरा क्रोध, तेरा रूठना
सब कुछ भूल गए।

बिना नाव के तुझे लाँघना
भी क्या लाँघना है नदी
न तेरे जल में उतरे
न तेरी लहरों को छुआ
न तेरी धारा के खिलाफ़
चलाए अपनी नाव के चप्पू
नहीं सूँधी तेरे जल में समाई
तेरी देह की गन्ध
न तेरी मछलियों से बतियाए
न तेरे टूटते तटों की ओर निहारा
बस दूर से देखते रहे
तेरा अजनबियों सा जाना।

नदी तुम पर पुल क्या बना
तुझसे बात करना ही भूल गए।

दो

क्या तुम एक औरत के पास गए हो
वह भी एक नदी है
लबालब स्नेह से भरी।

उसके जल में उतरो
पर किसी चालाक मछेरे-सा
जाल लेकर नहीं


उतरो एक दस बरस के
मासूम बालक-सा
जो तैरने की उत्सुकता से भरा
रखता है पाँव उसके जल में
और जल भी माँ की गोद-सा
सँभाल लेता है उसे
अपनी हथेली पर।

वहाँ उस नदी औरत के पास
भी हैं असंख्य रंग-बिरंगी मछलियाँ
उतनी ही मीठी है धूप
उसके तट पर भी।
उतने ही लोग-बाग और पखेरू
उतार रहे हैं वहाँ भी थकान
धो रहे हैं दुख
प्यार और स्नेह में
छलकता रहता है वहाँ भी जल।

उस औरत नदी के गुस्से से भी
रहना थोड़ा सावधान
उसके भी जल में
मत धोना अपने गन्दले हाथ।

क्या तुम एक औरत के पास गए हो
वह भी एक नदी है
लबालब स्नेह से भरी।

तीन कविताएँ

 चन्द्रकान्त

कोयल

कोयल,
जागो, देखो—
तुम्हारे बसन्त पर कौवे का आधिपत्य है
सारे वृक्षों पर
परचम है काँव-काँव का
चिल्ला रहे हैं अहर्निश
अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ कौवे—

तुम अपनी विवशता पर
सुबकती भी क्यों नहीं?
टेसू, पुटुस, कचनार को लेकर
क्यों नहीं करती बगावत
क्या तुम भी यही चाहती हो
कि बसन्त पतझड़ में बदल जाए
क्या तुम्हें पता नहीं
कि होने जा रहा
बसन्त का निजीकरण

नहीं कोयल, नहीं
तुम्हें कूकना होगा,
बसन्त के लिए
मुस्कुराती कलियों के लिए
चने की फलियों के लिए
आज मंजरी के मादक गंध में
दूर तक फैले खेत
दानों से भरी गेहूँ की लहलहाती बालियाँ

मुस्कुराने दो इन्हें
पलाश के फूलों से रंग जाने दो जंगल को
सरसों के पीले फूल बतकही करें
तीसी के नीले फूलों
नीले अम्बर से
कोयल यदि तुम नहीं कूकोगी
तो महुए के मधु-गंध का क्या होगा,
कूकना है
अधिपति घोंघा बसन्त कौवों के खिलाफ
बसन्त के लिए
कोयल ।

व्यूह

मैं बेटी/बहन/पत्नी
और माँ हूँ
घर हूँ। परिवार। संवाद
और शब्दकोश भी
आग हूँ मैं
और पानी भी
मैं मजदूर हूँ
किसान भी
सूने सपनों का वितान भी
मैं दर्द हूँ
व्यथा हूँ
चतुर्दिक फैली कथा
झड़ती पँखुड़ियों से
फूटती सुगंध हूँ
और?
सब कुछ हूँ मैं
ब्रह्माण्ड की चेतना की तरह
फिर भी साम्राज्यवादियों
का शिकार हूँ

शब्द

मेरे शब्द निष्प्राण हो गए हैं
खरीदना है शब्दकोश
रट जाना है तोते-सा एक-एक शब्द
जब मैं भूखा था शब्द महुआ था
पक कर चूता था बगीचे में
मैं दौड़ा-दौड़ा जाता था सुबह सूनी पगडंडी पर
गीत मादक लगते थे वासन्ती बयारों से
लौट आता था मैं
महुए लेकर घर
सूर्य की पहली किरण निकलने से पहले
आकाश में फैलती लाली को
माँ कहती—बेटा यही तुम्हारे शब्द हैं
इन्हीं शब्दों से बनना है तुम्हें आह्वान
होना है कतारबद्ध, लहराना है परचम
तीव्रगति से पनपते आतंकवाद, अलगाववाद
और उग्रवाद के खिलाफ
तुम्हें अपने शब्दों में टेसू, कचनार-पलाश
के रंग भरने हैं
गढ़ना है नया शब्दकोश
आखिर क्यों भयभीत हूँ मैं
आततायियों की बन्दूकों से
लहलुहान हैं
क्षत-विक्षत हैं मेरे शब्द
नहीं, मुझे भरने दो शब्दों में नए रंग
जीवन का राग, शान्ति के रंग
बन्दूकें खुद नहीं सोचतीं
और न चलती हैं
हमें उन हाथों को बन्द मुद्रियों में बदलना होगा
उनकी सोच में रोटी
और माटी के बीज बोने होंगे
नए शब्द से
नए अर्थ गढ़ने होंगे
रचने होंगे शब्दों से अन्तहीन शब्दकोश

ओड़िआ दलित कविता

✍ अरुण होता

डॉ. भीमराव अम्बेदकर ने सामाजिक परिवर्तन का सपना देखा था। अम्बेदकर के विचार दलित साहित्य के प्रेरणा-स्रोत हैं। बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में हिन्दी दलित साहित्य की भाँति ओड़िआ दलित साहित्य भी विकसित हुआ है। इस दौर में रचित साहित्य संत्रास एवं शोषण के अनुभव को ब्यौरेवार प्रस्तुत करता है। इसमें एक ओर उत्पीड़न का लेखा-जोखा है तो दूसरी ओर दलितों की जाग्रत चेतना विद्यमान है। वास्तव में दलित-साहित्य दलितों के स्वाभिमान को उपस्थापित करता है, बड़ी शिद्दत के साथ। इसमें वर्ण एवं जाति-व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष हेतु आह्वान है। भले ही 'दलित साहित्य' 'पदबन्ध उत्तर आधुनिक युग' का है परन्तु इसकी परम्परा बहुत पुरानी है।

ओड़िआ साहित्य में जाति-प्रथा के विरोध का स्वर बीसवीं शताब्दी का नहीं बल्कि म्यारहवीं शताब्दी से सुनाई पड़ता है। चौरासी सिद्धों में से कई सिद्ध ओड़िआ के थे। इनमें भुषुकपाद, दारिकापाद, कान्हुपाद, शबरपाद, कम्बलपाद के नाम उल्लेखनीय हैं। छुआछूत, मिथ्याडम्बर, आदि का एक ओर विरोध है तो दूसरी ओर 'मानुष' को 'मानुष' के रूप में देखने का आग्रह है। सहजिया सिद्ध कवियों के पश्चात् नाथ-साहित्य का विकास हुआ। ओड़िआ में नाथ-साहित्य की मात्रा बहुत कम है। फिर भी, इस परम्परा में मनुष्य की मुक्ति की बात उठाई गई है। इसमें ब्राह्मण या वैश्य की मुक्ति का प्रसंग नहीं है। मनुष्य की मुक्ति का सन्दर्भ है। मनुष्य को महान माना गया है, उसके वर्ण को नहीं। सिद्धों एवं नाथों की रचनाओं में दलित चेतना का बीज रूप सन्निहित है।

ओड़िआ दलित साहित्य के विकास में भक्ति-साहित्य के अवदान को भुलाया नहीं जा सकता। पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दी का समय ओड़िआ के इतिहास में ही नहीं उसके साहित्य, धर्म, दर्शन एवं सामाजिक जीवन में भी प्रभावशाली रहा है। संस्कृत में रचित महाभारत, रामायण, भागवत जैसे ग्रंथ सामान्य मनुष्य की मानसिक क्षुधा निवारण हेतु असमर्थ थे, ऐसी पृष्ठ भूमि में सारलादास ने ओड़िआ में महाभारत लिखा। आम आदमी को निराशा से आशा का स्वर सुनाने के लिए बलराम दास, जगन्नाथ दास, यशोवन्त दास, शिशु अनन्त दास तथा अच्युतानन्द दास का आविर्भाव हुआ। इन पाँच कवियों को 'पंचसखा' के नाम से जाना जाता है। काशी के पंडितों द्वारा लोककवि तुलसी की जो अवहेलना हुई थी वैसी ही उपेक्षा का शिकार पंचसखाओं को उत्कलीय पंडितों के द्वारा होना पड़ा था। तत्सवेत्ता ब्राह्मणों को उचित जवाब देने के लिए सारलादास ने अपने को 'शूद्रमुनि' के रूप में परिचित कराया। इसका प्रभाव इतना अधिक पड़ा कि पंचसखा युग में कवि बलराम दास के लिए

भी यह पदवी के रूप में स्वीकृत हो गया। जो वेदान्त केवल ब्राह्मण पंडितों की ज्ञान-तिजोरी में आबद्ध था उसे बलराम दास ने जाति, वर्ण, धर्म के भेद-भाव को भुलाकर आम आदमी के लिए उन्मुक्त कर दिया। सीधी-सादी लोकभाषा में वेदान्त-सार को सर्वजनादृत किया। ब्राह्मणों ने लोक कवि का विरोध किया, उसकी उपेक्षा भी की। कवि ने उस उपेक्षा की पीड़ादायिनी अभिव्यक्ति की है—

“तू सोमनाथ शूद्रसुत
तू कहलाता वेदान्त चरित।”

अछूतों से ब्राह्मणों तक वेदान्त तत्व की शिक्षा देने के उद्देश्य से उन्होंने वेदान्त की व्याख्या की और श्रीमद्भगवद्गीता का ओड़िआ अनुवाद प्रस्तुत किया। इसके फलस्वरूप संस्कृत मर्मज्ञ ब्राह्मण आग बबूले हो गए। कवि को तमाम यातनाएँ भोगनी पड़ीं। इतना ही नहीं उनकी कुमन्त्रणा से बलराम दास को राजकीय क्रोध का शिकार भी होना पड़ा। कारावरण तक सहना पड़ा।

मुक्तिमंडप पर विराजमान हो पंडित भगवत गीता की व्याख्या कर रहे थे। वहाँ बलराम दास उपस्थित थे। नतीजा यह हुआ कि उन्हें अत्यन्त कटु तथा अपमान सूचक भाषा में भर्त्सना सुननी पड़ी :

“भगवान ने जो आदित्य को सुनाया था
उस गीता को सुना तुमने शूद्रमुनि होकर
श्वान हो तरु अन्न भोगा तूने पामर
प्रभु को बताएँगे पकड़ो इसे सत्वर।
शूद्र होकर जब करे ब्रह्मकर्म संज्ञा
दण्ड हो उचित उसे जो आपकी आज्ञा।”

अपने सन्त कवि कबीर की तरह बलराम भी कहाँ झुकने वाले थे। ब्राह्मणों ने उन्हें पुरी के राजा गजपति के सामने पहुँचाया तो बलराम दास ने निर्विकार होकर उत्तर दिया—

छिपाए रखे हैं ये जिस ब्रह्मज्ञान को
बखान करेगी उसे कल दासी बावली (सब्जीवाली)

देव-पूजन के समय दासी बावली ने वेदान्त तत्व की चर्चा की। उसे सुनकर ब्राह्मण अभिभूत हो उठे। तत्पश्चात् बलराम दास की व्याख्या सुनकर सभी स्तब्ध रह गए। महाराज को अपनी गलती का अहसास हुआ।

“जाति-पाँति पूछे नाहिं कोई, हरि का भजे सो हरि का होई” को आगे बढ़ाते हुए बलराम दास ने साधारण जनता को भक्ति ही नहीं ज्ञान का अधिकारी भी बनाया। पीड़ितों और उपेक्षितों को समाज में बराबरी का दर्जा प्रदान करते हेतु वे प्रयासरत थे। बलराम दास का लक्ष्मी पुराण इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। उन्होंने उक्त पुराण के माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि छूत-अछूत न तो भगवान मानता है और न ही कोई

तत्त्ववेत्ता यथार्थ ज्ञानी। हृदय की पवित्रता, भक्ति की प्रगाढ़ता के माध्यम से श्रीया चांडालिनी ने समाज का सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया है। सोलहवीं शताब्दी के कवि ने स्पृश्य-अस्पृश्यता के निराकरण का कितना बड़ा प्रयास किया था। जाति-भेद को तुच्छ माना था। पुनः ब्राह्मणों के वर्चस्व, झूठे दंभ को अस्वीकार किया था। निस्सन्देह उनका काव्य-सृजन उच्च कोटि का था। परन्तु उनके साहित्य में विद्यमान सामाजिक कुविचार (Social Injustice) दलितों की पीड़ा की मार्मिक अभिव्यक्ति, पीड़ितों को उनका न्यायोचित अधिकार प्रदान करने का प्रयास आदि कवि के साहित्य को युगोपयोगी बनाते हैं। बलराम दास की भक्ति भावना, साहित्य उत्कर्षता उन्हें महान काव्यकार बनाती है। परन्तु उनका भोगा हुआ यथार्थ और उसकी समर्थ अभिव्यंजना उन्हें समाज विप्लवी के रूप में प्रतिष्ठित करती है।

पंचसखाओं की रचनाएँ जनता के लिए थीं, इन रचनाओं का उद्देश्य जनमन का संस्कार, समानता का आधार एवं अपने अधिकार की प्राप्ति था। इसमें पंचसखायुगीन साहित्य की मूल्यवत्ता थी। धर्म केवल पारलौकिक नहीं जीवन की समस्याओं का भी परिचायक था। अर्थात् वहाँ मानव जीवन की पीड़ा तथा समस्याओं के लिए पर्याप्त अवकाश था। भक्त कवियों एवं जनता का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानवीयता पर आधारित था। भक्त कवि संन्यासी नहीं थे। गार्हस्थ्य जीवन के अंग थे। विराट जन-समुदाय अंगी था तो भक्त कवि उसके अंग थे।

पंचसखाओं में जगन्नाथ दास का नाम अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ओड़िआ भागवत के रचयिता जगन्नाथ दास ने ओड़िआ तथा संस्कृत में लगभग बीस से भी अधिक ग्रंथों की रचना की है। मानक ओड़िआ में रचित उनके 'भागवत' में कवि ने 'नवाक्षरी' छन्द का प्रयोग किया है। संस्कृत पंडितों ने जगन्नाथ दास के भागवत को 'तेली भागवत' कहकर उसका घोर विरोध किया। परन्तु उत्कलीय जन समुदाय ने जगन्नाथ दास के 'भागवत' का महत्व समझा। ओड़िआ में इसे पवित्र ग्रंथ मानकर जीवन के अंग स्वरूप स्वीकारा गया। प्रत्येक गाँव में 'भगवत गादी' (भगवत गद्दी) की स्थापना हुई। नित्य पारायण हुआ। धर्मप्राण उत्कलीय आज भी इसकी पूजा करते हैं। ब्राह्मण हो या चांडाल सभी इस ग्रंथ की चर्चा करते हैं। सरल-सरस एवं सुबोध्य भाषा में रचित भागवत सभी स्तर के लोगों की जबान पर चढ़ा रहता है। जैसा कि एतद्पूर्व उल्लेख हो चुका है कि चैतन्य के उत्कल में आगमन के परिणामस्वरूप उत्कलीय धर्म, दर्शन तथा साहित्य के क्षेत्र में एक नया मोड़ आया। ओड़िआ में गजपति प्रताप रूद्रदेव के शासन काल में स्वयं चैतन्यदेव का 1509 ई. में उत्कलागमन हुआ। उन्हें प्रताप रूद्रदेव की पृष्ठपोषकता मिली। पंचसखाओं को चैतन्यदेव का सान्निध्य प्राप्त हुआ। श्री चैतन्य के गौड़ीय वैष्णव धर्म तथा पारम्परिक उत्कलीय शून्य-साधना के बीच समन्वय स्थापना करते हुए जगन्नाथ दास ने कविता लिखी। उन्होंने ज्ञान मिश्रित भक्ति का प्रवर्तन किया। प्रकृति, मानव एवं आध्यात्मिकता कवि की भक्ति भावना में एकीभूत हो गए। 'गोपीलीला' में विरहिणी नायिका की तीव्र पीड़ा अभिव्यंजित है तो प्रकृति सुन्दर की अभिव्यक्ति हेतु उद्दिष्ट है।

इस पृथ्वी पर जन्म से कोई जाति छोटी या बड़ी नहीं होती। पंचसखाओं की भी यही मान्यता है। प्राचीन वैदिक ऋषियों ने चतुर्वर्ण की व्यवस्था की थी ताकि सामाजिक

व्यवस्था कायम हो। परवर्ती समय के स्वार्थियों ने उसमें ऊँच-नीच की भावना सृष्टि कर दी। बलराम दास ने मुखमंडल में ही चतुर्वर्ण की अवस्थिति दिखाई है। उनके अनुसार ज्योतिरूप परब्रह्म की नाक है-ब्राह्मण, नेत्र है वैश्य, कान है क्षत्रिय और शूद्र है—मुख, पुनः इनमें किसे छोटा और किसे बड़ा माना जाए। इस सन्दर्भ में जगन्नाथ दास सबमें कारणस्वरूप नारायण के दर्शन करते हैं—

सकल घटे नारायण। वसन्ति अनादि कारण ॥

(भागवत 11:3, पृ. 43)

वे एक जीवात्मवाद का समर्थन करते हुए कहते हैं—

एकई आत्मा सर्वभूते। देह विकार नाना मते ॥

चंद्र जेसने शून्य पथे। जले दिसइ नाना मते ॥

अनेक घट जल मध्ये। जेसने देखि नाना भेदे ॥

(भागवत, 11:19, पृ. 32)

निरभिमानी भक्त जगन्नाथ दास ने गोस्वामी तुलसीदास की तरह सामाजिक सन्दर्भ में वर्णाश्रम व्यवस्था को सामाजिक आदर्श के रूप में स्वीकार किया है। उनके भागवत में कल्पित समाज अहिंसक है। इसमें साम्य, मैत्री, प्रीति, करुणा, सत्य, न्याय, दया, क्षमा के साथ समस्त जीवों के प्रति साम्यभाव की चेतना निहित है। उनके भागवत का समाज आत्म-संयम और आत्म-नियंत्रण को मूलमंत्र मानता है:—

स्वजाति कुल धर्म वर्ण। ए अहंकारे नोहे छिन्न।

उत्तम लक्षण ए जाणि। भक्त मध्ये परिमाणि ॥

(भागवत, 11:20:59)

अच्युतानन्द दास पंचसखाओं में कनिष्ठ थे। वे जातिभेद प्रथा को स्वीकार नहीं करते थे। जाति-वर्णविहीन एक समाज का गठन करना ही उनका स्वप्न था। ऊँचे कुल में जन्मग्रहण करके भी वे अपने को शूद्र कहते थे। 'वैष्णव जन' में उनकी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को चार जातियों के रूप में न देखकर चार भावों के रूप में देखा। ये चतुर्भाव प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान हैं। ईश्वर भक्ति के लिए शूद्र भाव को आवश्यक समझा। उपनिषद्कार की तरह उन्होंने मनुष्य मात्र को अमृत की सन्तान कहा। अमरता ही उसकी भाग्यलिपि तथा मुक्ति ही उसका जन्मजात अधिकार है। परब्रह्म सर्वव्यापी है। मनुष्य ही ईश्वरीय सत्ता का क्षुद्रातिक्षुद्र प्रतिनिधि है। मानव पिंड ही ब्रह्माण्ड का प्रतीक है—

“जाहा देखुछ ब्रह्माण्डरे। ताहा रहिछि ए पिण्डरे।”

अच्युतानन्द तिलकधारियों, माला फेरने वाले, तीर्थयात्रा करने वाले भिक्षाजीवी वैष्णवों के वाह्याडम्बर, ढोंग के प्रबल विरोधी थे। अहंकारी, लोभी, दुर्जनों से सदा दूरी बरतते थे। राजसत्ता को सर्वश्रेष्ठ शक्ति के रूप में अस्वीकार करते हुए अच्युतानन्द मानव-सत्ता की महानता का गुणगान करते थे। उनकी मान्यता है कि जो सही अर्थ में ज्ञानी होता है वह

समाज में प्रचलित ऊँच-नीच के भेद-भाव को अस्वीकृत करता है। चांडाल हो अथवा ब्राह्मण सभी को ब्रह्म विद्या का अधिकार है। मनुष्य का जन्म किस जाति में हुआ है यह कोई मायने नहीं रखता। बड़ी बात तो यह है कि मनुष्य का कर्म तथा चरित्र कितना बड़ा है? **मन चंगा तो कठौती में गंगा।** जिसका हृदय पवित्र है तथा जिसके हृदय में ईश्वर प्रेम विद्यमान है, वास्तव में वह बड़ा होता है—

हेले जातिहीन नाहिं ताहिं मान श्रीकृष्ण वासना थाए
कलिकतरा जे पंकरे बुडिले पंक न लागइ देहे। (शून्य संहिता)

ओड़िआ के मध्यकालीन साहित्य में दलित चेतना की पृष्ठभूमि स्पष्ट रूप से पाई जाती है। उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीयार्द्ध के सन्त कवि भीमाभोई का नाम भी उल्लेखनीय है। कोंध जनजाति में जन्मे भीमाभोई ने अपनी रचनाओं को मौखिक बोलकर अपने शिष्यों से लिखवाया था। अन्धे भीमाभोई ने अपनी रचनाओं में वर्ण व्यवस्था एवं मूर्ति पूजा के प्रति अनास्था दिखाई है। ‘भोगा हुआ यथार्थ’ को उन्होंने अपनी रचना का आधार बनाया। ‘स्तुति चिन्तामणि’ और ‘चौतीसा मधुचंद्र’, ‘ब्रह्म निरूपण गीता’, ‘भजनमाला’ भीमाभोई की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। अब तो भीमाभोई ग्रंथावली लगभग हजार पृष्ठों से संकलित हो चुकी है। उनकी विचारधारा युगीन संकल्पना के अनुसार है। मूल्यों के हास की चिन्ता, पाप की अतिशयिता, लोभ, छल, मिथ्या, कपट आदि से प्रपीड़ित मनुष्य की वेदना को रूपायित किया है। ‘महिमा धर्म’ के प्रचारक भीमाभोई ने मानव की मुक्ति की प्रार्थना की है—

“कर रहे हैं करुण क्रन्दन भक्त तुम्हारे
लुंठित है धूल में
कर दो क्षमा दोष हमारे
प्रभु! दे दो मुक्ति जगत को।”
कवि ने प्रतिरोध का जो स्वर उठाया वह निराला है—
“आँसू नहीं रक्त की बूँदें टपकती हैं।
और मैं उन्हें अपने हाथों से पोछ लेता हूँ।”

भीमाभोई ने अपने जीवन में अनेक सामाजिक प्रताड़नाओं का सामना किया था। इन अनुभूति के माध्यम से उन्होंने ‘मानव की चिन्ता’ को व्यापक धरातल प्रदान किया। अपमान, निरादर एवं शत्रुता को सहन करने के पश्चात् उन्हें अपनी शक्ति के रूप में ग्रहण किया। कबीर की भाँति उन्होंने अन्याय का विरोध किया, मूर्तिपूजा का खंडन किया एवं एक ब्रह्म की उपासना का प्रचार किया। इनकी क्रान्ति का आधार जीवन की पाठशाला के कड़वे अनुभव हैं। यह क्रान्ति किसी जाति विशेष के प्रति नहीं है, सामाजिक, धार्मिक व्यवस्था में नए प्रतिमान स्थापित करने के लिए है। उनकी क्रान्तिकारिता में सर्वाधिक प्रेम मनुष्य के प्रति है। मराठी के प्रसिद्ध दलित रचनाकार की मानें तो दलित साहित्य का केंद्र बिन्दु मानव है और वह मानव के इर्द-गिर्द घूमता है। इस दृष्टि से भीमाभोई की रचनाएँ ओड़िआ दलित साहित्य की प्रथम रश्मियों के समान हैं।

ओड़िआ साहित्य के आदिकाल से भीमाभोई तक वर्ण-व्यवस्था और भारतीय समाज-व्यवस्था के अमानविक उत्पीड़न का चित्रण मिलता है। नीची जाति के लोगों पर यह यातनाचक्र जारी रहता है। कवियों ने उस निर्यातना की अभिव्यक्ति की है। बीसवीं शताब्दी के द्वितीयार्द्ध में अम्बेदकर एवं ज्योतिबा फूले के व्यापक प्रभाव से प्रभावित होकर ओड़िआ के सवर्ण तथा अवर्ण रचनाकारों ने सामन्ती मूल्यों और सामाजिक पराधीनता के विरोध का स्वर उठाया है। समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था में कर्म के स्थान पर जन्म निश्चित हो गया। वर्ण-व्यवस्था ने जाति को जन्म दिया। फलस्वरूप, संकीर्णता आ गई। सामाजिक व्यवस्था का आधार जाति बन गया। निम्न वर्ग 'दलित' के रूप में उभरा। दलितों के अन्तर्गत अनुसूचित और आदिवासियों के साथ भूमिहीन मजदूरों, गरीब किसानों, अधिकार विहीन, गुलाम वर्ग, हरिजन आदि आते हैं। ओड़िआ साहित्य में उपर्युक्त वर्ग के अलावा डिप्रेस्ड क्लास, शिड्यूल्ड कास्ट, हरिजन आदि को भी शामिल किया जाता है।

'उड़िआ दलित साहित्य : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि' शीर्षक आलेख में बजरंग बिहारी तिवारी ने विचित्रानन्द नायक के काव्य-संग्रह अनिवीणा (1973) में प्रयुक्त 'दलित' को उस भावबोध का बताया है जो वास्तव में 'पैंथर' के कार्यकर्ता के अनुरूप था। सामाजिक एवं आर्थिक प्रताड़नाओं से प्रपीड़ित लोगों की मुक्ति की प्रबल कामना एवं उनके विद्रोह को रूपायित करते हुए विचित्रानन्द ने लिखा है—

“वे अब क्रुद्ध हो उठे हैं
बहिष्कृत झुगियों और झोपड़ियों के निवासी
वे जाग उठे हैं
जाग उठे हैं अपनी सामूहिक निद्रा से
अपनी दाल रोटी के लिए
वे जला डालेंगे इस व्यवस्था को”
(कथादेश, दिसम्बर—2005 पृ. 53)

दलितों को मुक्ति चाहिए— केवल अपनी दशा से नहीं, अत्याचार से नहीं बल्कि अमानवीय त्रासदी से भी मुक्ति चाहिए। इस मुक्ति की छटपटाहट को विचित्रानन्द ने अपनी कविता का मूल स्वर बनाया है। एक ऐसे समाज की संरचना करना उनकी कविता का प्रतिपाद्य है, जहाँ जाति, वर्ग का कोई बन्धन न हो। मनुष्य मात्र समान हो। कवि कथमपि निराश नहीं है। प्रबल आस्थावान है। इसलिए उसकी उद्घोषणा है—

लाल-लाल सूरज मेरे सिर पर पहले से ही लिखने लगा है
मुक्ति-मुक्ति हर एक के लिए

बजरंग बिहारी तिवारी ने ओड़िआ दलित कविता के स्वरूप पर विचार करते हुए कहा है— “उड़िया में दलित लेखन भले ही अभी प्रारम्भिक अवस्था से गुजर रहा हो लेकिन उसमें स्वर वैविध्य विचारधारात्मक दृढ़ता तथा संवेदनात्मक प्रौढ़ता उल्लेखनीय रूप से उपस्थित है। लेखन की मुख्य विधा अभी कविता है लेकिन इसमें आत्माभिव्यक्ति के अनेक

रूप-रंग, इतिहास का अवगाहन, अतीत-निर्माण और स्वत्व का रेखांकन सब सम्भव हो रहे हैं।” (स्वत्व की खोज : उड़िया दलित कविता, कथादेश, पृ. 59, फरवरी, 2006)। विचित्रानंद की परम्परा को विविधवर्णी इन्द्रधनुष रूप प्रदान करनेवालों में वासुदेव सुनानी, भारत माझी, जगन्नाथ मल्लिक, संजय कुमार बाघ, सीताकान्त महापात्र, आशुतोष परिड़ा, रवीन्द्र पल्लाड़, कुमारमणि तन्ती, केदार मिश्र, दुर्गाप्रसाद पण्डा, मनोज मेहेर, अंजुबाला जेना आदि महत्वपूर्ण हैं। हिन्दी दलित साहित्य की तरह उपर्युक्त सूची में भी दलित एवं गैर-दलित रचनाकार हैं। यहाँ ‘दलित रचनाकार’ के विवाद को आगे बढ़ाना कथमपि उद्देश्य नहीं। दलितों की पीड़ाओं एवं समस्याओं, उनकी निर्यातना एवं शोषण, उनके विद्रोह एवं आक्रोश को जो रचनाकार सम्पूर्ण संवेदना के साथ अभिव्यक्त कर पाने की सामर्थ्य रखता है उसे ‘दलित रचनाकार’ कहा जा सकता है।

ओड़िआ दलित साहित्यकारों के लिए धार्मिक विश्वासों से मुक्ति ही मूल लक्ष्य नहीं रह गया है। आर्थिक एवं सांस्कृतिक पराभवों से मुक्ति पाने के लिए भी प्रतिबद्धता पाई जाती है। अम्बेदकर के सपनों को पूरा करने के लिए रचनाकार कटिबद्ध दिखाई पड़ते हैं। हालाँकि गैर-दलित लेखक, दलित लेखकों के लेखन की आलोचना करते अघाते हैं कि इनके लेखन में शिल्प नहीं है, सौन्दर्य नहीं है, शैली नहीं है, गाली-गलौज की भाषा है, परन्तु शिल्प, सौन्दर्य एवं शैली मात्र से साहित्य नहीं बनता है। उसमें भावों की भी प्रधानता होती है। दलित साहित्य में भावों का अभाव नहीं, प्राचुर्य है।

स्त्री भी दलित है, सर्वहारा वर्ग की है। सदियों से वर्ण और वर्ग समाज उसका शोषण करता आ रहा है। पत्नी के रूप में, बहू के रूप में, पुत्री के रूप में उसका शोषण तो होता है। परन्तु माता के रूप में उसकी इच्छाओं को कुचलते हुए पुत्र उसका बँटवारा कर लेते हैं। वह नीरव रहती है। परन्तु उसकी नीरवता में छिपी तीव्र पीड़ा को मौन रूप में अभिव्यक्त करते हुए मनोज मेहेर कहते हैं—

“माँ का बँटवारा हो गया उस दिन
छोटू ने लिया सात महीना
और मैंने पाँच-महीना।” (पक्षी)

ओड़िआ दलित साहित्य धर्म पर आधारित परम्पराओं, रूढ़ियों तथा विचारों के प्रति विद्रोह करता है। इसमें प्राचीन सड़ी-गली परम्पराओं, जर्जर होती मान्यताओं और गलित विचारों से विद्रोह करते हुए नवीन परम्पराओं को स्थापित करने का उद्देश्य निहित रहता है। भारत माझी ने अपनी कविता ‘हम कुछ लोग’ में लिखा है—

“भरी सभा के बीच
ईश्वर के गले में
जूतों की माला पहना दी।” (मूर्तिकार, पृ. 36)

धर्मवीर भारती ने ‘टूटा हुआ पहिया’ शीर्षक कविता में अवहेलितों का समर्थन करते हुए उनसे लिखे जानेवाले नए इतिहास की सम्भावना व्यक्त की थी। भरत माझी ने आशा

व्यक्त की है कि कुछ लोगों में यदि शोषित होने की, पीड़ित होने की चेतना जन्मे वह धीरे-धीरे सर्वत्र प्रसारित होगी। कुछ ही लोगों के काम से नया इतिहास बन सकता है—

“न शत्रु न सामन्त
न विद्रोही प्रजा, न बिगड़ैल सेना।
इतिहास के दाय-भाग से
जगें हम कुछ ही लोग
तो रचेंगे नया इतिहास।” (मूर्तिकार, पृ.37)

वासुदेव सुनानी ओड़िआ दलित साहित्य के महत्वपूर्ण कवि हैं। महल वन (महुल बण) शीर्षक काव्य-संकलन में कवि का एक ओर विद्रोह प्रतिकार है तो दूसरी ओर मंगल एवं शुभ के लिए बेचैनी। इस बेचैनी से पीड़ित होकर वह नकार या निषेध को नहीं अपनाता बल्कि एक नव-निर्माण के लिए भी कटिबद्ध दिखाई पड़ता है। परन्तु उसे ज्ञात है कि जब तलक धर्म पर आधारित परम्पराओं, रूढ़ियों एवं विचारों से मुक्ति नहीं मिलती है तब तक सब एवं खासकर धर्म के ध्वजाधारी शूद्र, अस्पृश्य, अछूत, दलित नाम देते रहेंगे। ऐसी स्थिति में कवि विद्रोह को अपना साथी बना लेता है और अभिव्यक्त करता है :

“कभी-कभी
ऐसा एक जघन्य अपराध
करने को इच्छा होती है कि
गला दबाकर, मिट्टी खोदकर
पाताल में दफना देता
अस्पृश्यता के शव।”
(कथादेश, दिसम्बर, 05, पृ. 57)

आक्रोश, संघर्ष का सन्देश, संवेदनशीलता और स्पष्टवादिता वासुदेव सुनानी की कविताओं की मूल विशेषताएँ हैं। कवि ने अपने आस-पास के परिवेश से कथ्य ग्रहण किया है। उसे निजी अनुभव के आधार पर काव्य-रूप प्रदान किया है। कवि ने जो जीवन जिया और भोगा है और अपने परिवेश में घटित हो रही अमानवीयता को बड़ी शिद्दत के साथ अभिव्यक्त किया है। जातिवादी समाज-सरंचना से मर्माहत हो वासुदेव लिखते हैं—

“आओ
हम नंगे होंगे
निकाल लेंगे
ब्रह्मा की देह से
महापात्र के कोट
उतार लेंगे
विष्णु की कमर से

महान्ति के सूट।”

(कथादेश, दिसम्बर, 05, पृ. 54)

आज एक ओर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी दिन दूनी रात चौगुनी विकास कर रहे हैं। मनुष्य चन्द्रलोक में पहुँच चुका है। महाकाश में भूमि क्रय करने का सपना पालने लगा है। परन्तु दूसरी ओर वह अपनी रूढ़ियों, अन्धविश्वासों से भी जकड़ता जा रहा है। यह जकड़न बड़ी मजबूत होती जा रही है। अछूतों एवं सफाई कामगारों के प्रति हमारी मानसिकता पूरी तरह रूढ़ हो चुकी है। कहीं न कहीं उन्हें सिर पर मैला ढोने के लिए विवश करने में अपनी भूमिका निभाते आ रहे हैं। इस गन्दे अमानवीय कर्म के लिए प्रेरित कर रहे हैं। इस सन्दर्भ में बाबा साहब अम्बेदकर का कथन स्मरणीय है—“उच्च कुल का आदमी मरते मर जाएगा किन्तु ऐसा गन्दा काम वो हरगिज नहीं करेगा। तो तुम्हारे पास क्या मजबूरी है? सबसे पहले अपने इस गन्दे पेशे से छुटकारा पाओ तभी तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल होगा।” भंगियों के सामाजिक सम्मान एवं समानता की प्रतिबद्धता को ‘शरीर शुद्धि’ शीर्षक कविता में वासुदेव ने जाहिर किया है। साथ ही उन्होंने ब्राह्मणवाद, पूँजीपति वर्ग की मानसिकता और उनके खोखलेपन पर तीव्र प्रहार किया है। एक ओर आक्रोश है तो दूसरी ओर भंगी जाति के गन्दे पेशे, जीवन स्तर, अशिक्षा, विवशता आदि की मार्मिक अभिव्यक्ति भी है। ‘शरीर शुद्धि’ एक लम्बी कविता है जिसमें उपर्युक्त भाव अबाध गति से प्रवाहमान है। कविता की प्रारम्भिक पंक्तियाँ हैं—

“एक बार

सिर्फ एक बार दबाकर एक हड्डी जीभ के नीचे

मिट्टी को जकड़ कर कहो

किस गंगा में धोऊँ

अपनी गुह से सनी देह

कितने मन तुलसी के पत्ते चाहिए

शरीर-शुद्धि के लिए

सुगन्धित होगी मेरी काया

कितने मन चन्दन के प्रलेप से?”

दलित के सामाजिक अस्वीकार का दंश बार-बार झेलना पड़ता है। कितनी बड़ी विडम्बना है कि जिस भंगी की एक दिन की अनुपस्थित से पूरा परिवेश दुर्गन्धमय हो जाता है, उस भंगी के प्रति लोगों की मानसिकता जराजीर्ण दशा में बनी हुई है। सदियों से उपेक्षा, घृणा का शिकार बने रहे दलित की मार्मिक पीड़ा अभिव्यक्त है—

“मैं जहाँ खड़ा होता हूँ

दुर्गन्ध से भर जाता है परिवेश

छी: छी: से फूल जाती है नाक

थू थू से गर्दन
ना नहीं से आँखें।”

वास्तव में अस्मिता की खोज करती हैं वासुदेव की कविताएँ। इस अस्मिता की खोज में कवि की कविताएँ लड़ती हैं, जूझती हैं, संघर्ष करती हैं, हार जाती हैं, पर पराजय बोध का शिकार नहीं होतीं। नए सिरे से संघर्ष करने के लिए कवि-सत्ता को प्रेरित करती हैं। आशावादी स्वर से भरपूर कवि नव-निर्माण के लिए संकल्प लेता है और बनाना चाहता है एक घर जो सबसे अलग हो, निराला हो—

“लेकिन मैं बनाना चाहता हूँ
एक नया घर/टाँगना चाहता हूँ
अति परिचित तस्वीर का तैलचित्र
जैसे ‘पोड़ा माझी’ का टीन का बक्सा
देशी शराब की देकची सिर पर
ईंट बनाने के लिए
बस में चढ़ने का दृश्य
लगाऊँगा मेरी खाट के सामने
उसकी नाम पट्टिका के साथ।”

सामन्तवादी समाज-व्यवस्था हो या पूँजीवादी शासन-व्यवस्था सर्वदा मेहनतकश मजदूरों के श्रम का शोषण हुआ है। जीवन के आधारभूत तत्व भी उन्हें मयस्सर नहीं होते जबकि वे कोल्हू के बैल की तरह दिन-रात मेहनत करते रहते हैं। वासुदेव एक दलित मजदूर की व्यथा-कथा को ‘हजु ताण्डी की श्रमकथा’ शीर्षक कविता में प्रस्तुत करते हैं। काम की खोज में निकले हजु ताण्डी के परिवार की आत्मकथा है—

“मेरा नाम है हजु ताण्डी
फटी-चिथड़ी कन्था
पिचकी देकची शराब की
मेरी लंगड़ घरवाली
और तीन बच्चों के साथ
दर-दर भटक रहे हैं
काम की खोज में
मजदूर हूँ मैं
मेहनत स्वीकारो
मेरे मेहरबान।” (महुल वन-पृ. 56)

भारत में दहेज की समस्या न केवल सवर्णों के लिए विकराल रूप धारण कर चुकी है, बल्कि यह दलितों में भी फैल चुकी है। पढ़-लिख लेने के बाद दलित भी वैसे ही करते

हैं, जो स्वर्ण करते हैं। एक शिक्षित दलित निर्धन पिता दहेज में गाड़ी देने के लिए असमर्थ है तो वह अपनी पुत्री के हाथ पीले नहीं कर पाता। दलित इस दहेज रूपी राक्षस से अछूते थे। परन्तु शिक्षा-दीक्षा के साथ-साथ धन का लोभ इन्हें भी कवलित कर रहा है। भरत माझी कहते हैं—

“लड़का ओवरसियर था
नौकरी थी माछकुंड में
क्या कहना
पड़ोसियों में मन्त्र फूँक दिया
रवि निआल गाड़ी कहाँ से देगा।
वे उल्टे पाँव लौट गए
कोई खबर नहीं
महीनों से।”
(रवि निआल, बी.ए.बी.एड- मूर्तिकार-22)

दलित साहित्य की आवश्यकता है। इसे अस्वीकारा नहीं जा सकता है। भारतीय साहित्य के विकास में इसका योगदान अविस्मरणीय है। परन्तु कुछ दलित साहित्यकारों की मान्यता है कि दलितों के द्वारा दलितों के जीवन पर लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य है। किसी गैर-दलित द्वारा लिखे गए दलित सम्बन्धी साहित्य को दलित साहित्य मानने को तैयार नहीं हो सकता। वे भोगे हुए नहीं होते ओढ़े हुए होते हैं। गैर दलितों द्वारा लिखे गए साहित्य, दलितों द्वारा लिखे गए साहित्य-ऐसे कितने विभाजनों से साहित्य को बाँटा जाएगा, पता नहीं। साहित्य को ऐसे खंडों में बाँटकर देखने से उसका मूल उद्देश्य ही समाप्त हो जाएगा। साहित्य तो जोड़ता है, तोड़ता नहीं। मिलाता है, अलगाता नहीं। खैर, ओड़िआ दलित साहित्य के सन्दर्भ में केदार मिश्र, सीताकान्त महापात्र, दुर्गाप्रसाद पंडा, पिताम्बर तराई, मनोज मेहेर, आशुतोष परिड़ा के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से अधिकांश ओड़िआ के वरिष्ठ कवि हैं। इनके काव्य-जगत में दलित-संवेदना से भरपूर अनेक कविताएँ उपलब्ध हैं।

केदार मिश्र की कविता ‘सम्पादक को पत्र’ में आदिवासियों पर हो रहे अत्याचार का चित्रण है। उन्हें मिट्टी में गाड़कर कल-कारखाने बनाए जाने का उल्लेख है। साथ ही, सम्पादक के कर्तव्य-च्युत होने पर व्यंग्य है। अन्त में एक दलित का सवाल है—

शिकायत नहीं है आपसे
सिर्फ एक सवाल है
क्या आप जवाब देना चाहेंगे?
एक बार जाँच कर देखिएगा
आपकी कलम में स्याही है
अथवा हमारा खून? (निसान्, पृ. 58)

देश तथा विदेश में ख्यातिप्राप्त ओड़िआ कवि सीताकान्त महापात्र ने अनेक काव्य-संकलन लिखे हैं। ढेर सारे पुरस्कारों से भी पुरस्कृत हुए हैं। लगभग चार दशकों से भी अधिक समय से वे साहित्य सृजन में निमग्न हैं। ओड़िआ दलित चेतना के सन्दर्भ में उनकी दो कविताओं का जिक्र करना आवश्यक प्रतीत होता है। पहली कविता है 'भिखारी बच्चे की मृत्यु' और दूसरी 'भिखारी बच्चे का पोस्टमार्टम'। पहली कविता में कवि ने अपनी भिखारी बच्चे के प्रति जो संवेदना प्रकट की है वह अन्यत्र दुर्लभ है—

“सुबह वह रहा नहीं
छोटी चिड़िया की तरह उसका शरीर टंडा पड़ गया
पब्लिक पार्क की मुलायम घास के ऊपर
उसे ऐसा कोमल स्पर्श न मिला था
ता-उम्र कभी भी किसी से।

भारत में अनाहार मृत्यु कोई नई बात नहीं है। मृत्यु का कारण जानने के लिए सरकार पोस्टमार्टम का आदेश देती है। शासक दल दावा करता है कि मृत्यु स्वाभाविक रूप से हुई है, भोजन के अभाव से नहीं। विपक्ष का दावा कुछ और ही रहता है। भिखारी बच्चे के पोस्टमार्टम के दौरान कवि सीताकान्त का आग्रह है—

“क्या मिलेगा तुम्हें काटकर पेट उसका
जो औरों में होता है वही तो मिलेगा इसमें
छुरा की धार पर चमकेंगे
मुलायम चाँद-सी कुछ आशाएँ, कुछ सपने
करोड़ों सूर्यों की तरह अनेक हाहाकार!”

कवि दुर्गाप्रसाद पण्डा ने दलित जीवन की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। दलित को हाट-बाजार, श्मशान, मैदान, सर्वत्र सवर्णों का अत्याचार सहना पड़ता है। दलित अपने जीवन के बारे में कहता है :

अब जीवन का केवल इतना अर्थ है
कि इन्तजार है इसे भयंकर दंश का।
(निआँ भितरे हात, पृ. 10)

अनादि अनन्त काल से मन्दिर, मस्जिद, गिर्जाघर में, तीर्थ-स्थानों में, मक्का-मदीना में ईश्वर की खोज जारी है। दुर्गाप्रसाद को लगता है कि ईश्वर लापता हो गया है, जाने कब से। उसके रंग-रूप, आकार-प्रकार के बारे में कौन बताये? दुर्गाप्रसाद के ईश्वर का स्वरूप देखें :

“अपनी तमाम अपारगताओं के बीच
लिए हाथ में रीता टीन का डिब्बा

कहीं भीख माँग रहा होगा ईश्वर
क्या पता पिछली रात के सांप्रदायिक दंगे में
अब तक सनाख्त न हो सकी लाश
स्वयं ईश्वर की न हो।”
(निआँ भितरे हात, पृ. 26)

ओड़िशा में दलित अत्यन्त सहज, सरल जीवन-यापन करते हैं। उनके भोलेपन को ऊँची जाति तथा उच्च वर्ग के लोगों ने भुनाया है। कभी उनकी अशिक्षा का लाभ उठाया है तो कभी उनकी निर्धनता का। उनके कागजातों में, सरकारी फाइलों में, विज्ञापनों में प्रदर्शित किया जाता है कि दलितों की स्थिति में सुधार हुआ है। वे सुख-शान्ति से जीवन व्यतीत कर रहे हैं। कवि आशुतोष परिड़ा ने इस आशय की एक कविता लिखी है हम मजे में हैं (आमे भल अछु)। इस ‘मजे’ (भल) में कितना शाणित व्यंग्य है!

“नफरत तो क्या
हमने ईर्ष्या करना भी नहीं सीखा
आज तक तुमसे
आलिंगन तो दूर रहा
हम तुम्हें छू तक नहीं सके आज तक
हमने तुम्हें दिया है अन्न व आयु
दिया है अँगूठा का विश्वास
दिया है माँसपेशियों का पसीना
आपना इहकाल और परकाल।”

बदले में दलित जीवन को विषमय बनाया गया है। अफीम के रस से डुबोया गया है। उपवास और उपहास भेंट में मिले हैं। परन्तु पराजित होकर भी जिजीविषा को बनाए रखना, फिर से संघर्ष के लिए शक्ति-संचय करना, नई ज़मीन तैयार करना ही ओड़िआ दलित कवियों का संकल्प है—

समाप्त नहीं हुआ है युद्ध
अकेले पराजय से
तैयार है ज़मीन
कहीं न कहीं फिर से लड़ने के लिए।

हाल ही में आशुतोष परिड़ा ‘चांडाल’ काव्य की भूमिका में लिखा है—“पृथ्वी के सर्वत्र, हर कोने में अनगिनत लोग हैं जो घृणा, हिंसा, लांछन और शोषण से जर्जरित हैं। क्या कविता उनके ज्वलंत सत्य को प्रकट कर पाती है? उनकी अन्तरात्मा को उघाड़कर रख सकती है? उनके लिए कुछ सपने और सम्भावनाएँ उन्मुक्त कर पाती है?”

ओड़िआ दलित रचनाकारों में एक महत्वपूर्ण नाम है, पीताम्बर तराई। ‘शूद्रक का

श्लोक', 'सइरात शतक' और 'इतर' काव्य संकलन ओड़ीसा में ही नहीं अन्य प्रांतों में भी चर्चित हुए हैं। केवट जाति के मछली पकड़ कर पेट पालना और कविता लिखना दो विपरीतधर्मी काम हो सकते हैं। पीताम्बर की मान्यता है कि कवि की केवल एक ही जाति होती है। ब्राह्मण, शूद्र, दलित जो भी कविता लिखे वह कवि होता है। उसका परिचय जाति से नहीं उसकी कविता से प्राप्त होता है। इसलिए जाति, वर्ण के भेद-भाव को त्यागना ज़रूरी है। (अम्बेदकर के चिन्तन और जीवन-दर्शन से प्रभावित होकर ओड़िआ दलित रचनाकारों ने ब्राह्मणवादी वर्ण-व्यवस्था की जड़ें खोदने का प्रयास किया है। साथ ही उन्होंने दलित-पिछड़े वर्ग को नई चेतना और ऊर्जा से ओत-प्रोत करने का साधु प्रयत्न किया है)।

कविताएँ

चार कविताएँ

रंजीता नायक

सपना

आजकल
बार-बार एक सपना देखती हूँ
अकेले घर का सपना
अकेले तारे का सपना
सुषुप्त शिशु के नींद से चौंक कर
जगने की भाँति
मैं खोजती हूँ घर
मैं खोजती हूँ तारा

पीली फेंस के बीच
हरे रंग का घर
सामने बगीचा है बसन्त का
दिन-रात खुले फाटक में
चींटियों की कतार-सी लगी है
खामोशी का जुलूस
पराजय की ग्लानि से भरकर
कदम रखते ही रोक लेता है पल भर।
बेहद प्यार भरा एक स्वर
कैसी हो
कैसा बीता सफ़र
कोई तकलीफ़?

लगता है जैसे
जन्मों से जाना-पहचाना है यह स्वर
जैसे जन्मों से जाना-पहचाना है यह घर
आसमान में दमकता है

एक अकेला नीला तारा
गाँठें सारी खुलती हैं
धीरे-धीरे
पंख खुलता है।

मैं खोजती हूँ घर
पगला बादल जैसे ढूँढ़ता है पर्वत
मैं खोजती हूँ नीला तारा
ढूँढ़ता है जैसे अँधेरा प्रकाश को
खोजती हूँ
और खोजती रहती हूँ

विश्वास

झड़ी—बरसात
बाढ़
सूखा
कहाँ नहीं होते?
हर जगह ही तो होते हैं
केंद्रापाडा में
कालाहॉडी में
आकाश में
समुद्र में
देह-मन-आत्मा में।
चेतना के प्रत्येक स्तर में
अनार के दाने की तरह
लगे रहते हैं सर्वदा
सर्वत्र।
जिस लाठी के सहारे
पार कर आयी इतना रास्ता
नदी-नाले, गड्डे-द्वीप
मरुभूमि, पहाड़-पर्वत
अब नहीं सुनती मेरी एक भी
काँपते हाथ-पैर
समय के पाँव में बँधे
पीस डालते हैं रक्त, माँस एवं हड्डियों को।

चाँदनी रात में
भरी नदी में
हरिबोल, हुलरी, भजन-कीर्तन
पानी में तिरते रहते
हँसी-खुशी के फेन, बुलबुले
भँवर घुमा देता है कभी-कभी
देशी नाव की पतवार
फिर भी टूटता नहीं
अधमरा विश्वास
सहारा के थोक रेतीले तूफान में भी
पीठ पर सवारी लादे
हिलते-झूमते बढ़ता जाता है
अधमरा-सा ऊँट।

दिनचर्या

एक दरख्त खोजा बैठने के लिए
कौचे की तरह मैंने।
फूलों और फलों से भरपूर एक डाल,
एक छत की तलाश की
छत के नीचे गुनगुना कोलाहल
छोटे-छोटे सपनों से भरी कश्ती की
पतली नदी धारा की।

उड़ती-फिरती रही वन-जंगल में
पहाड़-पर्वत में, जनपद में
घर से घर तक
डाल से डाल तक
मन से मन तक
धूप-बरसात जाड़े-पाले में
दिन-रात
ढूँढ़ती रही
अभिलषित स्थान।
मिला न कोई सघन पेड़
चारों ओर पेड़ की छाया
न ही घर

सर्वत्र घर की परछाई।
न मिली नदी
चहुँ ओर नदी की राख
छाया, राख भरी धरती में
न छत है, न डाल
न है सुबह का शुभ अँधेरा
सिर्फ मृग मरीचिका
पराभव सर्वत्र
सपनों का जुलूस।

स्वीकारोक्ति

कबूल करती हूँ
कि मैं हत्यारिन हूँ
खून किया है मैंने
दूज चाँद का, बालारुण का
ईसा मसीह का
महात्मा गाँधी का
चिड़िया का
और जाने कितने ही कलाकारों का।

खींचकर फेंक दिया है मैंने
जतन से फलते-फूलते प्रेम को
थूक से मिटा दिया है मैंने
सहज निष्पाप मासूमियत को
कर दिया है पंजों से क्षत-विक्षत
लबालब भरे कोमल भाव को।

तमाम प्यारी चीजों को छिन्न-भिन्न करके
राजमार्ग के किनारे फेंक दिया है मैंने
मानवता की गर्दन को चिता की तरह
छेद करके पिया है खून मैंने
तलाश है अब नए शिकार की।
कभी दिन की साफ रोशनी में
बीच रास्ते में तो कभी
लुके-छिपे घनी अँधेरी गुफा में

जनमी है अद्भुत घटनाएँ
मिट चुकी है कब की
लक्ष्मण की तीनों रेखाएँ
मैं हत्यारिन
रक्त के छीटे हैं
पूरे शरीर में
फिर भी इस्त्रीवाली पोशाक पहने
घूम रही हूँ सर्वत्र
सर्वदा
रास्ता—घाट, हाट-बाज़ार
सभा—समितियों में निर्बाध
हवा की भाँति
हिलाती-डुलाती फूल-पत्ते
पेड़—लताएँ।

छः कविताएँ

✍ कुमार हसन

काशीपुर

जहाँ लोग भूखे मरें
वह कालाहाँडी ही होगा
जहाँ लड़ना जानते हैं लोग
वही काशीपुर।

अपने अधिकारों को तकिया बना
सोने वाले नहीं होते किसी भी देश के नागरिक
काफी नहीं होता एक सपना
जीने के लिए।
जीने के लिए कुछ आग
कुछ पानी भी चाहिए।

दासूराम मलेका

आन्ध्र हो या उड़ीसा
बंगाल हो कि गुजरात
कहीं कुछ फ़र्क़ नहीं पड़ता।

नहीं, यहाँ गीत गाना मना है
खेतिहर मज़दूरों के गीत गाने के जुर्म में
जेल होगा तुम्हारा यातना-शिविर।

जर, जमीन, जंगल पर
आदिवासियों के अधिकार के लिए
लड़ना भी यहाँ पाप है।
पानी, आजीविका, जीवन पर सवाल करना
यहाँ जघन्य फ़ौजदारी है।

यहाँ तक कि स्कूली बच्चों पर भी
बरस सकती है पुलिस निर्यातना की बूट।
फेंके जा सकते हो उठाकर
आलू के बोरे की तरह
अँधेरे गोदाम में।
अत्याचारों पर गीत गा
आदिवासियों को जगाने वाले
आखिर होते हो तुम कौन?
क्या तुम्हें मालूम नहीं
सचेतनता का अकेला ठेकेदार
होती है सिर्फ सरकार
लड़ना चाहो यदि पंचायती चुनाव
तो होगी तुम्हारी गिरफ्तारी
हाँ, बिना जुर्म के ही
फाँसी के फदे पर चढ़ जाने की
अगर इतना है तुम्हें शौक
और झूठे एन्काउंटर में मरना अगर इतना है ध्येय
तो बेशक तुम गा सकते हो कोई गीत।

एक और कालाहाँडी

राजनीति के दाव-पेंच से कोसों दूर
बसता है एक
दूसरा कालाहाँडी
ग़रीबी से ज्यादा है यहाँ
ग़रीबी की राजनीति
ग़रीबी का झंडा फहराकर
राजनीति की परती धरती में
पार्षदों के घोड़ों की पीठ पर
लहराती है ग़रीबी की ध्वजा।

खुर की धूल में
चुर्ण हो जाती है अनाहर मृत्यु
शिशु की खरीद-फ़रोख़्त
बँधुआ का दर्शननामा
वादों के झंझावातों में

अदृश्य हो जाते हैं
भूख के काले-कजरारे बादल।
चमत्कार दृश्य है यह सर्कस का
तरह-तरह की वेश-भूषाओं में
झिलमिलाते कपड़ों में
दिखाई पड़ते हैं
मुफ्त में
कई नामधारी जोकर।
सच कितने गरीब हुआ करते हैं
गरीबी को ले
जालसाजी करनेवाले नेता।

अमृता के लिए तीन प्रेम-पत्र

चुप्पी साधने के लिए क्या कभी वक्त लगता है
रसीदी टिकट पर छोटी-सी दस्तखत की तरह होता है जीवन
कागज़ के कैनवास पर कई आड़ी-तिरछी रेखाएँ।
सारी दुनिया के लिए तुम एक प्रेम-पत्र थीं
जिसे तुम धड़कनों के अक्षरों में
साँसों की मात्रा में
दिन-प्रतिदिन के वाक्यों में
ज़िन्दगी भर लिखती आईं तुम।
आज तुमने अपने वादे रखे
आज तुमने अपने घर का नम्बर मिटा दिया
आज तुमने गली के सामने से
गली की नेमप्लेट भी उतार दी
तमाम सड़कों से मिटा दी दिशाएँ
पर मुझे आज तुमसे मिलना
ज़रूरी है
इसलिए हर देश के हर शहर में
हर गली के हर दरवाज़े में
दस्तक दे रहा हूँ
तुम्हारे लिए।

तुमसे कभी न मिला था
न लिखी थी चिट्ठी न पत्री

कहीं कभी तुम मिली भी न थी
तो क्या हुआ?
तुम मेरे गाँव की सीमा पर फूल गाछ की तरह
मेरी तरुणाई का पहला प्रेम थी
उन्मुक्त हरी शाखाएँ फैलाए मुक्त गगन की ओर
न तुम राधा बन सकी
और न रुक्मिणी।
पता है मृत्यु की कोई मृत्यु नहीं होती
अमृता
बिना तुम्हारे
सभी विष है
बड़े कसैले।

टी.वी. में सिनेमा

डी.डी.-6 में नाच-गीत
नेशनल में भारत-श्रीलंका वन डे सीरीज़
सी.एन. में कार्टून
नेताओं के भाषण जारी हैं
आकाशवाणी में दीपावली।
कहीं कोई व्यतिक्रम नहीं
राष्ट्रीय ध्वज भी अर्धनमित न हुआ
राष्ट्रीय शोक की घोषणा न हुई
तुम्हारे पद्मश्री, पद्मभूषण के लिए
महाश्वेता देवी को
राजीव गाँधी सद्भावना पुरस्कार
यथारिति प्रदान किया गया।
32 पार 33 की हो गई ऐश्वर्या
अखबारों में छपा था
कुछ अमीरों की तरह
गरीब बन गई थी
एनडीटीवी की स्क्रीन पर
एक पंक्ति वाली रनिंग न्यूज़ थी
तुम्हारे लिए शोक का भी क्या मतलब है
अमृता
तुम तो हो अशोक।

लौटा दो मुझे अपने झरने

अपने झरने हमें लौटा दो बाबू
मेरे झरने मुझे लौटा दो
अपने पवन हमें लौटा दो।
अपनी ज़मीन, जंगल, आजीविका
जीवन हमें लौटा दो
हाय, अँधेरा अपने गाँव का
कितना भींगा-भींगा लगता है।
पहुँची है जब से यह मरी बिजली बत्ती
न जाने कहाँ गायब हो गई शान्ति
इच्छा होती है बाँध डालने की इन्हें
तीर से।
क्या तुम्हें मालूम है
क्या होता है
गाँव का घनघोर घुप्प अँधेरा?
देखा है क्या तुमने
अँधेरे आकाश का टिमटिमाता तारा?
सुना है क्या कभी तुमने
निस्संगता का गीत
देखी है क्या तुमने
परछाई की जालसाजी?
हम तो अपने मजे में थे बाबू
शाक, पेज, मंडिया, कदो
फलफूल के जीवन के साथ
हम तो अपने मजे में थे
अपनी भूख में, अपनी प्यास में,
अपने दुःख में, अपने शोक में
मिट्टी में सने मिट्टी के कीड़े की तरह।
हमने कभी कुछ न माँगा था आपसे
सिखाया क्यों हमें पाठ लोभ का?
हम तो अपने मजे में थे
जंगल के पास पल्ली गाँव में
डुबोया क्यों बाँध में
दफ़नाया खान में
मार भगाया दूसरी जगह

घर लिया, ज़मीन ली, वन लिया,
पहाड़ अपने हिस्से कर लिया
खेत लूटा, खलिहान पर कब्जा किया,
नाला-झोरा, झरना अपनी मुट्ठी में किया
गाँव लिया, गीत लिया, नृत्य लिया
फूल लिया, बाँसुरी का सुर लिया
प्राण लिया, सर्वस्व ले लिया
बदले में दिए कुछ कागज़ी नोट
इन मुओं का भला क्या काम?
कुछ भी न हो
पर अपनी जन्मभूँ की मिट्टी पर
भीगा अँगोछा डाले सोने का आनन्द
तुम क्या जानो?

हमारी श्री लादे चल पड़े वे मोटर गाड़ियों में
रुपये दिखाकर उतार दी आबरू
अपनी बहू-बेटियों की
हाथ में पहनाई घड़ी, पकड़ाया रेडियो
थमाए रुपये, पहनाये गहने, लगाये रीबन
लगाए स्नो-पावडर
और जाने क्या-क्या गुल खिलाए
आज हमारी मिट्टी, हल्दी, तेल
इतिहास की वस्तु बन गए हैं
अपने बच्चे भी पढ़ रहे हैं पाठ
गाँव छोड़ने का पाठ
माताओं से दूर।
क्यों पढ़ाई पाटी तुमने
लकड़ी चुराने की
कागज़ी नोटों के बदले
हमने कभी न जाना था
पेड़ काटकर जीना
मिट्टी है हमारी माता
जंगल है पिता
हाथ बँध जाते थे आगे बढ़ने
उन्हें काट गिराने
कागज़ी नोटों के लोभ से

अनर्थ हो गया सब कुछ ।
पेड़ तो दूर
कच्चे फल तक तोड़ना
पाप था हमारे लिए
माँ की गोद से नन्हें मुन्ने को छीनना
वृक्ष देवता की डार से
कच्चे फल तोड़ना ।

हमें पाठ नहीं चाहिए
काठ बेचकर नोट नहीं चाहिए
रेडियो, रीबन, फीता, साड़ी, गहने
स्नो-पावडर कुछ नहीं चाहिए
हमें बिजली की चकाचौंध भी नहीं चाहिए ।
अपना अँधेरा, अपने पहाड़, अपने डंगर
अपनी भाषा, अपना गाँव, अपना जंगल
हमारे झरने लौटा दो
हमारे झरने हमें लौटा दो
हमारे नाम हमें लौटा दो
हमारे गाँव हमें लौटा दो बाबू
हमारी माँ हमें लौटा दो ।

फिर वही सपने : फिर वे सपनों के सौदागर

फिर वही सपने
फिर वे सपनों के सौदागर...
भयानक प्रदूषण
प्राकृतिक असन्तुलन से
आमुवा के बौर फूले न फूले
वन में पलास खिले न खिले
फिर भी इस चुनावी राजनीति में
ऋतुराज का रंग खूब खिला है ।
कुंज-कुटीर छोड़
जनता की ओर मुँह बाए
जनता से सदा कोसों दूर रहने वाले
जन-नेता भरने लगा है
अचानक वर्णहीन समाज के

धूल भरे रास्ते पर
घी-मधु जन-सेवा की वाणी
रहे अभाव, अनाटन
रहे अर्धाहार, अनाहार
रहे बेरोजगारी, अनाहार मृत्यु
शिशु खरीद-बिक्री
बँधुआ का दुःख
देश की श्रमशक्ति को पंगु करनेवाले
विदेशी खेल का उन्माद ।

उस खेल में लोग भी खिलाड़ी हैं
राजनीति के मंच पर तारिकाओं का अभिनय
चुनावी यज्ञ में कला, साहित्य, संस्कृति
संगीत आहुति
फिर एक बार सफल कारोबार की करामात ।

जनता जनार्दन है जगन्नाथ सम
आँख-कान मूँदे
मशीन नियन्त्रित खेल में हो शामिल
पुराने वादों
पुराने झूठों के
काले आसमान में ।

आतिशे चिनार : आत्मकथा या आस्था का दस्तावेज़

✍ मुहम्मद शीस ख़ान

“काव्य और चित्रकारी कलाओं सदृश जीवन पूर्णतया अभिव्यक्ति है, कर्मविहीन चिन्तन मृत्यु”। यदि डॉ. इकबाल का यह कथन सत्य है तो किसी न किसी मंजिल पर कर्मवीर के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह अपने कर्म-प्रधान जीवन पर एक चिन्तन भरी दृष्टि डाले। अनुचिन्तन की इसी प्रक्रिया का नाम है—आत्मकथा। शेख़ अब्दुल्लाह की उर्दू आत्मकथा ‘आतिशे-चिनार’ वस्तुतः अनुचिन्तन की दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयोग है। प्रयोग इसलिए कि यह आत्मकथा के परम्परागत पैटर्न का अनुसरण नहीं करती। इसकी तरतीब कुछ इस प्रकार है कि हर अध्याय अपने आप में एक स्वतन्त्र लेख की हैसियत रखता है और ‘कुल’ के सम्बन्ध में एक इकाई की भी। इकहत्तर अध्यायों की यह भीमकाय कृति नौ सौ इकसठ पृष्ठों पर फैली है। वृत्तान्त की अनौपचारिकता, विचारों की ताज़गी, घटनाओं की अर्थवत्ता, निष्कर्षों की निष्पक्षता सर्वत्र समान रूप से दिलचस्पी बनाए रखते हैं। नुक़ते की बातों को फारसी, उर्दू और कश्मीरी शेरों के माध्यम से कहने की प्रवृत्ति है तो ऐतिहासिक पैराए में उन्हें टटोलने का रुझान भी। समाज के विराट कैनवस पर व्यक्ति के निज के दुःख-सुख, आशा-निराशा के क्षण, उद्यम एवं उत्साह के नमूने चित्र के कुछ रंग और चन्द रेखाएँ मात्र हैं। चित्र की अर्थवत्ता रंगों एवं रेखाओं के सामंजस्य में है तो जीवन की सार्थकता विषम एवं प्रतिकूल परिस्थितियों को नियंत्रित करके उन्हें आत्मानुभूति एवं आत्म-विकास की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने के प्रयास में। ‘आतिशे-चिनार’ इसी प्रयास की अभिव्यंजना की गाथा है। यही इसकी पठनीयता तथा औचित्य की दलील भी।

‘आतिशे-चिनार’ उर्दू की एक शाहकार ही नहीं, कश्मीर के भूत एवं वर्तमान के सन्दर्भ में उसी प्रकार की एक राजनीतिक दस्तावेज़ भी है जिस प्रकार हिन्द-पाक उपमहाद्वीप के प्रकरण में मौलाना अबुल कलाम आज़ाद की ‘इण्डिया विन्ज़ फ्रीडम’। दोनों मरणोपरान्त प्रकाशित हुईं। दोनों लिखी नहीं लिखाई (डिक्टेड की) गयी हैं। अन्तर केवल इतना है कि ‘इण्डिया विन्ज़ फ्रीडम’ उर्दू डिक्टेसन की अंग्रेजी प्रस्तुति है जबकि ‘आतिशे-चिनार’ मूल उर्दू में ही लिखाई गयी। दोनों में व्यक्तियों और समुदायों के अन्ध-बिन्दुओं (ब्लाइंड स्पॉट्स) के प्रति संकेत हैं। यह अवश्य है कि मौलाना ने संक्षिप्तता से काम लिया है, जबकि शेरे-कश्मीर ने बड़े इल्मीनान से मुलम्मा उतारा है।

कश्मीर आन्दोलन की प्रेरणा के मूल में डॉ. इकबाल का व्यक्तित्व एवं काव्य रहा

है। उनका दिल सदैव कश्मीरी अवाम के दुःख-दर्द से तड़पता था। अपनी अनेक फारसी और उर्दू की कविताओं में कश्मीर की दुर्दशा और वहाँ के अवाम के शोषण के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की है। इसके अतिरिक्त आल इण्डिया कश्मीर कमिटी के अध्यक्ष के रूप में तथा मुस्लिम लीग के अपने अध्यक्षीय भाषणों में भी कश्मीर की समस्याओं के प्रति सार्वजनिक ध्यान आकर्षित किया। फ्रांस की क्रान्ति की पृष्ठभूमि में रूसो जैसे विचारक की चिन्तन-शक्ति थी तो कश्मीर जागृति के सम्बन्ध में इकबाल की नज़्में एवं गज़लें। हाल ही में ईरान के राष्ट्रपति ख़मेनी और ईरानी विचारक डॉ. अली शरीअती ने दावा किया है कि ईरान की वर्तमान क्रान्ति डॉ. इकबाल के विचारों का परिणाम है क्योंकि कवि ने सबसे पहले ईरानियों को ही सम्बोधित किया था। अतः यह बिल्कुल उचित ही था कि शेख अब्दुल्लाह ने उन्हें कश्मीर जागरण के अभिभावक (मुरब्बी) के रूप में याद किया है और अपनी आत्मकथा का नाम उनके निम्न शेर से लिया है:

**जिस खाक़ के ज़मीर में हो आतिशे-चिनार ।
मुमकिन नहीं कि सर्द हो वो खाक़े-अर्जमन्द॥**

“आग जिन्दगी, जोश और हारत की प्रतीक है और चिनार कश्मीर की शिनाख़्त है। इस शेर में कश्मीर के मंगलमय भविष्य के प्रति शुभ-सन्देश दहक रहा है और मुझे पूर्ण विश्वास है कि अर्जमन्दी (आदरणीयता) मेरे खूबसूरत वतन का मुकद्दर है। इस तरह आतिशे-चिनार का वाक्य-विन्यास मेरा प्रवक्ता बन गया है।”

कश्मीरी जीवन को सबसे बड़ा आघात अकबर ने लगाया जब उसने एक फरमान के जरिए कश्मीरियों को हथियार बाँधने से मना कर दिया। इस फरमान का उद्देश्य यही था कि कश्मीरी अपनी खोई हुई आज़ादी को प्राप्त करने की चेष्टा न करें। कश्मीरियों की निरूपायता की दिशा में यह पहला कदम था। इस दृष्टि से अकबर उन्नीसवीं सदी के उन अंग्रेज नीतिज्ञों का पूर्वगामी था जिन्होंने हिन्दुस्तानियों को लड़ाकू (मार्शल) और गैर-लड़ाकू (नॉन-मार्शल) जातियों में विभाजित किया। कश्मीर के परवर्ती शासकों—पठानों, सिखों और डोगरों—सभी ने अकबर को बरकरार रखा। कश्मीरियों की निरूपायता की यह प्रक्रिया विभिन्न अवस्थाओं से गुज़रती हुई डोगरा शासनकाल में अमानवीयता (डीह्यूमनाइज़ेशन) की सीमा छूने लगी। डोगरों ने कश्मीर को अपने बाहुबल से नहीं बल्कि अमृतसर सन्धि के विक्रय-पत्र द्वारा खरीदा था, अतः वे शीघ्रातिशीघ्र निवेशित पूँजी को ब्याज सहित उगाहना चाहते थे। कश्मीरी अवाम को व्यवस्थित रूप से शोषण करने के लिए उन्होंने ‘दाग शाल’ नामक एक नया विभाग खोला। इस विभाग के कारिन्दे हर नयी बुनी हुई शाल पर मुहर से दाग़ देते थे ताकि टैक्स से किसी प्रकार बचाव न हो। शाल बुनकरों को शाल बुनने के अतिरिक्त किसी और धन्धे की अनुमति नहीं थी। ‘दाग शाल’ के विभाग के अधिकारियों से लेकर अन्य विभागों के अधिकांश कर्मचारी कश्मीरी पंडित होते थे। अल्पसंख्यक कश्मीरी पंडित बहुसंख्यक कश्मीरी मुसलमानों के विरुद्ध अन्याय और शोषण के हथियार के रूप में काम आते थे। वृहत्तर भारत परिकल्पना का प्रतिपादन करने वाले इतिहासकारों ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के गुमाशतों द्वारा बंगाल के दस्तकारों पर ढाए जाने वाले अत्याचारों की

तो खूनी दास्तान लिखी है, मध्यकाल में तोड़े गए मन्दिरों की भी इन्वेण्ट्री (सूची) बड़ी मेहनत से बनाई है, किन्तु वर्तमान सदी की चौथी दहाई के अन्त तक कश्मीरियों पर होने वाले अत्याचारों से उन्हें कोई सरोकार नहीं। सर यदुनाथ सरकार ने औरंगज़ेब पर लगभग दस जिल्लों में महत्वपूर्ण सामग्री एकत्र कर दी है। उनकी एक स्थापना तो जजिया के बारे में है और दूसरी स्थापना मुगलों के शासनकाल में सरकारी नौकरियों में हिन्दुओं की भागीदारी और उनके आनुपातिक प्रतिनिधित्व के सिलसिले में है। सर यदुनाथ की मान्यताओं के मनोविज्ञान को समझने के लिए यह जानना ज़रूरी है कि उक्त ऐतिहासिक रचनाओं के लिए राजपूताना के एक महाराजा ने जिनके पूर्वज मुगल शासन के महत्वपूर्ण स्तम्भ रहे हैं, उन्हें कमीशन दिया था। सर यदुनाथ के विचारों से मतभेद हो सकता है, किन्तु योगदान से नहीं। किन्तु यह भी सच है कि मध्य युग की घटनाओं की जाँच-पड़ताल में तो दूर की कौड़ी लाने के लिए बड़ी दूर-दराज़ वादियों में निकल जाते हैं लेकिन उनकी स्वयं की नाक के नीचे और उनके युग में क्या हो रहा है, यह उनके लिए कोई महत्व नहीं रखता। यदि बीसवीं सदी की चौथी दहाइयों तक जम्मू-कश्मीर और राजपूताना की कई रियासतों में मस्जिदों को अस्तबलों और वास्तुकला के नमूनों को छावनियों एवं गोदामों और बारूदखानों में परिवर्तित करने की गौरवशाली परम्परा जारी है तो मध्यकाल की घटनाओं पर अचम्भे की क्या बात है। जब हम यह जानते हैं कि उस युग में अच्छे-बुरे सभी कार्यों के लिए धर्म की ही दुहाई दी जाती थी सारी दुनिया में। यदि सर यदुनाथ या डॉ. रमेश चन्द्र मजूमदार सरसरी तौर पर भी डोगरा शासनकाल की तीस-चालीस साल की घटनाओं पर चक्षुपात करते तो उनके मन-पसन्द विषय पर बीसियों जिल्लों की सामग्री मिल जाती। इतना अवश्य है कि प्रतिशोध की अभिव्यक्ति के रूप में डोगरों की मौलिकता सर्वाधिक सराहनीय है। मुगलों ने कश्मीरियों को हथियार बाँधने से मना अवश्य किया किन्तु उन्होंने कश्मीरी दस्तकारियों को प्रोत्साहन के साथ ही साथ निशात बाग, शालीमार, चश्माशाही, पत्थर-मस्जिद जैसी सौन्दर्य-बोध की यादगारें भी भेंट की। इस सिलसिले में वह जो काम करना भूल गए वह यह था कि उन्होंने अपने परवर्ती शासकों, सिखों एवं डोगरों के सौन्दर्य-बोध वर्धन के लिए कोई स्कूल, कॉलेज खोलकर वसीयत में नहीं छोड़ा।

डोगरा शासकों ने अनेक क़ानूनी बारीकियों एवं विधानों द्वारा कश्मीरी मुसलमानों में उच्च शिक्षा पर कड़ी पाबन्दियाँ लगा दी थीं। चूँकि महाराजा का परिवार जम्मू का निवासी था और यहाँ की अधिकांश आबादी हिन्दुओं की थी जो महाराजा हरीसिंह के शासन को अपना शासन यानी हिन्दू राज समझते थे और महाराज उनको अपनी इकलौती प्रजा, इसीलिए विकास कार्यों एवं उच्च शिक्षा का केन्द्र जम्मू को बनाया गया। शिक्षा की तरह नौकरियों के द्वार भी कश्मीरी मुसलमानों के लिए बन्द थे। साठ प्रतिशत नियुक्तियाँ नामांकन द्वारा होती थीं, शेष चालीस प्रतिशत के लिए कुलीनता की अनिवार्य शर्त थी। यदि कोई मेधावी छात्र कभी-कभार कुलीनता की रुकावट पार कर भी जाता तो एक और हथियार उसके विरुद्ध था, वह यह कि बिना कोई कारण बताए उसकी नियुक्ति रद्द की जा सकती थी। उच्च शिक्षा के लिए कश्मीरी मुसलमानों को लाहौर और अलीगढ़ की राह नापनी पड़ती। शिक्षा समाप्त करने के बाद बेरोजगारी की स्थिति मुँह खोले रहती। गरज़ कि न तो शिक्षा

ही काम आती और न तो शाल-दुशाले बनाने की कला। बीसवीं सदी के आरम्भ में जब डॉ. इकबाल कश्मीर आए तो जो स्थिति थी वही 1930 तक बरकरार थी। जब शेख अब्दुल्लाह मुस्लिम विश्वविद्यालय अलीगढ़ से एम.एससी. की उपाधि लेकर लौटे, डॉ. इकबाल ने लिखा था—

**सर्मा की हवाओं में उर्या है बदन उसका।
देता है हुनर जिसका अमीरों को दुशाला।**

इसी उर्या (नग्न) बदन वाले तथा सर्मा (जाड़े) की हवाओं वाले कश्मीर की राजधानी श्रीनगर के निकट सूरह नामक बस्ती में शेख मुहम्मद अब्दुल्लाह का जन्म हुआ था। उनके पूर्वज मूलतः सप्रू गोत्र के कश्मीरी ब्राह्मण थे। अफगानों के शासनकाल में उनके एक पूर्वज रघूराम ने एक सूफी के हाथों इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। उनके दादा गुलाम रसूल उन्हीं के वंशज थे। इनका परिवार पश्मीने का व्यापार करता था और अपने छोटे से निजी कारखाने में शाल और दुशाले तैयार कराके बाज़ार में बेचता था। इनके पिता शेख मुहम्मद इब्राहीम ने आरम्भ में एक छोटे पैमाने पर काम शुरू किया किन्तु मेहनत और लगन के कारण शीघ्र मझोले दर्जे के कारखानेदार की हैसियत तक पहुँच गए। शेख साहब के परिवार की स्थिति एक औसत दर्जे के घराने की थी। किन्तु—

“घर से बाहर मेरा सारा माहौल मेहनतकशों और मजदूरों का था। मेरे पड़ोस में पश्चिम की तरफ शालबाफ रहते थे। उत्तर की तरफ शाखसाज़ों और मेहनत पेशा लोगों की झोपड़ियाँ थीं और पूर्व में तेली और रफूगर गुज़र-बसर करते थे। इन्हीं लोगों के बच्चे-बालकों के साथ मैंने अपना बचपन गुजारा। यह मुफ्लिसी, मोहताजी और मिस्कीनी का माहौल था। मेरे घर की कच्ची दीवारें मुझे दुःख-दर्द की उन लहरों से दूर नहीं रख सकती थीं जो चारों तरफ मौजें मार रही थीं।”

जब अपने गिर्द दुःख-दर्द के व्याप्त माहौल के एहसास ने शेख अब्दुल्लाह को अपने अस्तित्व एवं परिवार के कुँएँ से नज़र उठाने के लिए विवश किया तो उन्हें सर्वत्र ज़ालिम और मज़्लूम की एक बेरहम कश्मकश नज़र आयी। “अचानक मेरे दिल में एक हूँक-सी उठी कि मैं जात (अस्तित्व) का हिसार (परिखा) तोड़कर इस कश्मकश में कूद पड़ूँ। मज़्लूम की पासदारी करने और अगर इस जुल्म से नजात न दिला सकूँ तो उसी कश्मकश (संघर्ष) में जान दे दूँ।” (पृष्ठ 32)। इस जुल्म व उत्पीड़न की गुथी सुलझते देर न लगी। शीघ्र “मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मुस्लिम बहुसंख्यक समुदाय के साथ उनके इस बर्ताव की बुनियादी वजह धार्मिक भेदभाव और पक्षपात थी। यद्यपि यह एक अधूरी हकीकत थी लेकिन विगत इतिहास पर दृष्टिपात से इसे बल मिलता था।” (पृष्ठ 29)

शेख अब्दुल्लाह की उच्चाकांक्षा डॉक्टर बनने की थी। प्रतिभाशाली विद्यार्थी होने के बावजूद न तो रियासत के मेडिकल कॉलेज में दाखिला मिला और न जम्मू स्थित साइंस कॉलेज के दरवाज़े ही उन पर खुल सके। विवश होकर लाहौर की राह ली जहाँ इस्लामिया कॉलेज से बी.एससी. की उपाधि प्राप्त की। यहीं लाहौर में उन्हें सबसे पहले डॉ. इकबाल से भेंट का गौरव प्राप्त हुआ। लाहौर प्रवास ने नवयुवक अब्दुल्लाह की प्रबुद्ध चेतना को एक अभूतपूर्व आध्यात्मिक चेतना से परिचित कराया—

“मैंने कश्मीरी मुसलमानों को बड़े-बड़े काफ़िलों की सूरत में अपने सुन्दर देश से पंजाब के चटियल और पथरीले मैदानों की तरफ जाते देखा। ये लोग अपनी सरज़मीन से रोज़ी न पाकर उसकी तलाश में पंजाब का रुख करते थे। यह आश्चर्य की बात थी कि अपनी हरी-भरी जमीन उनके पेट की आग बुझाने के सिलसिले में किसी बाँझ की कोख की तरह शुष्क हो गई थी, जिससे उगने वाली घास भी जाफ़रान बन जाती है। यद्यपि उरफ़ी जैसे कवि ने इसकी प्रशंसा में कहा था कि यदि कोई झुलसा हुआ परिन्दा भी कश्मीर पहुँच जाए तो उसमें नई ज़िन्दगी पैदा होगी और उसके बालों-पर नए सिरों से उग आएँगे। इन मज़दूरों को बनिहाल और मरी जैसे बर्फ़ानी कोहिस्तान पैदल तय करने पड़ते थे, कई बार पहाड़ों की चोटियाँ लॉँघते हुए बर्फीले तूफ़ानों की नज़्र हो जाते; न कफ़न-दफ़न की नौबत आती और न जनाज़े और फातिहा की”। (पृष्ठ 37)

लाहौर से अलीगढ़ की ओर प्रस्थान किया। मुस्लिम विश्वविद्यालय में एम.एससी. में दाखिला लिया। यह जिलाफ़त और असहयोग आन्दोलनों के चढ़ाव के बाद उतार का जमाना था। देश के वातावरण में कुछ कर गुज़रने की दृढ़ इच्छा के बावजूद नाकामी और निराशा की गहरी टीस भी थी। 1930 में एम.एससी. करके शेख़ साहब अपनी कर्मभूमि, श्रीनगर लौट आए।

यद्यपि 1931 के आरम्भ होते-होते हिन्द उपमहाद्वीप में स्वतन्त्रता आन्दोलन अपनी प्रारम्भिक अवस्थाएँ पार करके अब एक निर्णयात्मक दौर से गुज़रने वाला था। संवैधानिक विकास की अन्तिम अवस्था जिसे गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट 1935 से अभिहित करते हैं, आने ही वाली थी जिसके तत्वाधान में पहली बार 1937 में सूबों में निर्वाचन हुए, तथापि देशी रियासतों के सम्बन्ध में न तो काँग्रेस और न मुस्लिम लीग ने कोई उल्लेखनीय कदम उठाया। दोनों का रवैया लगभग समान था। दोनों अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण कर रहे थे। खैर मुस्लिम लीग ने तो 1940 से पहले एक प्रगतिशील संगठन होने का कभी दावा नहीं किया। हाँ, यह दूसरी बात है कि पाकिस्तान प्रस्ताव पास करने के समय कम से कम घोषणा-पत्रों में काँग्रेस से कम प्रगतिशील नहीं दिखती थी। किन्तु काँग्रेस में तो बाएँ बाजू की पूरी एक जमात थी जवाहर लाल के नेतृत्व में। जवाहर लाल की इसी वामपंथी छवि और सेक्युलर अदा ने मुस्लिम नवयुवकों का भी दिल जीत लिया था, कम से कम प्रगतिशील लेखक मंच पर 1936 के बाद जमा होने वालों का तो अवश्य ही। यथापि रियासतों के रजवाड़ों के सिलसिले में जो बक़ौल रजनी पाम दत्त ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लड़खड़ाते हुए स्तम्भ थे, काँग्रेस के पास भी कोई निश्चित नीति नहीं थी। हिन्दू-हिन्दू रजवाड़ों के पक्षधर थे क्योंकि वह हिन्दू राज के प्रतीक माने जाते थे और मुसलमान नवाबों के क्योंकि वे मुस्लिम राज के चिह्न थे। अपने प्रभाव क्षेत्र के विस्तार के रूप में स्टेट्स पीपुल्स कॉन्फ़्रेंस को काँग्रेस ने ज़रूर खड़ा किया था जिसकी छतरी के नीचे रियासतों में राजनीतिक तौर पर सक्रिय अवाम इकट्ठे होते थे। जवाहर लाल इसके अध्यक्ष थे और बाद में शेख़ अब्दुल्लाह इसके उपाध्यक्ष बने। चूँकि राष्ट्रीय प्रेस हिन्दुओं के हाथ में था और काँग्रेस का प्रेस हिन्दू पूँजीपतियों के। लिहाजा दोनों ब्रिटिश हिन्दुस्तान और मुस्लिम रियासतों के सिलसिले में तो अवाम की आज़ादी की बात करते थे किन्तु हिन्दू रियासतों के सिलसिले में रजवाड़ों

के पक्षधर थे और अवाम के विरोधी। (यही कारण है कि रजनी पाम दत्त ने इण्डिया टुडे में काँग्रेस को घोर प्रतिक्रियावादी दल की संज्ञा दी है)। गाँधी जी की निश्चित धारणा थी कि रियासती लोगों को अपने शासकों के आगे झुकना चाहिए। चूँकि और रियासतों की तुलना में जम्मू एण्ड कश्मीर रियासत सबसे अधिक प्रतिक्रियावादी और अवाम विरोधी थी लिहाजा यहाँ राजनीतिक कार्यों एवं संगठनों के अवसर सबसे कम थे। यहाँ की सेंसर व्यवस्था भी बारहमासी थी। अतः अलीगढ़ से लौटने के बाद जब 1930 में शेख अब्दुल्लाह ने कश्मीरी चेतना को जगाने का संकल्प किया, उस समय न उनके पास कोई साधन थे और न कोई मंच और न कोई संगठित राजनीतिक दल। उन्होंने रीडिंग रूम (दारूल मुताला) से शुरुआत की। सम्पादकों के नाम पत्र (जम्मू और कश्मीर से बाहर के अखबारों में) लिखकर कश्मीर की दुर्दशा के प्रति ध्यानाकर्षित करना तो अलीगढ़ से ही शुरू कर दिया था। अब उन्होंने पंजाब के मुस्लिम समाचार पत्रों, इन्किलाब और जमीनदार तथा लंदन स्थित प्रगतिशील पत्र 'इण्डियन स्टेट्स' के सम्पादक रजनी पाम दत्त से भी सम्बन्ध स्थापित किया। सबसे बड़ी मुसीबत यह थी कि कश्मीर के बारे में यदि कोई अखबार जरा-सी भी आवाज़ उठाता तो रियासत में उसका प्रवेश निषेध हो जाता। इस बीच 'हाकिमे-आला' की सेवा में मेमोरेण्डम और शिष्ट मण्डल इत्यादि हथियार भी इस्तेमाल किए जाने लगे। नौकरियों में प्रतिनिधित्व और स्कूल कॉलेजों में भर्ती की बात भी की जाने लगी। बस चिंगारी लगाने की बात थी कि ज्वालामुखी तो फटने के लिए तैयार ही थी। एक वर्ष बाद जब अप्रैल के अन्त में (1931 में) पोस्टर चिपकाने के अपराध में पुलिस द्वारा गिरफ्तार किए जाने वाले व्यक्ति को छुड़ाने वाली भीड़ को श्रीनगर में शेख अब्दुल्लाह ने आगा हश्म काश्मीरी के निम्न शेर से सम्बोधित किया तो कश्मीर आन्दोलन का विधिवत् सूत्रपात हो चुका था—

आह जाती है फलक पर रहम लाने के लिए।

बादलों हट जाओ दे दो राह जाने के लिए।।

इस भाषण का वांछित प्रभाव पड़ा। अवाम की सामूहिक चेतना ने एक नई अँगड़ाई ली। अब धुआँधार तकरीरों का सिलसिला शुरू हो गया। हज़रत बल और खानकाहे मुआल्ला अब्दुल्लाह के भाषण केन्द्र बन गए। आल जम्मू एण्ड काश्मीर मुस्लिम कॉन्फ्रेंस की स्थापना जो अब्दुल्लाह के नेतृत्व की महत्वपूर्ण उपलब्धि थी, के लिए भूमिका तैयार हो गई। अब वह उस मार्ग पर काफी दूर निकल गए थे जहाँ से उन्हें पीछे मुड़कर नहीं देखना था। जब 24 जून, 1938 को 52 घंटे के घमासान सम्मेलन के बाद शेख अब्दुल्लाह और उनके साथियों ने मुस्लिम कॉन्फ्रेंस को नेशनल कॉन्फ्रेंस में परिणत करने का प्रस्ताव पास किया तो वास्तव में वे हिन्दुस्तानी नेताओं को मीलों पीछे छोड़ गए थे। शेख अब्दुल्लाह और उनके साथियों ने आठ साल की अवधि में जितनी बड़ी राजनीतिक सूझ-बूझ की छलांग लगाई उतनी काँग्रेसी लीडर अपने 53 वर्षीय प्रयत्न के बाद भी न लगा सके। वास्तव में वहाँ मामला एक कदम आगे तो दो कदम पीछे का रहा। 1916 में लखनऊ समझौते के अन्तर्गत काँग्रेस और लीग एक मेज़ पर इकट्ठे हुए, गले मिले और फिर भूल गए। 1920 के बाद खिलाफ़त और असहयोग आन्दोलन आए, हिन्दू-मुस्लिम एकता का कबूतर आया।

फिर चार साल बाद 1924 में दो अंडे देकर सदा के लिए उड़ गया। इस अंडे से दो भयंकर जन्तु शुद्धि संगठन और तंजीमव-तब्लीग निकले, फिर इसके बाद तो इतनी बरकत हुई कि ड्रायडेन के शब्दों में गॉड्स प्लेन्टी ही प्लेन्टी।

आल जम्मू एण्ड कश्मीर मुस्लिम कॉन्फ्रेंस को नेशनल कॉन्फ्रेंस में कायाकल्प करने की पृष्ठभूमि में शेख अब्दुल्लाह का आत्मविश्वास था जो उनके बहुसंख्यक अवाम के नेता होने की चेतना की उपज था और यही आत्मविश्वास देशबन्धु चितरंजन दास का विशेष गुण था जिसमें उन्होंने मुस्लिम अवाम और मुस्लिम नेतृत्व का दिल जीत लिया था। देशबन्धु के बाद किसी हिन्दू नेता में यह गुण उस मात्रा में न देखा गया। देशबन्धु के दृष्टिकोण की यह मौलिकता राजनीति तक ही सीमित न थी। वह एक सफल कवि भी थे। काजी नज़रूल इस्लाम को सार्वजनिक रूप से परिचित कराने का श्रेय भी उन्हीं को है। सभी जानते हैं कि नज़रूल की शुरू की कविताओं पर फारसी और उर्दू का प्रभाव है। विषय-वस्तु भी इस्लामिक है। देशबन्धु जानते थे कि फारसी और उर्दू के प्रभाव को सर्जनात्मक दृष्टि से आत्मसात किए बिना नज़रूल में वह क्रान्तिकारी उत्ताप नहीं आ सकता था जो बांग्ला काव्य में उसका मुख्य योगदान है। जैसे भी बांग्ला भाषा स्वभावतः स्त्रैण है। देशबन्धु ने नज़रूल की प्रतिभा को पहली नज़र में पहचान लिया और अपने प्रतिष्ठित अंग्रेज़ी पत्र 'फार्वर्ड' का मुख्य पृष्ठ सदैव उसकी कविताओं के लिए आरक्षित कर दिया। ऐसा करने में न तो वह टैगोरवादियों से डरे न बंगाल के विशुद्धतावादी भद्रलोक से। भला देशबन्धु यह कैसे नज़रन्दोज कर सकते थे कि बांग्ला बोलने वालों का बहुमत मुस्लिम अवाम पर आधारित है जिसमें कवियों को नवप्रयोग की स्वतन्त्रता से बेदखल करना सर्वथा अन्यायपूर्ण होगा। राष्ट्रीयता के सिलसिले में भी उनका दृष्टिकोण किसी नीति नहीं बल्कि उनकी आस्था पर आधारित था। उनकी यह नीति नहीं बल्कि यह आस्था थी कि हमारी राष्ट्रीयता न हिन्दू है न तो मुस्लिम बल्कि मिली-जुली है।

स्वस्थ आर्थिक कार्यक्रमों के अभाव में बड़े से बड़े हंगामी आन्दोलन थोड़ी ही देर के बाद दम तोड़ने लगते हैं। 1944 में 'नया कश्मीर' मैनिफेस्टो की घोषणा से शेख अब्दुल्लाह के आन्दोलन ने इस कमी को भी पूरा कर लिया। इस मैनिफेस्टो की तैयारी में शेख साहब ने अपने प्रसिद्ध प्रगतिशील मित्र बी.बी.एल. वेदी की सेवाएँ प्राप्त कीं। इसके अतिरिक्त मुहम्मद दीन तासीर, के.एम.अशरफ, दानियाल लतीफी और एहसान दानिश जैसे विद्वानों ने इसकी तैयारी में सहयोग दिया। इस घोषणा-पत्र को शेख साहब ने एक अभूतपूर्व एवं क्रान्तिकारी दस्तावेज़ की संज्ञा दी है। इस मोड़ पर आकर कश्मीर आन्दोलन हिन्दुस्तान के आन्दोलन से बहुत आगे निकल गया था, क्योंकि इस अवस्था में पहुँचते-पहुँचते जहाँ कश्मीर में नेशनल कॉन्फ्रेंस मुसलमान-सिख-हिन्दू एकता का अभूतपूर्व मंच बन गया था, वहाँ हिन्दुस्तान में हिन्दुओं और मुसलमानों के प्रमुख दलों काँग्रेस और लीग के मध्य बढ़ती दरार ने सवैधानिक रूप धारण कर लिया था। हिन्दुस्तान का बहुसंख्यक हिन्दू वर्ग यदि उसी उदारता से काम लेता जो शेख अब्दुल्लाह और उनके साथियों की शिनाख्त बन गई थी, तो सम्भवतः इतिहास का रुख ही बदल गया होता। वास्तव में कश्मीर की यह गौरवपूर्ण

स्थिति एक निरन्तर संघर्ष का परिणाम थी—वह संघर्ष जो शुरू से ही प्रगतिशील एवं गैर-साम्प्रदायिक था। यद्यपि शेख अब्दुल्लाह को इससे इनकार नहीं कि :-

“हमारे आन्दोलन का दायरा पहले तो मुसलमानों तक सीमित रहा। उस समय उसका रैलीइंग पॉइंट इस्लाम था। लेकिन अब आन्दोलन के दरवाजे सब धर्मों के लोगों पर खोल दिए गए थे तो एक संयुक्त मोर्चे की आवश्यकता महसूस हुई। यह मात्र धार्मिक नहीं बल्कि राजनैतिक एवं आर्थिक कोटि ही हो सकता था। जीवन और आन्दोलन के अनुभव ने हमें काइल कर दिया था कि अवाम के विभिन्न वर्गों में बुनियादी टकराव धर्मों का नहीं बल्कि हितों का था। एक तरफ शोषण करने वाले थे और दूसरी तरफ वह जो शोषण के शिकार थे। हमारी लड़ाई की मंशा व मक़सद मज़्लूम की हिमायत और ज़ालिम की मुखालफत था। हम समझ चुके थे कि हमारी एक बर्बर व्यवस्था से टक्कर है, किसी व्यक्तित्व से नहीं। हमारा जागीरदारी व्यवस्था से झगड़ा था, जागीरदार की ज़ात से नहीं।”

नया कश्मीर दस्तावेज़ में जमीन को काश्तकार के हवाले करने का जो विचार पेश किया गया था उसे तो उपमहाद्वीप में आज़ादी के बाद भी अनेक वर्षों तक लागू नहीं किया जा सका। इसमें औरतों, मज़दूरों और समाज के दूसरे कमज़ोर वर्गों के अधिकारों को संवैधानिक रूप से स्वीकार करके सुरक्षित करने की प्रतिज्ञा की गई थी। इस आलोचना के उत्तर में कि इस पर साम्यवादी विचारों का प्रभाव है, शेख अब्दुल्लाह ने बड़ी निर्भीकता से अपनी स्थिति स्पष्ट की है, “जहाँ तक साम्यवाद के उस पहलू का सम्बन्ध है जो अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर मेहनतकशों और मज़्लूमों के संघर्ष की तरफदारी करता है, नेशनल कॉन्फ्रेंस ने हमेशा उसको सराहा है। जब हमने नए कश्मीर को अपनाया तो मुस्लिम नवाबों के साथ-साथ काँग्रेस के प्रतिक्रियावादियों ने भी हम पर आवाज़ें कसीं... एक हिन्दू नेता ने यह कहकर भर्त्सना की कि यदि इसको लागू किया गया तो हिन्दू औरतों को मुसलमान औरतों की तरह तलाक आसानी से हासिल हो जाएगा और इस प्रकार हिन्दू सोसाइटी खतरे में पड़ जाएगी... इण्डियन नेशनल काँग्रेस का अवाँड़ी सेशन का प्रस्ताव जिसमें देश का चरम लक्ष्य एक समाजवादी व्यवस्था की स्थापना ठहराया गया था, वास्तव में ‘नया कश्मीर’ के विचारों की प्रतिध्वनि थी।”

दूसरे विश्व युद्ध ने ब्रिटेन का दिवाला निकाल दिया। विश्व-शक्ति से हटकर वह अब तीसरे दर्जे पर अपना अन्तरराष्ट्रीय स्थान कायम रख सका। उपनिवेशों पर शासन जमाए रखना असम्भव हो गया। हिन्दुस्तान की राजनीतिक स्थिति से अवगत होने तथा यहाँ के नेताओं से बातचीत के लिए कैबिनेट मिशन प्लान आया। रियासतों के सम्बन्ध में कैबिनेट मिशन में यह मामला विचाराधीन था कि उपमहाद्वीप के भारत और पाकिस्तान दो सार्वभौमिक राष्ट्रों में विभाजन के बाद रियासतों के राजे और नवाब इस निर्णय के अधिकारी होंगे कि वे किसमें सम्मिलित हों। जवाहर लाल और काँग्रेस इसका विरोध कर रहे थे और मिस्टर जिन्ना और मुस्लिम लीग इसका समर्थन। किन्तु कश्मीरी अवाम शेख अब्दुल्लाह के नेतृत्व में यह गवारा नहीं कर सकते थे कि वे अपनी क्रिस्मत का फैसला महाराजा हरी सिंह-योरप के गुलाबी शामों वाले मिस्टर ए—के हाथों में दे दें। अन्य रियासतों की तुलना में कश्मीर और जम्मू की स्थिति भिन्न थी। यहाँ एक जन आन्दोलन अपने

संघर्ष के सभी अनिवार्य मरहले तय कर चुकने के बाद अब अपनी आज़ादी की दहलीज़ पर खड़ा था, अतः इसे अन्य रियासतों के साथ नत्थी करने का विचार सर्वथा अनैतिक था। अतः अपने आत्म-निर्णय के अधिकार को मनवाने के लिए कश्मीरी जनता ने शेख अब्दुल्लाह के नेतृत्व में मई 1946 में 'कश्मीर छोड़ो आन्दोलन' आरम्भ कर दिया। शेख अब्दुल्लाह जो अपने साथियों के साथ गाँधीजी और अन्य काँग्रेसी नेताओं से बातचीत के लिए जवाहर लाल के निमन्त्रण पर दिल्ली जा रहे थे, मुज़फ़्फ़राबाद में 20 मई, 1946 को गिरफ़्तार कर लिए गए। इसके विरोध में सारी रियासत में आम हड़तालें एवं प्रदर्शन हुए। बड़े पैमाने पर गिरफ़्तारियों का सिलसिला शुरू हो गया। अनेक कश्मीरी गोलियों का निशाना बने जिनमें सभी मुसलमान थे। गाँधी जी, मौलाना आज़ाद और जवाहर लाल को छोड़कर अधिकांश काँग्रेसी तथा जम्मू और कश्मीर के पण्डित और हिन्दू निहित स्वार्थ महाराजा का समर्थन कर रहे थे। हिन्दू प्रेस हमेशा की तरह कश्मीर आन्दोलन के विरुद्ध विष-वमन कर रहा था। हिन्दू प्रेस के लिए स्वतन्त्रता केवल हिन्दुओं का ही जन्म सिद्ध अधिकार हो सकती थी। यह अवश्य है कि अधिकांश काँग्रेसियों की व्यक्तिगत धारणा जो भी रही हो सैद्धान्तिक रूप से काँग्रेस लीडरों ने कश्मीर आन्दोलन का समर्थन किया और काँग्रेस प्रेस जिस पर हिन्दू सरमायादारों का आधिपत्य था। इसका विरोध। इसके विपरीत मुस्लिम लीग ने कश्मीर आन्दोलन का विरोध किया किन्तु पंजाब के मुस्लिम लीग के समर्थक मुस्लिम प्रेस ने इसका समर्थन।

अतः हिन्द-पाक आज़ादी/विभाजन के समय शेख अब्दुल्लाह जेल में थे। गाँधी जी और जवाहर लाल के जोर देने पर उन्हें 29 सितम्बर, 1946 को रिहा किया गया। यद्यपि आजीवन शेख साहब हरी सिंह की बर्बरता के विरुद्ध संघर्षरत रहे किन्तु रिहाई के बाद सहयोग किया। क़बाइली आक्रमणों के समय जब हरी सिंह खज़ाने के साथ जम्मू भाग आए तो शेख अब्दुल्लाह और उनके साथियों ने आक्रमणकारियों का डटकर मुकाबला किया और हिन्दू और सिख अल्पसंख्यकों की जान व माल की रक्षा की। यद्यपि कबाइलियों के आक्रमण के कारण कश्मीरियों में पाकिस्तान के विरुद्ध रोष की एक लहर दौड़ गई थी। तथापि कश्मीर में पाकिस्तान समर्थकों की संख्या काफी महत्वपूर्ण थी। इसमें कोई शक नहीं यदि शेख अब्दुल्लाह का करिश्मायुक्त व्यक्तित्व न होता तो कश्मीर का भारत के साथ अधिमिलन असम्भव था। भारत के साथ रिश्ता जोड़ने में शेख अब्दुल्लाह के प्रबुद्ध और प्रगतिशील विचारों के अतिरिक्त भारत में मौलाना आज़ाद, गाँधी जी और जवाहर लाल जैसे मित्रों एवं शुभचिन्तकों की मौजूदगी भी एक निर्णायक कारण बनी। शेख साहब हमेशा कहते थे कि भारत के साथ रिश्ते की गाँठ आदर्शों से जुड़ी है। यह आदर्शों की गाँठ लगते देर न लगी थी कि उनके मोहभंग की प्रक्रिया शुरू हो गई तथापि आशा की किरण ने कभी साथ न छोड़ा। वास्तव में देखा जाए तो जहाँ भारतीय नेताओं का संघर्ष आज़ादी के बाद समाप्त होता है वहीं शेख अब्दुल्लाह का असली संघर्ष सत्तारूढ़ होने के बाद शुरू होता है। इस दृष्टि से यदि यह कहा जाए कि 'आतिशे-चिनार' एक मोहभंग की दास्तान है तो यह बात अनुचित न होगी।

“हिन्दुस्तान के वातावरण को मेरे अस्तित्व के विरुद्ध खड़ा करने के लिए जो मुहिम

चलाई जा रही थी उसके पीछे जो कारण थे उन पर एक दृष्टि डालना कश्मीर की राजनीति की पेचीदगीयों को समझने के लिए अनिवार्य है। सबसे पहली बात जो मेरे विरोधियों को खटकती थी यह थी कि मैं कश्मीर आन्दोलन का प्रवर्तक हूँ और सदियों के बाद मैंने यहाँ की सुसुप्त आबादी को एक नई ज़िन्दगी से अवगत कराया। संयोग से जागने वालों का बहुसंख्यक वर्ग मुसलमान था और शासक वर्ग हिन्दू था। इसलिए बहुत से हिन्दू पहले दिन से इस स्थिति को पसन्द न करते थे। उन्होंने न केवल मेरा साथ न दिया बल्कि मुझे अपना शत्रु समझ लिया। इस बात का सबूत पंजाब और दिल्ली के हिन्दू अखबारों के पृष्ठ प्रस्तुत करते हैं जो 1931 से आज तक किसी न किसी रंग और किसी न किसी मसले पर मेरे विरुद्ध ज़हर उगलते रहे हैं। कई बार मेरे इक़दामात से मेरे मुसलमान भाई भी खुश न हो सके। लेकिन इन अखबारों पर विद्वेष की ऐसी ऐनक चढ़ी हुई है कि वह भी इसे मेरी चालाकी समझते रहे। यह इन अखबारों का दोष नहीं बल्कि उस मानसिकता का करिश्मा है जिसका यह प्रतिनिधित्व करते हैं। एक और मामला जिसने हिन्दू साम्प्रदायिकतावादियों को मुझसे बदगुमान कर दिया था, यह था कि मैंने आज़ादी के बाद कुछ ऐसे सुधारों को लागू कर दिया जिनमें संयोग से शासक वर्ग के शोषक तत्वों पर चोटें पहुँचीं और उनका अधिकांश लाभ संयोगवश बहुसंख्यक वर्ग को पहुँचा। यह और बात है कि उनसे लाभान्वित होने वालों में लाखों हरिजन और दूसरे गैर-मुस्लिम भी थे। चूँकि वह लोग निम्न वर्ग से सम्बन्ध रखते थे और ख़ामोश थे इसलिए हिन्दू-साम्प्रदायिकतावादियों की निगाह उनकी तरफ नहीं गई। एक और बात यह थी कि अविभाजित हिन्दुस्तान की रियासतों को आमतौर पर उनकी आबादी की संरचना के स्थान पर उनके शासकों के धर्म के आधार पर बाँट दिया गया था और इसी हवाले से उन्हें हिन्दू, मुसलमान या सिख रियासतों के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता था। हैदराबाद के अवाम की आबादी में बहुसंख्यक आबादी हिन्दुओं की थी लेकिन मुसलमान उसे मुस्लिम रियासत ही समझते थे। इसके विपरीत जम्मू एवं कश्मीर की रियासत की पचासी प्रतिशत से अधिक आबादी यद्यपि मुसलमान थी तथापि हिन्दू उसे एक हिन्दू रियासत ही मानते थे। शेष रियासतों का हाल भी न्यूनाधिक ऐसा ही था। रियासतें—कश्मीर में निरंकुशता के विरुद्ध जो संघर्ष मैंने शुरू किया था वह राजा की ज़ात (पर्सन) के विरुद्ध न था बल्कि एक व्यवस्था के विरुद्ध था। लेकिन इसको कोई नहीं समझता था। यह स्थिति हिन्दुओं तक सीमित नहीं थी बल्कि मुसलमान भी इसका शिकार थे और मैं इस सम्बन्ध में मौलाना गुलाम रसूल मेहर का वह वाकिआ बयान कर चुका हूँ जब उन्होंने कश्मीर की बात करते हुए कहा था कि वहाँ से हिन्दू महाराजा का आधिपत्य समाप्त होना चाहिए। लेकिन मेरे टोकने पर कि फिर ऐसा ही मामला हैदराबाद में भी पेश आना चाहिए, वह बोल पड़े थे कि, “हैदराबाद की बात दूसरी है। हम उसके लिए कई कश्मीर कुर्बान कर सकते हैं।” कुछ आदरणीय व्यक्ति इसके अपवाद थे। मसलन गाँधी जी और जवाहर लाल। लेकिन गाँधी जी तो दूसरी अति को गए थे और उन्होंने एक बार यह भी कहा था, “चूँकि कश्मीर में मुसलमानों का बहुमत है अतः उसे पाकिस्तान में जाना चाहिए।” मैंने चूँकि एक हिन्दू शासक के विरुद्ध विद्रोह करने की धृष्टता दिखाई थी इसलिए हिन्दू साम्प्रदायिकतावादियों की आँखों में हमेशा के लिए खटकता हुआ काँटा

बनकर रह गया। चौथी वजह यह थी कि हिन्दुस्तान के बँटवारे के बाद हिन्दुओं और मुसलमानों में परस्पर अविश्वास का वातावरण इस प्रकार बना हुआ था कि हर मुसलमान को हिन्दुस्तान में शंका की दृष्टि से देखा जाता था। मेरी बिसात क्या है? मौलाना आज़ाद जैसी महान हस्ती को भी इस इल्ज़ाम से बरी नहीं रखा गया। इसी कारण मेरे कार्यों को आशंका की दृष्टि से देखा जाता था। महाराजा हरी सिंह के ख़ानदानी शासन उन्मूलन, इस व्यवस्था की छाँव में पलने वाले एक बड़े वर्ग के हितों पर चोट की हैसियत रखता था। भला वह इसके लिए क्यों मेरा स्वागत करते। अतः उन्होंने रियासत में मेरे विरुद्ध वातावरण बनाने के लिए अपनी तिजोरियों के मुँह खोल दिए। इन्हीं तत्वों ने भारत के साम्प्रदायिकतावादियों से गठबन्धन करके जम्मू में प्रजा परिषद् के आन्दोलन को उकसाया और “एक विधान, एक निशान और एक प्रधान” के नारे को अपना युद्धनाद बना लिया। वह इस तथ्य को भली-भाँति समझते थे कि महाराजा हरी सिंह के परिवार को राज सिंहासन को फिर से सौंप देना सम्भव नहीं है किन्तु भारत का चक्कर घुमाकर कश्मीर के मुसलमानों को अब भी दबाया जा सकता है”। (पृष्ठ 503-505)

“दिल्ली समझौते को अन्तिम रूप देने के लिए केन्द्र की ओर से जवाहर लाल नेहरू, मौलाना आज़ाद, गोपालास्वामी आयंगर और सर गिरिजाशंकर वाजपेयी बातचीत में हिस्सा ले रहे थे और रियासत की तरफ से मैं, बख्शी गुलाम मुहम्मद और मिर्जा अफ़जल बेग भाग ले रहे थे। मुझे याद है जब समझौते की किसी धारा पर ज़ोरों की बहस हो रही थी तो जवाहर लाल ने मेरे कान में बड़े मनोहर अन्दाज के साथ कहा, “शेख़ साहब अगर आप हमारे साथ बग़ल में खड़े होने में हिचकिचाएँगे तो हम आपके गले में सोने की जंजीर पहना देंगे।” मैं जवाहर लाल को एक क्षण देखता रह गया। लेकिन दूसरे क्षण मैंने मुस्कराते हुए कहा कि “ऐसा कभी न कीजिएगा क्योंकि इस तरह आप कश्मीर से हाथ धो बैठेंगे”। जवाहर लाल की इस मानसिक कैफियत पर मेरे मस्तिष्क पटल पर इकबाल कर यह शेर रोशन हो गया था :-

**जादू-ए-महमूद की तासीर से चश्मे अयाज़।
देखती है हल्क़ए गर्दन में साज़े-दिलबरी।।**

लेकिन जवाहर लाल हमारी मानसिक कैफियत के बारे में साफ़ तौर पर गुलत अन्दाज़ा लगा रहे थे”। (पृष्ठ 541-542)

“जवाहर लाल को बता दिया गया कि मैं गुलमर्ग में किसी पाकिस्तानी अफसर से कश्मीर में बगावत करने की साजिश करने के लिए जा रहा हूँ। यह इतना ज़बरदस्त झूठ था कि बाद में भारतीय योद्धा इसको दोहराने की हिम्मत ही न कर सके। सवाल यह है कि सारी रियासत में भारत की फौज फैली हुई थी। उनकी इज़ाज़त के बिना युद्ध-विराम रेखा पर परिन्दा पर नहीं मार सकता था। यदि बक्रौल मलिक यह बात सही होती कि उन्हें ज्ञात था कि मक़बूल गीलानी के माध्यम से पाकिस्तानी फौज का कोई अधिकारी मुझसे गुलमर्ग में मिलने वाला है तो उन्हें उस अधिकारी को मेरे साथ गिरफ्तार करने से किसने रोका था? इसके अतिरिक्त रियासत के गृह मंत्री की हैसियत से सी.आई.डी. और

पुलिस के तमाम विभागों पर बख्शी गुलाम मुहम्मद का अधिकार था। मैं इन हालात में कैसे किसी वाह्य शक्ति के गुप्त जासूस से साजिश करने के लिए मुलाकात कर सकता था। इस कार्यवाही को तर्क के तराजू पर तौलना व्यर्थ है क्योंकि झूठ बोलने वाले स्वयं भी अपने झूठ से भली-भाँति अवगत थे और जान-बूझकर झूठ बोल रहे थे और फिर मेरे साथ तीन कश्मीरी पण्डित अधिकारी (आर.सी.रैना, जानकी नाथ जुत्सी और श्याम लाल वाठ) भी तो गुलमर्ग आए थे।

“जेल में पहुँचकर मेरा शरीर तो आराम से था लेकिन मेरा दिल कश्मीर के गली-कूचों में अटककर रह गया था। मुझे यद्यपि सूचनाएँ नहीं मिल रही थीं कि हालात का सही रुख क्या है लेकिन क्रातिलों के खौफनाक तेवर देखकर मैं जान गया था कि कश्मीर को फिर आग और खून के दरयाओं से गुज़रना होगा। मैं बन्दीगृह में इस दुआ के सिवा और क्या कर सकता था:—

दयारे-यारे तेरी जोशिशे-जुनूँ पे सलाम
मेरे वतन तेरे दामाने-तार-तार की ख़ैर
रहे यकीं तेरी अफ़शाने-खाकाओ खूँ पे सलाम
मेरे चमन तेरे जख़्मों के लालाज़ार की ख़ैर

और संयोग देखिए कि कुछ समय बाद फैज़ अहमद फैज़ ने अपने हस्ताक्षरों से वह नज़्म मुझे समर्पित करके मुझे भेज दी जिससे ये अशआर लिए गए हैं”। (पृष्ठ 601-602)

“मैं जिन न किए गए गुनाहों के आधार पर इतनी भयानक साजिश का शिकार बन गया था उसके तमाम हालात और विवरणों से मृदुला साराभाई अच्छी तरह अवगत थीं। मृदुला अहमदाबाद (गुजरात) के एक परिवार की नाजों पली बेटी थीं। उनके धनवान पिता अम्बालाल साराभाई काँग्रेस के बड़े उत्साही समर्थकों में थे और उसकी तन-मन-धन से सहायता करते रहते थे। जवाहर लाल के साथ भी इस परिवार के सम्बन्ध हो गए थे। मृदुला बड़ी जोशीली तबीयत की मालिक थीं। उन्होंने अपने आपको राजनीति में झोंक दिया और गाँधी जी के सत्याग्रह आन्दोलन में बढ़-चढ़ कर भाग लेती रहीं। जब जवाहर लाल नेहरू काँग्रेस के अध्यक्ष बने तो उन्होंने मृदुला को महासचिव के पद पर नियुक्त किया। मृदुला बहुत ही दर्दमन्द, रहम-दिल और गरीब-नवाज़ महिला थीं। जवाहर लाल से मेरे निकट के सम्बन्ध थे। मैं उन्हीं के घर में मृदुला से मिला। धीरे-धीरे यह जान पहचान इस सीमा तक बढ़ी कि हम उनको अपने परिवार का एक सदस्य समझने लगे और वह भी यही एहसास रखने लगीं। 9 अगस्त की घटना हुई तो उन्होंने अपनी पूरी शक्ति से इस अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाई। उन्होंने मात्र इतना ही न किया बल्कि एक मिशनरी की तरह वह इस साजिश को तार-तार करके बेनकाब करने में लग गईं। उनको जवाहर लाल का सामीप्य प्राप्त था। इसलिए कश्मीर के सिलसिले में उन्हें सही हालात से अवगत कराने की कोशिश करती थीं। लेकिन अब तो जवाहर लाल भी सच्ची बात सुनने की सामर्थ्य न रखते थे। इसलिए वह मृदुला से भी खिंचे-खिंचे रहने लगे। हमारी हिमायत के बदले मृदुला को क्या-क्या कष्ट न उठाना पड़ा? किन्तु वाह रे उनकी हिम्मत कि उनकी त्वैरी

पर बल न आया। उनको काँग्रेस से निकाल दिया गया। उनके विरुद्ध अत्यन्त गैर-शरीफाना और घिनावने प्रोपगंडे की मुहिम शुरू की गई। कश्मीर में उनके प्रवेश पर पाबन्दी लगा दी गई और अन्त में उन्हें जेल पहुँचा दिया गया जहाँ इस लाड़-प्यार से पली रईस बाप की बेटी को मुक़दमा चलाए बिना एक साल से अधिक अवधि तक हिरासत में रखा गया।” (पृष्ठ 605-606)

आत्मकथा, जीवनी, संस्मरण, डायरी और जर्नल यद्यपि सभी साहित्य की एक ही विधा के अन्तर्गत हैं यथापि सबमें परस्पर मौलिक अन्तर अवश्य है। आत्मकथा में आत्म-विकास की कड़ियों को यथासम्भव सम्बन्धित माहौल, समाज, राजनीति, धर्म, साहित्य, कला, विज्ञान या इतिहास के सूत्रों में पिरोने की प्रवृत्ति होती है और तदनुसार घटनाओं, व्यक्तियों और दृश्यों का निरूपण होता है। किन्तु संस्मरण में घटना-क्रम की अपेक्षा घटनाओं, व्यक्तियों एवं दृश्यों के इंप्रेशन को पकड़ने का प्रयास होता है। लेखक की गिरफ्त या पकड़ उसकी ऐतिहासिक चेतना के प्रसार एवं सौन्दर्य-बोध तथा उसके ईगो के फैलाव या संकीर्णता पर निर्भर करती है। मसलन ऐतिहासिक और सौन्दर्य-बोध जितना ही पैना और ईगो जितना विस्तृत होगा उसी अनुपात में उसकी अनुभूति प्रामाणिक एवं ग्राह्य होगी। इस दृष्टि से भी ‘आतिशे-चिनार’ बहुत महत्वपूर्ण कृति है। यह व्यक्तियों, घटनाओं एवं समुदायों के शब्द-चित्रों से भरी हुई है जिन पर बार-बार उँगली उठाई जाती है और फ़ैसले किए जाते हैं। लेखक का ईगो इतना विराट और ऐतिहासिक चेतना इतनी सूक्ष्म है कि उसके निर्णयों का उद्देश्य दोष देना नहीं अपितु किसी नैतिक नुक़ते की तरफ संकेत करना मात्र होता है। सरहद के कबाइलियों के आक्रमण के फलस्वरूप कश्मीर और जम्मू की घटना में—महाराजा हरी सिंह का हीरे-जवाहरात से लद-फँद कर सौ से अधिक मोटर गाड़ियों के काफिले के साथ सपरिवार जम्मू भाग जाना, अपनी कश्मीरी प्रजा को विपत्ति के समय उनके हाल पर छोड़ देना, महाराजा और महारानी तारा देवी का जम्मू के उग्रवादी हिन्दुओं को वहाँ के मुसलमानों के कल्ले-आम के लिए भड़काना, पाकिस्तान भेजने के झाँसे से मुसलमानों को एक पार्क में इकट्ठा कराके ट्रकों में भरकर एक पहाड़ी के पास उतरवाकर मशीनगनों से उड़ा देना, जम्मू में मुसलमानों की आबादी के अनुपात को कम करने के लिए सरदार पटेल के पालक—बालक न्यायमूर्ति मेहर चन्द खन्ना (महाजन) द्वारा जम्मू के हिन्दू अखबारों में यह बयान कि कार्य-विशेष पूरा किया जा रहा है—शेख अब्दुल्लाह और उनके आन्दोलन की आत्मा को झुलसाने के लिए काफी थीं। इन सबका रिकॉर्ड के तौर पर उल्लेख है और कई तथ्य तो ऐसे हैं कि शायद और कहीं न मिलें। इस सिलसिले में महारानी तारा देवी और बलराज मधोक की चर्चा जो उस समय राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की एक मुहल्ला टुकड़ी की कमान सँभाले हुए थे, उल्लेखनीय है। लगभग 35 वर्ष की दीर्घ अवधि के बाद इन घटनाओं की चर्चा के सिलसिले में बलराज मधोक—मुसलमानों का राष्ट्रीयकरण वाले प्रो. बलराज मधोक के उल्लेख के पीछे भी शेख साहब की ऐतिहासिक दृष्टि ही कार्यरत थी। क्योंकि इन घटनाओं के उल्लेख के बिना प्रोफेसर साहब का असली चेहरा सामने नहीं आ सकता था।

“महाराजा ने बोरिया-बिस्तर बाँधकर अपने जवाहरात और दूसरी बहुमूल्य सम्पत्तियाँ सन्दूकों में बन्द करके एक सौ से अधिक गाड़ियों में लाद दिया और स्वयं उस भगोड़े काफिले की रहनुमाई करते हुए 25 अक्टूबर को जम्मू की तरफ कूच कर गया। उसके नज़दीकी रिश्तेदार, मुसाहिब, मित्रों इत्यादि के अतिरिक्त उसके खानदानी मन्दिर गदाधर की सुनहरी मूर्ति भी थी। जब यह काफिला ऊधमपुर पहुँचा तो महारानी तारा देवी ने अपने बाल बिखेरकर उस मूर्ति को अपनी गोद में ले लिया। जब स्थानीय आबादी एक खुली कार में महारानी को मूर्ति लिए हुए देख रही थी तो यह अन्दाज़ा करना मुश्किल नहीं कि भावावेश का पारा कहीं पहुँचा होगा। उनका खून उबालकर महारानी वहाँ मुसलमानों के खून की होली खेलने का जो नाटक खेलना चाहती थी उसका यथेष्ट प्रभाव पड़ा। महाराजा की इस कायरतापूर्ण हरकत से कश्मीरी अवाम को बड़ा दुःख हुआ। क्योंकि उन पर एक सौ वर्ष राज करने के बाद और खून-पसीने की कमाई से आलीशान प्रासाद निर्मित कराने के बाद अपने खानदान के नुमाइंदा की हैसियत से उसने संकट की घड़ी में उन्हें अकेला छोड़ दिया था।” (पृष्ठ 411-412)

“इधर हम कश्मीर में कबाइलियों को पीछे धकेलने में व्यस्त थे, उधर जम्मू में महाराजा हरी सिंह साम्प्रदायिकता की आग को भड़काने के लिए खूब हाथ-पैर मार रहे थे... जम्मू पहुँचकर महाराजा और महारानी तारा देवी ने खिसियानी बिल्ली की तरह खम्भा नोचना शुरू किया। अपने दिल की भड़ास निकालने के लिए उन्होंने जम्मू के उग्रवादी हिन्दुओं और राष्ट्रीय स्वयं सेवक के सधे हुए सदस्यों में घातक हथियार वितरित किए और उन्हें मुसलमानों का सफाया करने की उत्तेजना दिलाते रहे। ऐसी ही एक टोली की निगरानी प्रोफेसर बलराज मधोक कर रहे थे। उन्होंने ऊधमपुर और रियासी में मुसलमानों के खूने-नाहक से खूब हाथ रंगे”... (पृष्ठ 433-434)

जम्मू जाकर हमने वहाँ जो हालात सुने उनसे हमारे रोंगटे खड़े हो गए। 4 नवम्बर, 1946 को सरदार पटेल ने भारत के सुरक्षा मंत्री, सरदार बलदेव सिंह और महाराजा पटियाला के साथ जम्मू का दौरा किया और वहाँ महाराजा हरी सिंह ने गुफ्तगू की। 5 नवम्बर को शहर में ढिंढोरा पिटवाया गया कि मुसलमान अपने आपको पुलिस लाइन्स में पेश करें ताकि उन्हें पाकिस्तान भेजा जा सके। देखते ही देखते मुसलमान अपनी औरतों और बच्चों के साथ हाज़िर हो गए। उन्हें कोई चालीस ट्रकों में सवार किया गया और हर ट्रक में 60 व्यक्ति के लगभग सवार किए गए। उन्हें साँबा के पार एक पहाड़ी के निकट उतारा गया जहाँ मशीनगनें लगा दी गई थीं। अतः जवान औरतों को अलग करके बाकी तमाम जवानों को आन की आन में गोली से उड़ा दिया गया... मैंने जब यह हालत सुनी तो इन्सानों की दरिन्दगी पर मैं तड़प-तड़प उठा... लेकिन यह रोने-धोने का वक़्त नहीं था।” (पृष्ठ 438)

‘व्यक्ति और राष्ट्र’ शीर्षक (अध्याय 32) के अन्तर्गत इतिहास में व्यक्ति और घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध से बात शुरू की गई है और फिर बहस का मोड़ भारत-पाक स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रमुख कर्णधारों की तरफ मोड़ दिया गया है। सरोजिनी नायडू, मुहम्मद अली जिन्ना, महात्मा गाँधी, मौलाना आज़ाद, खान अब्दुल गफ्फार ख़ाँ, मोतीलाल नेहरू, जवाहर लाल नेहरू, सरदार पटेल, राजेन्द्र प्रसाद, डॉ. अम्बेडकर इत्यादि की भूमिका पर व्यक्तिगत

संस्मरणों के माध्यम से प्रकाश डाला गया है। राष्ट्रों का इतिहास कुछ व्यक्तियों की कहानी है या व्यक्ति ऐतिहासिक शक्तियों के हाथ में मात्र मोहरे की तरह हैं—इस बहस से बात उठाकर निम्न शब्दों में अपनी स्थिति स्पष्ट की गई है।

“ऐतिहासिक शक्तियों की अनुकूल और साज़गार हवा के बिना व्यक्ति महान उपलब्धियों का अलाव रोशन नहीं कर सकते। लेकिन व्यक्तियों की विशेषता इसमें है कि वह अपनी खुदी (ईगो-अहम्) और कर्म के उत्साह (जोशे-अमल) के बल से ऐतिहासिक शक्तियों की गति तेज़ करते हैं। यह सिकन्दर महान के लिए भी सच है और लेनिन के बारे में भी। कार्ल मार्क्स का विचार था कि साम्यवादी क्रान्ति के लिए यूरोप के देशों में जर्मनी में सबसे अधिक अनुकूल दशाएँ हैं और रूस में सबसे अधिक प्रतिकूल। लेनिन के युग प्रवर्तक अस्तित्व ने इस धारणा को निर्मूल सिद्ध करके साम्यवाद का उदय रूस की धरती से कर दिखाया।” (पृष्ठ—336)

व्यक्ति के चरित्र, आस्थाओं एवं आदर्शों की सही परीक्षा संकट या अप्रत्याशित और प्रतिकूल परिस्थितियों में ही सम्भव है। काँग्रेसी नेताओं की परख की घड़ी “भारत छोड़ो आन्दोलन” के बाद पैदा हुई। 1937 में होने वाले सूबों के चुनावों में मुस्लिम लीग पिट गई थी। किन्तु 1942 के बाद होने वाले चुनावों में उसकी स्थिति सुदृढ़ हो गई थी। किसी भी हालत में अब न तो काँग्रेस के आत्मौचित्य युक्त नेता और न तो अंग्रेज़ ही उसे उपेक्षित कर सकते थे। यद्यपि मुस्लिम लीग ने 1940 में पाकिस्तान प्रस्ताव पारित कर दिया था किन्तु 1944 तक जैसा कि डॉ. अम्बेडकर ने अपनी पुस्तक ‘पाकिस्तान क्या हिन्दुस्तान का विभाजन’ में बार-बार संकेत किया था मि. जिन्ना ने तथाकथित पाकिस्तान की भौगोलिक सीमाओं को स्पष्ट नहीं किया था। (डॉ. अम्बेडकर की पुस्तक 1944 में छपी थी।) अतः इससे यह निष्कर्ष निकालना सर्वथा निराधार न होगा कि जिन्ना साहब पाकिस्तान की माँग को मुस्लिम अल्पसंख्यकों की राजनीतिक सौदेबाजी के हथियार के रूप में काँग्रेसी नेताओं की अनुदारतापूर्ण एवं आत्मौचित्यपूर्ण नीतियों के विरुद्ध कर रहे थे। यदि ऐसा न होता तो वह कैबिनेट मिशन प्लान के प्रस्तावों को कदापि न स्वीकार करते। अभी तक काँग्रेसी नेता, मि. जिन्ना और उनकी लीग को नज़रंदाज़ करते आए थे किन्तु अब ऐसा करना उनके लिए सम्भव न रह सका। ध्यान रहे कि कैबिनेट मिशन के प्रस्तावों और मौलाना आज़ाद के फार्मूले में, जिसे गाँधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम समस्या के समाधान का गुर बताया था और जिसे काँग्रेस ने स्वीकार भी किया था, कोई मौलिक अन्तर नहीं था। मौलाना ने राज्यों को दो सूचियों में रखा था और कैबिनेट मिशन ने इसमें देशी रियासतों की एक तीसरी सूची भी बढ़ा दी थी। अब उनकी काँग्रेसी नेताओं (नेशनलिस्ट मुस्लिम नेताओं को छोड़कर कि अब उनकी कोई जरूरत नहीं रह गई थी) का वास्तविक रूप सामने आ गया। सिद्धान्तों एवं आदर्शों के मुखौटे तार-तार हो गए। जब पण्डित नेहरू ने कहा, “अंग्रेजों के चले जाने के बाद हम संघ की रियासतों के आत्मनिर्णय के अधिकार के पाबन्द नहीं होंगे। इस बात से बिदककर जिन्ना साहब ने कैबिनेट प्लान के सम्बन्ध में अपना सारा रवैया ही बदल दिया और नेहरू की यह बात देश के बँटवारे का अन्तिम बहाना साबित हुई।” (पृष्ठ 337)

वास्तव में द्विराष्ट्र सिद्धान्त की धारणा मूलतः मि. मुहम्मद अली जिन्ना के मस्तिष्क की उपज नहीं और न इसके लिए सर सैयद अहमद खाँ ही उत्तरदायी हैं। द्विराष्ट्र सिद्धान्त का प्रतिपादन सबसे पहले उन्नीसवीं सदी के बंगाली विचारकों एवं समाज सुधारकों—राम मोहन राय, देवेन्द्र नाथ टैगोर, केशव चन्द्र सेन, बंकिम चन्द्र चटर्जी तथा आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती की रचनाओं में हुआ। यहाँ तक कि शैक्षिक सुधार के कार्यक्रम भी केवल हिन्दुओं के लिए थे। कलकत्ता के नेशनल कॉलेज के दरवाजे बीसवीं सदी के पहले दशक के बाद तक मुसलमानों पर बन्द थे। इसके विपरीत सर सैयद के शैक्षणिक प्रोग्राम शुरू ही से हिन्दुओं-मुसलमानों दोनों समुदायों के लिए थे। अलीगढ़ एंग्लो ओरियन्टल कॉलेज से उत्तीर्ण होने वाला पहला ग्रेजुएट हिन्दू था। आश्चर्य की बात तो यह है कि राममोहन राय की सारी योजनाएँ हिन्दुओं के लिए थीं यद्यपि उनका पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा विशुद्ध इस्लामी माहौल में हुई थी। वह अरबी और फारसी के प्रकाण्ड विद्वान थे। उन्होंने अरबी में एक समाचार-पत्र-अल् अखबार के नाम से जारी किया था जो हिन्दुस्तान का पहला समाचार-पत्र था। इस दृष्टि से हिन्दुस्तान में सेक्युलर आन्दोलन के प्रवर्तक सर सैयद खाँ थे। इस दिशा में उनकी असफलता का कारण उनकी नीतियों में परिवर्तन नहीं बल्कि उनके हिन्दू सहयोगियों द्वारा सहयोग का हाथ खींच लेना था। सर सैयद की ट्रांसलेशन सोसाइटी और साइंटिफिक सोसाइटी की आधारशिला हिन्दू-मुस्लिम सहयोग था। हिन्दुस्तानी होने की वजह से सर सैयद अपने को हिन्दू कहलाने में गर्व का अनुभव करते थे। उनकी अंग्रेजों से सहयोग की नीति व्यवहारिक कारणों तथा उनके निजी अनुभवों का परिणाम थी। वह 1857 के हंगामों के चश्मदीद गवाह थे और उसके बाद अपनी कौम की दुर्गति का उन्हें निजी अनुभव था। इसके अतिरिक्त उनका आन्दोलन किसी सम्प्रदाय के हितों के विरुद्ध नहीं था। वह हिन्दुस्तान की समस्याओं को यहाँ से बाहर के परिप्रेक्ष्य में देखने के लिए तैयार नहीं थे। इसीलिए उन्होंने पान-इस्लामिस्म आन्दोलन का विरोध किया। इसके विपरीत 19वीं सदी से ही हिन्दुओं में बृहत्तर भारत तथा विशिष्ट भारतीय प्रतिभा (स्पेशल जीनियस ऑफ इण्डिया—Special Genius of India) की धारणा उनके राजनीतिक चिन्तन की भाव-भूमि बन गई थी। बीसवीं सदी के पहले दो दशकों में अरविन्द घोष तथा बाल गंगाधर तिलक तथा लाला जालपत राय ने इस विचारधारा को उग्रवादी हिन्दू राष्ट्रियता का रूप दे दिया। 1912 में जब मौलाना मुहम्मद अली ने अपने अंग्रेजी समाचार-पत्र 'कामरेड' में निम्न टिप्पणी की तो बृहत्तर भारत तथा विशिष्ट भारतीय प्रतिभा धारणाओं ने द्विराष्ट्रवाद के हिन्दू प्रवक्ता को अपने प्रतिनिधि के रूप में राजनीतिक मंच पर खड़ा कर दिया था—अर्थात् हिन्दू कम्यूनल पैट्रियट (Hindu Communal Patriot) 'हिन्दू साम्प्रदायिक देशभक्त' लगीं।

“एक सहज और अपरिहार्य प्रक्रिया द्वारा 'राष्ट्रीयता' और 'देश-भक्ति' हिन्दुत्व से जोड़ी जाने लगीं। हिन्दू साम्प्रदायिक देशभक्त अस्तित्व में आ गया जिसका युद्धनाद था 'स्वराज्य'। जब तक मुसलमान अपने व्यक्तित्व से चुपचाप पीछा नहीं छोड़ा लेते और अपना पूर्णतया हिन्दूकरण नहीं कर लेते उन्हें कोई जगह देने को तैयार न था। निस्सन्देह वह 'भारत' और 'प्रादेशिक राष्ट्रियता' जैसे शब्दों का प्रयोग करना जानता था और यही उसके

शब्दकोष के महत्वपूर्ण अंग थे। किन्तु एक अवांछनीय मुसीबत की तरह मुसलमान सदैव उसकी चेतना पर सवार रहने लगे और उसे बड़ी खुशी होती यदि कोई निष्क्रमण (देशान्तरण) या भूवैज्ञानिक विभीषिका उनसे छुटकारा दिला दे”।

खिलाफत और असहयोग आन्दोलनों की विफलता के बाद हिन्दुओं एवं मुसलमानों के मध्य बढ़ती हुई खाई को दूर करने के लिए एकता समितियों की स्थापना की गई। इसी एकता समिति की उप-समिति की बैठक शिमला में 1926, सितम्बर के अन्तिम सप्ताह में हुई थी। काँग्रेस और काँग्रेसेतर हिन्दू नेताओं के धुड़दिलापन और संकुचित दृष्टिकोण की चर्चा मौलाना आज़ाद ने मौलाना गुलाम रसूल मेहर को लिखे गए एक पत्र (दिनांक 29.09.1927) में इस प्रकार की है:— “हिन्दुओं और मुसलमानों के प्रस्तावों की तुलना करके दिखाना चाहिए कि मुसलमानों की स्पिरिट किस प्रकार उदार हृदयता, मगफूलियत और आचार-विचार की स्वतन्त्रता पर आधारित है और हिन्दुओं के प्रस्तावों में किस प्रकार तंग दिली तथा असंगत वैचारिक अन्तर्विरोध और विषमता पाई जाती है...”

“मिस्टर श्री निवास आयंगर, काँग्रेस अध्यक्ष ने एक प्रस्ताव पेश किया था कि जहाँ तक गौवध सम्बन्ध है हिन्दुओं को मुसलमानों पर कोई शर्त नहीं लगानी चाहिए और जहाँ तक म्यूज़िक का सम्बन्ध है मुसलमानों को भी यही कार्य प्रणाली अपनानी चाहिए। मुसलमान सदस्यों ने सर्वसम्मति से इसे मंजूर कर लिया लेकिन हिन्दू सदस्यों ने सर्वसम्मति से इसका विरोध किया।” (नक्शे-आज़ाद : पृष्ठ 28-29)।

मौलाना मुहम्मद अली और मौलाना अबुल कलाम आज़ाद के आन्दोलनों (कामरेड तथा अल् हिलाल/अल/बलाग) से लगभग एक दशक पहले मिस्टर मुहम्मद अली जिन्ना इस तथाकथित हिन्दू कम्यूनल पैट्रियट के विरुद्ध गोपाल कृष्ण गोखले के निर्देशन में कार्य शुरू कर दिया था। गोपाल कृष्ण गोखले के बाद देशबन्धु चितरंजनदास पहले और अन्तिम हिन्दू नेता थे जिन्होंने सही अर्थों में हिन्दुस्तानी राष्ट्रीयता का समर्थन और हिन्दू कम्यूनल पैट्रियट वाली हिन्दू राष्ट्रीयता का विरोध किया। मौलाना आज़ाद, हकीम अजमल खाँ, मौलाना मुहम्मद अली और मि. मुहम्मद अली जिन्ना मिस्टर दास वाली राष्ट्रीयता के ही समर्थक थे। 1920 में उभरने वाला हिन्दू नेतृत्व वर्ग हिन्दू समझौतावादी था, हिन्दू पैट्रियट राष्ट्रीयता विरोधी नहीं। मोतीलाल और जवाहर लाल अपवाद थे। पिता और पुत्र ने निर्णयात्मक परिस्थितियों में चेतन या अचेतन रूप में हिन्दू कम्यूनल पैट्रियट राष्ट्रीयता को रियासतें दीं—एक ने मि. जिन्ना का चौदह सूत्रीय फार्मूले का विरोध करके दूसरे ने कैबिनेट मिशन प्रस्तावों की निराधार व्याख्या करके। जवाहर लाल में शुरू से एक अन्तर्द्वन्द्व था जो उनकी आत्मकथा के पृष्ठों में मुखरित हुआ है। सरदार पटेल हिन्दू साम्प्रदायिक देश भक्त की राष्ट्रीयता के सबसे शक्तिशाली स्तम्भ थे। चूँकि यह सरासर गाँधी जी की राजनीतिक रचना थे और इनके शक्तिशाली होने में उनका योगदान था। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि गाँधी जी विभाजन प्रस्ताव को समर्थित करने से पहले पूर्णतया द्विराष्ट्र के समर्थक हिन्दू साम्प्रदायिक देश भक्त मार्का हिन्दू राष्ट्रीयता के विरोधी थे।

यह अजीब बात है जबकि तथाकथित नेशनलिस्ट मुसलमानों ने मुस्लिम राष्ट्रीयता के समर्थकों—मुस्लिम लीग का दृढ़ता से सार्वजनिक विरोध किया, उनके काँग्रेसी हिन्दू साथियों

ने हिन्दू साम्प्रदायिक राष्ट्रीयता के समर्थकों का विरोध करना तो दूर हमेशा उनसे समझौतावादी दृष्टिकोण अपनाकर उनका प्रोत्साहन किया। जवाहर लाल के मस्तिष्क में एक क्षण के लिए भी मदन मोहन मालवीय और लाजपत राय की देश भक्ति पर शंका नहीं हो सकती थी किन्तु गैर-काँग्रेसी मुस्लिम नेतृत्व की देश भक्ति और राष्ट्रीयता की परिभाषा उनके लिए प्रामाणिक नहीं थी। जिन्ना साहब की बात तो दूसरी ही थी क्योंकि बाद में उन्होंने द्विराष्ट्र का नारा बुलन्द किया किन्तु शेख अब्दुल्लाह का क्या दोष था, उनके राष्ट्रप्रेम में क्या कमी थी जो उन्हें ग्यारह साल जेल में रखकर सदैव के लिए कश्मीर की प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया को आघात पहुँचाया। शेख अब्दुल्लाह जवाहर लाल की इस मानसिकता की निम्न विवेचना करते हुए कहते हैं कि यद्यपि काँग्रेस के हिन्दू नेताओं में जवाहर मिली-जुली राष्ट्रीयता के समर्थक थे किन्तु 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' में वह भी बृहत्तर भारत के प्रतिपादक हिन्दू विचारकों से प्रभावित लगते हैं। जब अल्जियर्स में वह आऊ-एन-लाई से मिले तो उन्होंने भी नेहरू के इस रुख की ओर संकेत किया था। शेख साहब का दावा है कि 1953 से फरवरी 1964 तक उन्हें अकारण जेल में सड़ाने तथा उनके अवामी नेतृत्व शक्ति को बर्दाश्त न कर सकने की पृष्ठभूमि में पं. नेहरू का दोहरा व्यक्तित्व था जो उनकी ग्रेटर इण्डिया की परिकल्पना और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के मध्य दंगल का अखाड़ा बना रहा। "जवाहर लाल के दिल में एक बड़ा साहित्यकार छुपा हुआ था। उनका शानदार और जोरदार अंग्रेज़ी गद्य उनकी लेखनी-शक्ति का साक्षी है। वह अपने को नास्तिक कहते थे, लेकिन हिन्दुस्तान के उस भूत के प्रेमी भी थे और प्रशंसक भी जिसमें हिन्दू-पुनरुत्थान और हिन्दू राज का जादू भी था। उनकी 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' कभी-कभी अनजाने तौर पर ही सही के. एम. मुंशी और दयानन्द सरस्वती जैसे हिन्दू-पुनरुद्धारकों के ऐतिहासिक दृष्टिकोण के निकटतर आ जाती है। वह अपने अस्तित्व को उस प्राचीन साम्राज्य के पुनर्स्थापित करने तथा स्थायित्व देने का हथियार समझते थे। इसलिए उनकी परिकल्पना में मेकाविली की कूटनीति एवं छल-बल के तत्व भी सम्मिलित हो गए थे। यही कारण है कि महात्मा गाँधी जैसे सिद्धान्तवादी का यह चेला एक साथ प्राचीन भारत के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ चाणक्य का बेहद भक्त भी था और उसकी पुस्तक 'अर्थशास्त्र' जिसमें उसने राज्य के प्रपंच के गुर बयान किए गए हैं, जवाहर लाल के अपने स्वीकरण के अनुसार उनके सरहाने पर हुई होती थी। जवाहर लाल ने मेकाविली पद्धति की कूटनीति कश्मीर में हमारे साथ भी बरती, पाकिस्तान के साथ भी बरती और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर हंगरी और दूसरे मामलों में भी उसका प्रदर्शन किया। जवाहर लाल एक बड़े जज़्बाती किस्म के व्यक्ति थे... दरअसल उनमें उस मनमोहक संस्कृति की वज़ादारी (शिष्टता) का प्रभाव स्पष्ट था जो अंग्रेज़ नफासत, हिन्दू कोमलता और मुसलमान शराफत के धागों से बनी थी... वह दोस्त-नवाज़ी में अतिशयोक्ति की सीमा तक जा सकते थे। किन्तु केवल उस स्थिति में जब उन्हें अपने राष्ट्र और अपने व्यक्तिगत हितों पर आँच लगती न मालूम होती थी। जब इसकी आशंका होती तो उनकी आँखें बदल जातीं। जब मैं उनके लिए उपयोगी न रहा तो मुझे जेल भिजवा दिया। बख्शी गुलाम मुहम्मद ने उनके कहने पर अपने हितकारी और अपनी कौम से दगा की। लेकिन जब नेहरू को उनकी भी ज़रूरत न रही तो किसी गले-सड़े फल की तरह

उन्हें भी खिड़की से बाहर फेंक दिया। इसी तरह कृष्ण मेनन सिर्फ़ उनकी नीति चलाते थे। लेकिन जब उनकी अपनी पोजीशन का खतरा हुआ तो बेचारे कृष्ण मेनन को जिसे मैंने कभी नहीं पसन्द किया, बिना किसी झिझक के कुर्बानी का बकरा बनाकर बे-आबरू करके मन्त्रिमण्डल से निकाल दिया”। (पृष्ठ 350-352) किन्तु नेहरू के अन्दर के चाणक्य ने उन्हें कहीं का न रखा। वह चीन के मामले में केवल राजनीतिक तौर पर ही घायल न हुए बल्कि इसका घाव अपने सीने में भी सहलाते रहे। वह गाँधी जी के उत्तराधिकारी की हैसियत से दुनिया भर के नैतिक नेतृत्व के दावेदार थे लेकिन कश्मीर के मामले ने उनकी इस नैतिक पेशवाई को संदिग्ध बना दिया। स्वयं कश्मीर के अन्दर उन्होंने 1953 के हंगामे के बाद अपने पालक-बालकों को जो खेल खेलने की इजाज़त दी थी वह उनकी छवि बिगाड़ने का कारण बन गई थी। वह अपने अन्तिम दिनों में कश्मीर के मामले में अपनी गलतियों का प्रायश्चित्त करने की बड़ी अभिलाषा रखते थे और इसलिए उन्होंने बख्शी गुलाम मुहम्मद को कामराज योजना की कुल्हाड़ी की एक चोट से यहाँ की राजनीति के उद्यान से अलग करके रख दिया। उन्होंने 1964 में मेरी रिहाई के बाद अपने रंज और पश्चाताप की अभिव्यक्ति की और सच्चे दिल से इस गुत्थी का हल सुलझाने के लिए मेरी मदद प्राप्त करना चाहते थे लेकिन इतिहास बड़ा बेरहम है, उसने उन्हें प्रायश्चित्त से पहले ही मौत के हाथों में दे दिया और उनकी दिल ही दिल में रह गई :—मेरी यह आदत नहीं किसी की खातिर रख लूँ मये-शबाना (इक्रबाल) (पृष्ठ 354-355)।

“मौलाना आज़ाद दूसरी ऐसी शख्सियत थे जिनका अस्तित्व हमारे लिए हिन्द से अपनी किस्मत संलग्न करने के सिलसिले में एक बहुत बड़ा आकर्षण सिद्ध हुई थी। मौलाना की विद्वता उनका अद्वितीय चरित्र और इस्लाम पर उनकी गहरी नज़र ने मुझे बहुत प्रभावित किया था। लेकिन विभिन्न कारणों की वजह से मौलाना को राजनीति के मैदान में हार का सामना करना पड़ा था। मुसलमानों ने उनके नेतृत्व में मुँह मोड़ लिया था और इस वजह से उनके मनोविज्ञान पर खासा असर पड़ा था। वह एक बड़े संवेदनशील बुजुर्ग थे और उनके मिज़ाज में एक वज़ादाराना नफासत—पसन्दी मौजूद थी। इन सारी बातों के कारण वह अवाम से कटकर अपने एकान्तवास में शरणार्थी हो गए थे। मैं बहुधा अपनी उलझनों की चर्चा उनसे करता रहता था और उनके मशविरे और निर्देश का आकांक्षी रहता था। लेकिन अपनी वज़ादारी और मनोवैज्ञानिक पराजित भावना के कारण वह हमारा हाथ बँटाने में कामयाब नहीं हो सके। वह आमतौर पर कश्मीर और केन्द्र के कानूनी और संवैधानिक टक्कर में हमारे दृष्टिकोण के समीप रहते थे और हमें उसूल पसन्दी के रास्ते पर डटे रहने की नसीहत करते रहते थे। एक बार मैंने हौसला करके उनसे पूछ लिया कि मौलाना हम तो अपनी सामर्थ्य के अनुसार... ठोंक कर सामने आते हैं लेकिन आप भला केन्द्र में बैठकर क्या कर रहे हैं? मौलाना के आभायुक्त और संवेदनशील चेहरे पर दुःख की एक परछाई लहराई और कहने लगे ‘मेरे भाई मैं तो अब एक रेगिस्तान की आवाज़ बनकर रह गया हूँ। मेरी कौम ने मेरा रास्ता नहीं अपनाया और मैं अब यहाँ एक ऐसी शख्सियत की हैसियत से बैठा हूँ जिसकी पीठ पर कौमी राय का वज़न नहीं है। अब अगर मैं यहाँ धूनी रमाए बैठा हूँ तो सिर्फ़ इसलिए क्योंकि कभी-कभी आँखों का लिहाज़ भी

कर जाता हूँ और मैं कोई माकूल बात मनवाने में कामयाब हो जाता हूँ। लेकिन मुझे बहुत अधिक अपेक्षा नहीं की जा सकती।” सच्चाई भी यही है, वह ग़ालिब के शब्दों का पैकर बन गए थे—“मैं हूँ अपनी शिकस्त की आवाज़”। यह बात कुछ बरस बाद भारत गणराज्य के तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. जाकिर हुसैन ने भी मुझे बताई जब मैं नई दिल्ली की नज़रबन्दी से रिहाई के बाद उनसे मिलने गया। उन्होंने कहा कि “मेरी हैसियत एक आराइशी क़ैदी की-सी है और मेरी बात पर कोई ध्यान नहीं देता”। एक तरफ़ तो बेरहम चाणक्य नीति पर सारा दारोमदार था और दूसरी तरफ़ नैतिकता, ज्ञान में सराबोर मौलाना का महामहिम व्यक्तित्व था। दोनों का मेल मुहाल था।” (पृष्ठ 613-614)

“इस सदी की दूसरी और तीसरी दहाई में जिन्ना साहब ने काँग्रेस में अपने लिए एक खास जगह बना ली थी और श्रीमती सरोजिनी नायडू ने उन्हें हिन्दू-मुस्लिम एकता का दूत कहा था। लेकिन इसके बावजूद उन्हें काँग्रेस की चोटी पर पहुँचने न दिया गया। दूसरी तरफ़ सरदार पटेल और राजेन्द्र प्रसाद जैसे लोग थे जो किसी न किसी तरह अपना अलग-अलग हिन्दू राष्ट्र प्राप्त करना और अपने बुढ़ापे के दिनों में अपने सपनों का हिन्दुस्तान बनाना चाहते थे। तीसरी तरफ़ मौलाना आज़ाद जैसे लोग थे जो यद्यपि यथावत् विभाजन का विरोध कर रहे थे लेकिन जिनका व्यक्तिगत प्रभाव अवामी लोकप्रियता के अभाव के कारण सीमित बल्कि लुप्त हो गया था। सिर्फ़ महात्मा गाँधी ऐसे रहनुमा थे जिन्होंने न अपना राष्ट्रीय दृष्टि-बिन्दु खोया और न संघर्ष का सही परिप्रेक्ष्य। वह मुस्लिम लीग के साथ समझौते की नीति पर चलते रहे और मुसलमानों की शंकाओं का समाधान करने का प्रयास करते रहे... गाँधी जी अपने अन्तिम दिनों में दो अतियों के बन्दी होकर रह गए थे। एक तरफ़ मुस्लिम के लीडर अचानक एक सल्लनत के प्रांगण तक पहुँच गए थे और शीघ्रातिशीघ्र अपनी ताजपोशी कराना चाहते थे... दूसरी तरफ़ महात्मा जी की अपनी पार्टी काँग्रेस ने मानसिक स्तर पर बँटवारे की नैतिकता से समझौता कर लिया था और बूढ़े रहनुमा भी शीघ्रातिशीघ्र इतिहास के पृष्ठों में अपने शासन की कतिपय पंक्तियाँ दर्ज़ करवाना चाहते थे और इस प्रकार महात्मा की बात सुनने के मूड में नहीं थे। वास्तव में हिन्दुस्तानी बुर्जुआ वर्ग शीघ्रातिशीघ्र अंग्रेजों की जगह पैदावार के साधनों एवं सत्ता पर कब्ज़ा करना चाहता था और उसे गाँधी जी की सिद्धान्त-प्रियता अपने लिए एक रुकावट महसूस हो रही थी। बेचारे गाँधी जी एक खिसियानी हँसी के साथ सारी कैफियत देख रहे थे। वह कहते तो किससे? उनकी बात सुनने वाला कोई न रहा था... जिस संगठन को उन्होंने अपने खूने-जिगर से सींचा था... उसके रहनुमाओं के लिए गाँधी जी एक अनाधिकार चेष्टा करने वाले व्यक्ति बन गए थे। वह नेतृत्व की चोटी पर पहुँचकर अब तन्हा रह गए थे और यार लोग अब उन्हें दूर ही से ताक रहे थे। बल्कि कुछ काँग्रेसी रहनुमा तो खुसर-फुसर कर रहे थे कि वह बुढ़ापे में सठिया गए हैं।... उनके पास अपनी जान की सम्पत्ति थी जिस पर उनका बस था। अतः अपने इसी सरमाए को उन्होंने अपने सपने की खातिर क्रातिल की गोली की भेंट चढ़ा दिया”। (पृष्ठ 338-340)

“मुहम्मद अली जिन्ना इस ड्रामे के दूसरे सबसे महत्वपूर्ण चरित्र थे। वह इस सदी की पहली चौथाई सदी में काँग्रेस के रोशन सितारे की हैसियत से चमके। उस समय उनको

एक बड़े देश-भक्त और निडर रहनुमा की हैसियत हासिल थी। वह एक चोटी के वकील और तार्किक थे और उन्होंने बड़ी निर्भयता से अंग्रेजों का सामना किया। काँग्रेस के उच्च नेता उस समय उनकी इज्जत करते थे। किन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि वह किस तरह बे-मुरखती और उपेक्षा से काँग्रेस के धारे से पहले तो अलग हो गए और फिर उसके सबसे बड़े विरोधी बन गए। इतिहास की अजीब क्रूरता है कि वह मुसलमानों के उग्रवादी वर्ग के रहनुमा बन गए जो पाकिस्तान के नाम पर अपना अलग वतन कायम करने पर तुल गया था। जिन्ना साहब अपनी परवरिश और पष्ठभूमि के लिहाज़ से इस वर्ग से कोसों दूर थे। उन्हें इस्लाम के अनिवार्य सिद्धान्तों को जीवन में बरतने से दिलचस्पी न थी। बल्कि वह हिन्दुस्तान में इस्लामी कल्चर की ज़बानों यानि अरबी, फारसी और उर्दू से भी अज्ञान थे। उनके बारे में हिकायतें मशहूर हैं कि जब उन्हें कभी नमाज़ अदा करनी पड़ती तो वह किस तरह मुश्किल में पड़ जाते थे। लेकिन इसके बावजूद वह पाकिस्तानी विचारधारा के सबसे बड़े अलम्बरदार बन गए थे और मैं इस विचार से सहमत हूँ कि उनकी महान तल्लीनता और लगन के बिना पाकिस्तान की प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकती थी। उनके आत्मविश्वास और लक्ष्य के एकाकीपन का एक सबसे बड़ा कारण तो यही था कि वह बड़े दृढ़चित एवं धुन के पक्के व्यक्ति थे। इसके अतिरिक्त काँग्रेसी रहनुमाओं के तिरस्कारपूर्ण सुलूक ने उनके ईगो को इस हद तक चोट पहुँचायी थी कि उनके अन्दर अपने व्यक्तित्व को मनवाने की एक प्रबल इच्छा हो गयी थी। मनोविज्ञान के विशेषज्ञों के अनुसार घृणा, प्रेम से अधिक शक्तिशाली भावना है। इसलिए जिन्ना साहब के सर पर भी यही धुन सवार हो गई और उनकी पाकिस्तान की सर्जना घृणा के इसी सागर मंथन से बरामद हुई।” (पृष्ठ 340-341)

“जिन्ना साहब से मिलता-जुलता डॉ. अम्बेडकर का उदाहरण भी है।” अम्बेडकर शुरू में गाँधी जी की उपेक्षा के कारण उनसे नाराज़ थे। लेकिन स्वतन्त्रता के उदय के समय जवाहर लाल नेहरू उन्हें किसी तरह अपने साथ लाने में सफल हो गए। उन्होंने भारत के संविधान के निर्माण में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। किन्तु एक दिन ऐसा भी आया जब वह काँग्रेस छोड़ने पर विवश हो गए और उन्होंने अपने हज़ारों साथियों समेत बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। जिन्ना साहब के चरित्र को समझने के लिए इस बात का भी लिहाज़ रखना चाहिए कि पाकिस्तान के अस्तित्व में आने के बाद जब उनका घायल ‘अहम्’ सन्तुष्ट हो गया तो उन्होंने द्विराष्ट्र सिद्धान्त को त्याग दिया। उन्होंने अपने एक भाषण में कहा कि हम में से अब कोई हिन्दू या मुसलमान नहीं बल्कि हम सब पाकिस्तानी हैं। जिन्ना साहब पश्चिम के लिबरलिज़्म की उपज थे। यूँ लगता है कि वह जीवित रहते तो पाकिस्तान में राजनीति का रुख कुछ और होता”। (पृष्ठ 341-342)

“सरदार पटेल पर हिन्दू-पुनरूत्थानवादी विचारों की छाप थी। वह हर मसले को हिन्दुओं के हित के दृष्टिकोण से देखने के आदी थे और कट्टर हिन्दू-साम्प्रदायिकतावादी दल उन पर बहुत विश्वास करते थे। वह राजनीतिक एवं आर्थिक दोनों दृष्टिकोण से पक्के प्रतिक्रियावादी थे और प्रगतिशील दलों से कम ही सम्बन्ध रखते थे, बल्कि उन्हें पूर्णतया नापसन्द करते थे। सरदार पटेल मुँहफट थे और अपने हार्दिक मनोवेगों को कम ही छुपाते

थे। जहाँ तक उनसे पड़ता अपने विरोधियों पर वार करते। मुसलमानों पर उनका विश्वास बहुत कम था और साम्प्रदायिक दंगों में वह हिन्दू सम्प्रदायवादियों की पीठ ठोकने से बाज़ नहीं रहते थे। एक बार जब मैं उनके पास बैठा हुआ था तो वह बोले कि पाकिस्तान को खत्म करने का एक ही तरीका है और वह यह है कि जितनी तादाद में हो सके मुसलमानों को हिन्दुस्तान से पाकिस्तान में धकेला जाना चाहिए ताकि पाकिस्तान उनके बोझ तले ही दबकर रह जाए और मजबूर होकर हिन्दुस्तान के आगे घुटने टेक दे। साफ़ जाहिर था कि उन दिनों दिल्ली और आस-पास के इलाकों में जो हिन्दू-मुस्लिम दंगे हो रहे थे उनके पीछे सरदार पटेल की राजनीति कार्यरत थी। अतः उन्होंने इसी जमाने में लखनऊ में मुसलमानों के खिलाफ़ एक जहरीली तक्रर की। महात्मा गाँधी ने इस तक्रर की रिपोर्ट सुनी तो उन्हें बहुत दुःख हुआ। एक बार जब मैं गाँधी जी के पास बैठा हुआ था तो सरदार पटेल की इस तक्रर का बातों-बातों में ज़िक्र आ गया। गाँधी जी की आँखों में आँसू डबडबा आए और कहने लगे कि सरदार की जबान में काँटे हैं। बाद में इस भाषण पर सरदार की भर्त्सना की”। (पृष्ठ 343-344)

“सरदार और जवाहर लाल में जमीन व आसमान का फ़र्क़ था। जवाहर लाल का जन्म और परिवार एक ऐसे खानदान में हुई थी जो हिन्दू-मुस्लिम मिली-जुली संस्कृति का हिंडोला था। उनके बाप पं. मोती लाल फारसी और उर्दू के विद्वान थे। उनकी मित्र मण्डली में मुसलमानों की बड़ी तादाद शामिल थी। कश्मीरी होने के नाते उनमें रवादारी (सहिष्णुता) और उदारता के गुण भी मौजूद थे। इसके विपरीत सरदार का पालन-पोषण एक शुद्ध हिन्दुवाना माहौल में हुआ था। फिर सरदार अपने आपको भारत के प्रधानमंत्री के पद का वास्तविक अधिकारी और हिन्दुओं की उमंगों का प्रतिनिधि समझते थे। जवाहर लाल से वह उम्र में भी बड़े थे। इसलिए जवाहर लाल के प्रधानमंत्री बनने को वह अपना अधिकार मारा जाना समझते थे और दिल ही दिल में कुदृते रहते थे। लेकिन यह मानना पड़ेगा, जहाँ जवाहर लाल एक स्वप्नद्रष्टा सिद्धान्तवादी थे वहीं सरदार एक सुलझे हुए प्रशासक और पक्के यथार्थवादी थे। सरदार जवाहर लाल ही को नहीं बल्कि उनके दोस्तों और कद्रवानों को भी अपना विरोधी समझते थे। मेरे और जवाहर लाल दोनों की रगों में कश्मीरी खून था और विचारों की दृष्टि से भी हम एक दूसरे के बहुत निकट थे। इसलिए सरदार को मेरा और जवाहर लाल का मेल-जोल पसन्द न रहा और वह मुझे अपने विरोधियों के दिल में शुमार करते थे। दुर्भाग्यवश मेरा टकराव कश्मीर में एक हिन्दू महाराज और उसके माध्यम से हिन्दू-निहित स्वार्थों के साथ था। यह भी मेरे और सरदार के मध्य झगड़े का एक बहुत बड़ा कारण था। एक बार का वाकिआ है कि केन्द्रीय गुप्तचर विभाग के एक उच्च अधिकारी वालिया ने जब लगातार मेरे और मेरी सरकार के विरुद्ध निराधार रिपोर्टें भेजने का सिलसिला जारी रखा तो हमने उसको रियासत से बाहर जाने का आदेश दे दिया और आदेश के पालन के लिए चौबीस घंटे की अवधि रखी। सरदार केन्द्रीय गृह मंत्री थे और इस हैसियत से गुप्तचर विभाग उनके पास था। सरदार को हमारा यह क्रदम बहुत नागवार गुज़रा और इस तरह से दिल्ली के प्रांगणों में एक भूचाल पैदा हो गया। अतः इस गुत्थी को सुलझाने के लिए जवाहर लाल ने हमें दिल्ली आने का आमन्त्रण दिया। मेरे साथ बख़्शी और बेग

साहब भी थे। सरदार पटेल के घर में एक मीटिंग हुई जिसमें जवाहर लाल, मौलाना आज़ाद, गोपालास्वामी आयंगर ने भी हिस्सा लिया। बात चल निकली तो हमने इस कार्यवाही के कारण बयान किए। इस पर सरदार बोले, “मैंने कई बार जवाहर लाल से कहा है कि हमने कश्मीर का जो जुआ खेला था, उसमें हम असफल हो गए हैं। हमें उसको छोड़ देना चाहिए।” सरदार ने बड़े दुःख के साथ यह भी कहा था कि “चन्द दिन पहले कश्मीर की महारानी मेरे पास आयीं और अपनी दुःख भरी कहानी कहते-कहते इस सोफे पर मूर्छित होकर गिर गयीं। क्योंकि महाराजा हरी सिंह को रियासत से बाहर जाने के लिए कहा गया था”।

“अब मुझसे रहा न गया और मैं बोला, आपको महाराजा और महारानी के साथ इस क्रूर सहानुभूति है, क्या आपके दिल में उन हज़ारों बेगुनाहों के लिए भी कोई भावना विद्यमान है जिनको इन दोनों ने जम्मू के इलाकों में मौत के घाट उतार दिया?” सरदार बोले, “बेहतर यही है कि हम एक दूसरे से अलग हो जाएँ।” मैंने जवाब दिया, “कश्मीर के लोगों ने आपके साथ आदर्शों की समदृशता के आधार पर हाथ मिलाया है, आप अब अपना हाथ खींच लेना चाहते हैं तो आपका अधिकार है। लेकिन हमने आपसे व्यक्तिगत तौर पर हाथ नहीं मिलाया बल्कि हिन्दुस्तान के अवाम के साथ रिश्ता जोड़ा है। यह सवाल उन्हीं पर छोड़ देना चाहिए। हम भी अपना केस उनके सामने रखेंगे। आप भी अपना दृष्टिकोण उनके सामने रखिए। जो उनका फैसला होगा हमें वह मंजूर है”। सरदार इस पर चुप हो गए। लेकिन जवाहर लाल मेरी गर्दन में हाथ डालकर मुझे एक कोने में ले गए। वह बोले वातावरण में कुछ कटुता पैदा हो गई है अतः इस मामले को यहीं छोड़ दिया जाना चाहिए। मैंने जवाब दिया कि “हम रिश्ता तोड़ना नहीं चाहते लेकिन अगर सरदार को यह रिश्ता पसन्द नहीं तो फिर हम क्या कर सकते हैं। अधिमिलन के मसौदे की दृष्टि से केन्द्र कश्मीर में केन्द्रीय गुप्तचर विभाग के दफ़्तर स्थापित नहीं कर सकता। यह मात्र हमारी शराफत थी कि हमने उन्हें वहाँ काम करने की इजाज़त दी। लेकिन हम यह हरगिज़ न चाहेंगे कि यह अधिष्ठान हमारे और केन्द्रीय सरकार के मध्य कटुता उत्पन्न करने का कारण बने। फिर भी अगर आप चाहते हैं कि वालिया को हम फिर से काम करने की इजाज़त दें तो हमें कोई आपत्ति नहीं होगी। लेकिन उसको भी आदेश दिया जाए कि वह गलत क्रिस्म की रिपोर्ट केन्द्र को भेजने की शरारत न दोहराए।”

“सरदार पटेल मेरे किस क्रूर खिलाफ़ थे इसका अन्दाजा बी.एन. मलिक की पुस्तक ‘माई इयर्स विद नेहरू’ (My years with Nehru) को पढ़ने से होता है। यह हज़रत बाद में सेन्ट्रल इन्टेलिजेन्स ब्यूरो के डायरेक्टर हो गए। उनको सरदार ने मेरे खिलाफ़ खूब पट्टी पढ़ाई थी जिसके नतीजे में उन्होंने मेरे खिलाफ़ गलत-सलत रिपोर्ट केन्द्र को भेजनी शुरू की और जवाहर लाल के दिल में मेरे खिलाफ़ जहर भरना शुरू किया। यहीं से दरअसल 1953 ई. की साज़िश के आरम्भिक बीज बोए गए। जब सरदार पटेल और केन्द्रीय गृह विभाग में उसकी मानसिकता के अधिकारियों ने मुझे हटाने और एक समानान्तर नेतृत्व को अस्तित्व में लाने के लिए प्रयत्न शुरू किए। उन्हीं दिनों सरदार पटेल और उनके गिरोह ने बख़्शी गुलाम मुहम्मद को राजनीतिक तौर पर गोद ले लिया और उसकी पीठ थपथपानी शुरू कर दी।” (पृष्ठ 345-346)

(3)

संस्कृत कवियों ने सौंदर्य को लावण्य के रूप में परिभाषित किया है। सौन्दर्य क्या है यद्यपि यह प्रश्न उतना ही कठिन है जितना कि आत्मा क्या है। कुछ भी हो इतना तो अवश्य स्पष्ट है कि हमारे प्राचीन मनीषी कोरे दार्शनिक या अध्यात्मवादी ही न थे, काफी शौकीन भी थे। जीवन और साहित्य के लावण्य के श्रोत हैं—हास्य, व्यंग्य। हमारे आधुनिक महापुरुषों में विनोबा भावे और मोरारजी भाई के अतिरिक्त सम्भवतः किसी ने हास्य व्यंग्य से परहेज़ नहीं किया। गाँधी जी का ह्यूमर तो सर्वविदित है। मध्यकाल में वही सफल दरबारी हो सकता था जो अनिवार्यतः विटी भी हो। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक से इस सदी के आरम्भिक दो-तीन दशकों में यूरोप में इस प्रकार जीवनियों और आत्मकथाओं की रचनाएँ हुई हैं कि एक अनुमान के अनुसार हर चार प्रकाशित पुस्तकों में एक जीवनी या आत्मकथा रही है। 'आतिशे-चिनार' में हास्य-विनोद के अनेक स्थान हैं। कई बार तो लेखक इनके सुराग में इतिहास के पन्नों को भी खँगालने लगता है। एक भरपूर ज़िन्दगी जीने वाले व्यक्ति के लिए यह लगभग असम्भव है कि वह जीवन के इस महत्वपूर्ण पक्ष को नज़रंदाज़ कर दे। पुस्तक के अन्तिम अध्याय में कश्मीर के विशिष्ट राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में जहाँ कश्मीरी पण्डित वर्ग की महत्ता का विशद वर्णन किया गया है वहाँ इस वर्ग के बौद्धिक योगदान, व्यावहारिक सूझ-बूझ और वाक्पटुता और हाज़िर-जवाबी के अनेक उदाहरण भी पेश किए गए हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि डॉ. इक़बाल की तरह शेख अब्दुल्लाह को भी अपने कश्मीरी ब्राह्मण मूल पर गर्व है।

“कश्मीर छोड़ दो आन्दोलन के उपरान्त शेख अब्दुल्लाह अपने साथियों मिर्ज़ा अफ़जल बेग, पण्डित कश्यप बन्धु, सरदार बुध सिंह और ख़्वाजा गुलाम नबी उर्फ़ नबजी समेत रियासी उपजेल में हैं। गर्मियों के दिन हैं। जेल में सर्वत्र मच्छरों, साँप-बिच्छुओं का बोलबाला है। रेडियो और अख़बारों की भी सुविधा नहीं है—

“लेकिन एक बात बहुत अच्छी थी, मेरे साथियों ने डेरा ख़ूब सजाया था। जिस कोठरी में मुझे बिठाया गया वह मेरे साथियों का गोदाम घर था। फर्श पर विभिन्न प्रकार की हाँडियाँ रखी हुई थीं और दीवारों पर पुड़ियाँ कतार दर कतार लगी हुई थीं। मुझे शौक चर्चाया कि जरा देखूँ हाँडियों इत्यादि में क्या रखा हुआ है? जब उनके ढक्कन खोले तो क्या देखता हूँ कि इनमें भाँति-भाँति की पुड़ियाँ रखी हुई हैं। उनको खोला तो किसी में लौंग और दूसरे गरम मसाले पाए और बहुत सी चीजें फर्श से लटक रही थीं। कुछ और हाँडियों में खाण्ड, सूजी, घी इत्यादि रखे हुए थे। गरज़ कि कमरा क्या था, विधिवत पन्सारी की एक दुकान थी। मैंने अपने साथियों से पूछा—‘भई यह पन्सारी की दुकान क्यों और किसलिए सजाये रखी है?’ सरदार बुध सिंह मुस्काराते हुए बोले, ‘ये मेरे दो साथी जो जेल में बचत करने के लिए आए हैं खुद खाते-पीते तो हैं नहीं। अपने राशन के पैसों से ऊल-जुलूल चीजें मँगवाते रहते हैं और इसमें से थोड़ा खर्चा करके बाकी हिफाज़त से रख देते हैं। बाद में महीने भर के बाद इसे बाज़ार में बिकने के लिए भेज देते हैं और इसे नक़दी में तब्दील करते हैं। हद तो यह है कि अस्पताल से ये शीखों के बन्डल ला चुके हैं और सम्भवतः

उनको भी बाद में नगद नारायण की शक्ल देंगे।” सरदार साहब खामोश हुए तो बन्धु जी एक कोने से बोल उठे “सरदार साहब अनाप-शनाप बोल रहे हैं। यह खुद तो रोज़ हलवा दुलिया चटखारे लेकर चट कर जाते हैं और फिर दुनिया को बताते हैं कि मैं त्यागी हूँ और पेट पर पत्थर बाँधे रहता हूँ।” इस पर क्रहक्रहे छूटे और खूब हँसी-मज़ाक़ रहा। लेकिन मैंने एक बार कश्यप बन्धु से पूछ ही लिया कि आख़िर इस कार्य-प्रणाली का उद्देश्य क्या है? अब बन्धु जी बड़ी गम्भीर मुद्रा बनाकर डॉटने के अन्दाज़ में कहने लगे, “भई तुम मुसलमान लोग सिर्फ़ पेट पूजा की फ़िक्र में लगे रहते हो। जो भी हाथ आया चुटकियों में उड़ा देते हो। तुम्हें कभी कल की चिन्ता की तौफ़ीक़ नहीं हुई। आख़िर हम जेल में आए हैं और क्या पता हमें कब तक यहाँ सड़ना पड़े। इसलिए ख़ैरियत इसी में है कि हम यहाँ भी कुछ पैसा पूँजी जमा कर लें ताकि जब जेल से बाहर जाएँ तो ठन-ठन गोपाल की तरह ख़ाली हाथ न जाएँ।” मैं इस तर्क पर खूब हँसा। बहरहाल बात आई-गई हुई। अलबत्ता उन्होंने जो ख़ाँड इत्यादि जमा की थी उसका मैं हलवा बनाता रहा। उन्हें भी खिलाता और खुद भी खाता। बेचारे कश्यप बन्धु विवश होकर मेरे साथ बैठकर खाते थे लेकिन बक्रौल शाइर “कुछ दिल ही जानता है किस दिल से बैठे हैं।” (पृष्ठ 373-374)।

शेख़ साहब, नबजी, कश्यप बन्धु, मिर्जा अफज़ल बेग अब भद्रवाह जेल में हैं। विभाजन हो गया है। उपमहाद्वीप में खून की नदियाँ बह रही हैं। भद्रवाह में भूचाल के तीव्र झटके आने शुरू हो गए हैं। लोग डर के मारे अपने घरों से बाहर मैदानों में आ गए हैं।

“भूकम्प का ज़बरदस्त धक्का आया तो हम चारों साथी झट से सेदन में निकल खड़े हुए। हमारी निगाहें किले के कंगुरों की तरफ़ लगी हुई थीं। बेग साहब भूचाल से बहुत डरते हैं। वह काफी घबरा गए। कश्यप बन्धु उनके पीछे खड़े थे। उनके हाथ में चाय की गर्म प्याली थी। उनकी नज़र किले की कंगुरों पर लगी थी लेकिन कभी-कभी घबराहट में चाय की चुस्की भी ले लेते और बेग साहब की गर्दन पर टिप-टिप गिर रहे थे। बेग साहब ने कंगुरों से तो नज़र नहीं उठाई लेकिन चिल्ला उठे, “भई तुमने तो मुझे जला दिया।” कश्यप बन्धु जवाब दे रहे थे “मेरी नहीं भूचाल की करतूत है।” उधर झटकों पर झटके लग रहे थे। हमारा बावर्ची एक हिन्दू था। हम उसको बाहर आने के लिए कह रहे थे लेकिन वह न माना और बड़े ज्ञानी-ध्यानी का रूप धारण करके बोला कि “परमात्मा जो करता है वही होगा। उसके अलावा किसी से डरना नहीं चाहिए।” लेकिन जब झटके जरा-सा तेज़ हो गए और कंगुरों से ईंटें गिरने लगीं तो पण्डित जी महाराज की सारी शेख़ी हवा हो गई। वह डर के मारे... काँपने लगे। घुटनों-घुटनों चलते हुए और राम-राम करते हुए वह सीढ़ियों से नीचे आ गए। महाशय का रंग फक्क हो चुका था। सीधे हमारे पास पहुँचकर बीच में घुस गए... स्थिति बिगड़ती जा रही थी और हमारी जान के लाले पड़े हुए थे। बाहर निकलने का कोई रास्ता न था। हमने जेलर से बहुत अनुनय-विनय किया कि दरवाज़ा खोलकर हमें मैदान में ले जाएँ, लेकिन उसने सुपरिटेन्डेंट के आदेश के बिना ऐसा करने से इनकार कर दिया। मरता क्या न करता। हमने दरवाज़ा तोड़ना शुरू किया। लेकिन दरवाज़ा भी ख़म ठोक कर खड़ा रहा। अन्त में जब हालात अत्यन्त नाजुक हो गए तो दरवाज़ा किसी न किसी तरह खुल गया और हम दूर मैदान में जाकर प्रकृति के इस

प्रतापवान तरंग का अवलोकन करने लगे। सुपरिटेन्डेंट जेल में एक स्थानीय डॉक्टर था। हमारा पता लेने के लिए आ पहुँचा और हमारी हालत देखकर दूर से ही कहने लगा कि घबराने की ज़रूरत नहीं। हम एक ऊँची सतह के मैदान में खड़े थे और डॉक्टर साहब हमारी तरफ ऊपर आ रहे थे। वह हमें तसल्ली देते हुए ऊपर आने लगे कि भूकम्प का एक झटका आया। बेचारे डॉक्टर साहब औंधे होकर रह गए और नीचे लुढ़कते चले गए। अब हमारी बारी थी, उन्हें दिलासा देने लगे कि घबराइए मत। सब खैरियत है। बहरहाल हम एक महीने तक शामियानों में रहे। जब भूकम्प के झटके थम गए तो हम वापस किले में दाखिल कर दिए गए। उन दिनों की एक और मज़ेदार घटना मेरे मस्तिष्क पटल पर उभर रही है। हमें जो राशन एलाउंस मिलता था उसका हिसाब-किताब हमने पण्डित कश्यप बन्धु के सुपुर्द कर दिया था। वह जेलर के जरिए नित्य प्रति की आवश्यक वस्तुएँ मँगवाया करते थे और उनका हिसाब रखते। एक दिन मैंने अपने कमरे में ऊँची आवाज़ से चख-चख की आवाज़ सुनी। बाहर आकर देखा कि बन्धु जी जेलर के साथ सख्त तेज़कलामी कर रहे हैं। हमने पूछा कि माजरा क्या है? बन्धु जी बोले “मैंने सुबह जेलर से सिगरेट की डिबिया लाने के लिए कहा था, लेकिन इसने अनसुनी कर दी और मैं सुबह से सिगरेट के एक कश के लिए तड़प रहा हूँ।” मैंने मामला खत्म करने के उद्देश्य से कहा “कोई बात नहीं है मैं बेग साहब से एक सिगरेट लाता हूँ। रात भर गुजारा कीजिए और फिर सुबह जेलर से दो डिब्बे सिगरेट वसूल कीजिए।” मामला रफा-दफा हुआ और बन्धु जी कोने में संध्या में लग गए। मुझे किसी चीज़ के लिए उनके कमरे में जाने की ज़रूरत पड़ी। कमरे में मेरी नज़र एक कोने में लटके हुए एक थैले पर पड़ी। मैंने थैले को खोला तो मेरी आँखें आश्चर्य से खुली की खुली रह गई क्योंकि इस थैले में सिगरेट के एक नहीं दो नहीं पूरे सत्तर डिब्बे सुरक्षित रखे हुए थे। मैं उल्टे पाँव बेग साहब के कमरे में गया, उनको सारा माजरा सुनाया और सिगरेट का थैला उनके सामने रखा। बेग साहब को शरारत सूझी। हमने सिगरेट थैले से बाहर निकाल लिए और हमारे पास फटे-पुराने जितने जूते थे उनको थैले में बन्द करके बन्धु जी के कमरे में उसी जगह लटका दिया जिस जगह यह रखा हुआ था। दूसरे दिन फैसले के मुताबिक जेलर बन्धु जी के लिए सिगरेट के दो डिब्बे ले आया। बन्धु जी खरामाँ-खरामाँ एक डिबिया को थैले में रखने के लिए चले। हम चुपके-चुपके उनको ताक रहे थे। जब उन्होंने वह थैला खोला तो उन पर अर्ध-मूर्छा सी छा गई। लेकिन हमसे कुछ कहते नहीं बनी। चन्द दिन गुजर गए तो हमारे पास आकर बैठ गए और मुस्कराने लगे। हमने पूछा मुस्कराहट किस खुशी में है तो बोले कि सब कुछ मालूम होने के बावजूद चुप साधे बैठे हो। हमने जान-बूझकर अनजान बनते हुए कहा कि हमें तो कुछ भी नहीं मालूम। बहरहाल बड़ी चिरौरी-मिन्नत की तो मेरा दिल पसीज गया और हमने उन्हें सिगरेट वापस कर दिए। लेकिन उन्हें सिगरेट लौटाते हुए मैंने उनसे पूछा कि “क्या आपका इरादा सिगरेट की दुकान चलाने का है?” बन्धु जी ने रियासी जेल वाला जवाब दोहराया और कहा “तुम मुसलमानों ने तो कभी कल की चिन्ता की ही नहीं है। आखिर हम जेल में हैं और कमाई का कोई माध्यम नहीं। अगर चौरसिया ने सिगरेट बेच-बेच

कर लाखों रुपये बना लिए तो मैं भी कुछ न सही घर जाकर सिगरेट की दुकान ही करूँगा।”
(पृष्ठ 377-380)

‘आतिशे-चिनार’ में 1953 से श्रीनगर और दिल्ली के मध्य होने वाला संघर्ष एक ऐतिहासिक वृत्तान्त के माध्यम से वर्णित किया गया है।

“यहाँ पर हमें फिर इतिहास की तरफ प्रत्यागमन करके देखना पड़ेगा कि दिल्ली के किसी शासक का कश्मीर के साथ यह पहला विश्वासघात नहीं था, इतिहास अपने आपको दोहरा रहा था। अकबर महान जैसे प्रतापी सम्राट ने 1586 में इसी तरह यहाँ के अन्तिम स्वतन्त्र शासक युसुफ शाह चक को चकमा देकर दिल्ली बुलाया और वहाँ उसे नैतिकता और शराफत का उल्लंघन करते हुए नजरबन्द कर दिया। ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया के प्रसिद्ध लेखक विन्सेंट स्मिथ को लिखना पड़ा कि यह अकबर महान के दामन पर एक बहुत बड़ा दाग है।” (पृष्ठ 656)

‘आतिशे-चिनार’ का लेखक ‘डिस्कवरी ऑफ इण्डिया’ के लेखक की तरह अकबर महान को अपना हीरो नहीं समझता, उसका हीरो अकबर का पूर्ववर्ती कश्मीरी सुल्तान जैनुल आबिदीन है जिसने “जगन्नाथ पुरी, दिल्ली और गुजरात तक अपने मिशन भेजे और रूठे हुए कश्मीरी ब्राह्मणों को वापस कश्मीर आने पर आमदा कर लिया। हिन्दुओं की पवित्र पुस्तकों की विशिष्ट पाण्डुलिपियाँ जिनमें अथर्ववेद की पाण्डुलिपि भी सम्मिलित है खास तलाश के बाद कश्मीर लाया। कश्मीर में उन ब्राह्मणों को उच्च पदों पर नियुक्त किया और उनको जागीरें दीं... सच तो यह है कि हिन्दुस्तान में सचमुच की सेक्युलर परम्पराओं की बुनियाद सुल्तान जैनुल आबिदीन बादशाह ने डाली। इस सिलसिले में यह बात बड़ी दुखदायक है कि हिन्दुस्तान के इतिहास में इस महान कश्मीरी की महान उपलब्धियों को अभी तक उचित स्थान नहीं प्राप्त हुआ है। उसके एक सौ साल बाद मुगले आजम अकबर बादशाह ने मात्र उसका अनुकरण किया। मुगल बादशाह यद्यपि धर्म की दृष्टि से मुसलमान थे किन्तु कश्मीर में उनकी राजनीति का सारा अन्दाज साम्राज्यवादियों का-सा था। उन्हें मालूम था कि मुसलमान अमीरों और जागीरदारों ने उनके अत्याचारों का विरोध किया है। इसलिए उन्होंने कश्मीरी पण्डितों पर अधिक भरोसा किया और सबसे पहले कश्मीरियों में भेद-भाव का बीज इसी राजनीति की अपेक्षाओं के अनुसार बोया गया। पण्डितों की सरपरस्ती करके मुगल बादशाहों ने उनकी अल्पसंख्यक-ग्रंथि को उभारा और उन्हें दिल्ली के मुखबिरों की हैसियत से प्रोत्साहन देना शुरू किया।” (890)

यह बात भी कम अर्थपूर्ण नहीं कि ‘आतिशे-चिनार’ का आरम्भ में कल्हण पण्डित के “कश्मीर जिसे आध्यात्मिक खूबियों से तो परास्त किया जा सकता है, ...किन्तु तलवार के बल से... कदापि नहीं” कथन से होता है और अन्त फारसी के प्रसिद्ध सूफी कवि मौलाना जलालुद्दीन रूमी के निम्न शेर पर—

तू बराए वस्ल कर्दन आमदी।
नय बराए फस्ल कर्दन आमदी।।
(तू मिलन कराने के लिए आया है
न कि वियोग कराने के लिए)

‘आतिशे-चिनार’ आदर्शों के शील भंग के परिणाम स्वरूप उत्पन्न मोहभंग की कहानी भी है। किन्तु शेख अब्दुल्लाह की महानता इसमें थी कि बार-बार मित्रों और साथियों के विश्वासघात के बावजूद उनकी आस्था के कदम न डगमगा सकें—

“मैंने अपने भारतीय दोस्तों से कहा कि मेरा भारत के साथ अधिमिलन होने पर मतभेद नहीं है। अलबत्ता अधिमिलन की सीमाओं पर अवश्य उनमें और मेरे बीच मतभेद है। हमने 1947 में अधिमिलन की सीमाएँ तय करके उसे परस्पर समझौते की दृष्टि से जिस प्रकार धारा 370 के रूप में निश्चित किया था, भारतीय नेताओं ने बलात् और अवैधानिक तरीक़े पर उसको मनमानी करते हुए विकृत कर लिया है। यही बात हमारे रास्ते अलग होने की बुनियाद बनी। अब यदि उन शर्तों को पुनः बहाल किया जाए तो हमारे आपसी मतभेद दूर हो सकते हैं।” (पृष्ठ 835-836)।

फरवरी 1975 में होने वाले कश्मीर समझौते को शेख साहब ने उद्देश्यों का नहीं बल्कि कूटनीति का परिवर्तन कहा है। साथ ही इसे इस बहाली की दिशा में एक पुनः प्रयास भी बताया है।

आतिशे-चिनार (उर्दू)/ शेख मुहम्मद अब्दुल्ला/ गुलशन बुक्स, रेजीडेंसी रोड, श्रीनगर/ पहला संस्करण-1976

कृति विकृति और संस्कृति की पहचान का संघर्ष

✍ जीतेन्द्र गुप्ता

‘विकृति की भी आदत संस्कृति कहलाती है और संस्कृति भी एक सीमा तक विकृति का कारण बनती है।’

प्रो. सत्यप्रकाश मिश्र की पुस्तक ‘कृति विकृति संस्कृति’ को समकालीन संदर्भों के साथ पढ़ना एक बृहतर परिप्रेक्ष्य को एक जटिल परिवेश में समझना तो है ही, लेकिन इसके साथ समकालीन और सामयिक में अंतर करते हुए भविष्य की संभावनाओं को भी टटोलना है। साहित्य में आलोचना विधा ही सबसे लोकतांत्रिक विधा है, जिसका विस्तार मुक्त चिंतन से लेकर सिद्धांतबद्धता तक, कृति संकेंद्रण से लेकर बौद्धिक (उर्वरता) विचारों के मूल्यांकन तक है। ‘कृति विकृति संस्कृति’ वास्तविकता में साहित्य के इस विधागत लोकतंत्र का अपूर्व उदाहरण है। इसमें जहाँ एक ओर ‘काल की धारणा और काव्य सृजन की समस्या’ जैसा मृक्त चिंतनधर्मी निबंध शामिल है, वहीं कठोर सिद्धांतबद्धता (अकादमिक अनुशासन) में बद्ध लेख ‘मार्क्सवादी साहित्य चिंतन’ में ‘वस्तु’ और ‘रूप’ संकलित है। महादेवी वर्मा की काव्य मीमांसा करके लेखक ने छायावाद और महादेवी वर्मा के कवि कर्म पर सार्थक रचनात्मक टिप्पणी की है, तो डॉ. रामविलास शर्मा से लेकर नामवर सिंह जैसे आलोचकों की सार्थक ‘आलोचना’ भी इस पुस्तक में मौजूद है। इस तरह विनोद तिवारी की प्रस्तुति में यह पुस्तक ‘थीसिस, एंटीथीसिस और सिंथीसिस’ का ही प्रतिरूप होकर सामने आती है।

साहित्य चिंतन के इतिहास में सृजन की प्रकृति को समझना सर्वाधिक जटिल मुद्दा रहा है। मनुष्य पल प्रतिपल अनुभव समृद्ध ही होता है। लेकिन अनुभव की क्रमानुक्रमता में किसी एक अनुभव काल की क्या विशेषता होती है कि वह सृजन का क्षण हो जाता है। इसी समस्या को वर्ड्सवर्थ ने कविता की परिभाषा करते हुए सुलझाने की कोशिश की थी, जिसमें उनका कहना था कि वह ‘भावनाओं का शक्तिशाली वेगपूर्ण प्रवाह’ होती है। जाहिर सी बात है कि इस व्याख्या में अनुभव को तो मान्यता दी गई है (क्योंकि अनुभव से ही भावनाओं का उत्पन्न होना संभव है), लेकिन इसमें न तो सामाजिक परिवेश व स्थिति को और न ही सृजन में विद्यमान तार्किकता को, किसी को भी नहीं मान्यता दी गई है। प्रो. मिश्र ने अपने निबंध ‘काल की धारणा और काव्य सृजन की समस्या’ में विभिन्न संदर्भों के साथ साहित्य सृजन की पूर्वोक्त समस्या को हल करने का प्रयास किया है। वास्तविकता में लेखक ने इस समस्या को हल करने के लिए सृजक के आस्तित्विक बोध को मूलाधार बनाया है, लेकिन ध्यान रखने की बात यह है कि सृजक का यह आस्तित्विक बोध ‘आस्तित्विक बोध’ नहीं है। ‘संसार की दृष्टि में मर जाने से तात्पर्य संसार में न होना है और वस्तुतः

चेतना की विशेष स्थिति या बिन्दु पर पहुँचकर जब हम एकाएक न होने में छलौंग लगा देते हैं, या कुछ कौंध जाता है तो वह हमारे पूरे चिंतन की प्रक्रिया को बदल देता है। इस प्रकार काल के उस अनंत समुद्र में वह मोती एकाएक ही उछलता है, उसे हम आँचल पसारकर आत्मबलिदान करके स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार क्षण-सृजन और आत्म बलिदान का घना रिश्ता है। व्यक्ति जो कुछ भी पाता है वह काल यज्ञ में आत्माहुति से ही पाता है।' (पृ. 2) और इसके आगे, 'क्षण की कौंध अनुभव के रूप में नहीं व्यक्तित्व के रूप में महत्वपूर्ण होती है। वह स्मृति के रूप में व्यक्ति की प्रक्रियागत सुख की प्रतीति भी कराता है और सृजन की शर्त के रूप में आत्महनन या आत्महत्या की भी।' (पृ.3) इसी विश्लेषण के विस्तार में मुक्तिबोध द्वारा व्याख्यायित सृजन के तीन क्षणों की भी लेखक ने मीमांसा की है। इसी विश्लेषण के विस्तार में मुक्तिबोध द्वारा व्याख्यायित सृजन के तीन क्षण की मीमांसा भी क्रमानुक्रम में स्थान पाती है।

सृजन की इसी समस्या की तरह ही 'अनुभव की प्रकृति' की समस्या है। बुर्जुआ साहित्यकार, बुर्जुआ साहित्य, जनवादी साहित्य जैसे साहित्यिक विश्लेषणों प्रत्ययों का साहित्यिक बहसों, आलोचना में अमूमन इस्तेमाल होता है, परन्तु व्यापक संदर्भ में देखें, तो पहली श्रेणी अनुभव और सृजन की है, जो पूर्वोक्त शब्दावली, प्रत्ययों का मूलाधार बनती है। आखिर मनुष्य-मनुष्य के अनुभवों में इतनी विभेदता कैसे उत्पन्न हो जाती है, जिससे कि बुर्जुआ से लेकर जनवादी तक के शब्द अपने अर्थानुरूप व्यवहार करने लगते हैं? इसका उत्तर वर्ग सापेक्ष ही हो सकता है। "श्रम विभाजन पर आधारित वर्गों का विभाजन अपने वस्तुगत स्थितियों और विकास की अवस्थाओं के संस्कारमूलक दबावों के कारण आदमी के सोचने, समझने और करने को नियंत्रित और परिष्कृत दोनों करता है और इसी आधार पर वर्गों की मान्यताएँ और विचारों में भी उसी प्रकार का अपरिवर्तनीय अंतर्विरोध मिलता है। यही कारण है कि साहित्य और अनुभव का अर्थ, संदर्भ के कारण बदल जाता है।' (पृ.17) लेकिन वास्तविक समस्या इसके बाद की है, क्योंकि कई बार निम्नवर्गीय, दलित और स्त्री रचनाकारों की अभिव्यक्तियाँ देखने को मिलती हैं! इस प्रश्न का उत्तर प्रो. मिश्र ने बड़े तार्किक ढंग से साहित्य की संरचना व उसकी विधागत अवस्थिति के माध्यम से दिया है। उदाहरण के लिए, 'हिन्दी में हास्य और व्यंग्य को अलग से एक विधा मान लिया गया है, इसका परिणाम यह हुआ है कि उसकी गंभीरता ही समाप्त हो गई, जबकि हास्य व्यंग्य प्रारंभ से ही आधुनिक रचनात्मक प्रवृत्ति के साथ रहा है।' (पृ.20) इसके अलावा लेखक ने 'अनुभव' और उसके 'रचना' में रूपांतरित होने की प्रक्रिया का गंभीर विश्लेषण किया है। 'अनुभव' वास्तविकता में एक राजनैतिक या और अधिक ठीक से कहें तो एक विचारधारा के 'माध्यम' से हुई प्रतीति है, वहीं 'रचना' किसी भी रचनाकार के 'पोलिटिकली करेक्ट' होने की अनुभूति करा सकती है। इसी कारण यहाँ लेखक ने उस कलावादी विचार का अप्रत्यक्ष रूप से खंडन किया है, जिसमें माँग की जाती है कि 'कृति (सृजन) का मूल्यांकन कृति के आधार पर किया जाए।' लेखक ने स्पष्ट रूप से किसी भी सृजन के मूल्यांकन के लिए सृजनकर्ता के मूल्यांकन करने की पैरवी की है। इसलिए लेखक ने कठोरतापूर्वक कहा है कि 'रचनाकार के आचरण (व्यवहार) और रचना में अंतर्विरोध होना रचनात्मक

बेईमानी है।' (पृ.22) विभिन्न किस्म के विमर्शों के इस दौर में निश्चय ही यह मान्यता विभिन्न किस्म की निर्मित 'प्रगतिशीलता' के भ्रम को खंडित करने के लिए पर्याप्त है।

लेखक 'साहित्य' की अंतर्वस्तु और उसकी सामाजिक प्रक्रिया के प्रति सचेतना ही पूर्वोक्त विश्लेषण का कारण है। मध्यकाल में भले ही साहित्य स्वतः सुखाय की मान्यता के साथ रचा जा सकता हो, या इस तरह की (भ्रमपूर्ण) मान्यता व्यक्त की जा सकती हो, परन्तु वर्तमान के जटिल सामाजिक, सांस्कृतिक (व आर्थिक) ताने-बाने में साहित्य अपेक्षाकृत संस्थानीकृत हो चुका है, और जैसा पूर्वोक्त कहा गया 'अनुभव' की राजनीतिक समझदारी रचनाकार को जनता के पक्ष और विपक्ष में ले जा सकने में सक्षम हो चुकी है। जाहिर सी बात है कि वर्तमान समय में जिस तरह आम जन की तकलीफें, त्रास, और समय की विडंबनाओं के साथ त्रासदियों को रचनाकार स्वर दे पाते हैं। लेकिन इसी के साथ इन्हीं रचनाकारों के माध्यम से ही पूँजीवाद व वर्तमान सत्ता संरचना की वैधता के स्वर भी सुनाई पड़ते हैं। 'साहित्यकार प्रत्येक के लिए एक प्रकार से उपयोग में लाया जा सकने वाला यंत्र होता है।' (पृ.77) यह अंतर्विरोध क्यों उत्पन्न होता है, लेखक ने इस प्रश्न का भी उत्तर देने का प्रयास किया है, 'साहित्य का संबंध चूँकि सृजन से है, इसलिए वह अकादमियों की मान्यता के क्षेत्र से परे होने के लिए बाध्य है। क्योंकि सृजनात्मकता का तात्पर्य है वर्तमान स्थिर और जड़ को निरंतर पीछे छोड़ते जाना, जो किसी भी व्यवस्था को स्वीकार नहीं। निषेध अस्वीकार और सृजनात्मकता के द्वारा कोई भी रचनाकार अपनी नियति को शोषित के साथ जोड़ देता है। शोषक के साथ साहित्य का कोई रिश्ता हो ही नहीं सकता, क्योंकि रचनात्मकता उसी प्रक्रिया के विरोध का परिणाम है।' (पृ.76) यहाँ लेखक में किंचित अंतर्विरोध दिखाई देता है, क्योंकि यहाँ रचनात्मकता और प्रतिरोध का श्रेणीक्रम एक कर दिया गया है, चूँकि लेखक एक अन्य स्थान पर रचनात्मकता के विभिन्न उपयोगों के विरुद्ध चेतावनी दे चुका है, इस कारण पूर्वोक्त कथन लेखक द्वारा साहित्य की आदर्शी स्थिति के रूप में देखा जा सकता है। कई बार तो बहुत स्पष्ट रूप से साहित्य के परिक्षेत्र में प्रतिक्रियावादी अभिव्यक्तियाँ देखने को मिलती हैं। और कई बार लेखक अपने 'पोलिटिकली करेक्ट' होने की संभावनाओं के चलते 'कृत्रिम' विद्रोही-प्रतिरोधी मुद्रा अख्तियार कर लेते हैं।

वास्तविकता भी यही है कि सोवियत विघटन और वैश्वीकरण के आरंभ के साथ साहित्य में कृत्रिम विद्रोही मुद्रा उसकी वैधता का स्रोत हो गया है। यह तथ्य आश्चर्यजनक होना चाहिए कि हिन्दी साहित्य में आधिकारिक रूप से कोई 'दक्षिणपंथ' ही नहीं है! केवल दो ही किस्म की धाराएँ हिन्दी साहित्य में दिखाई देती हैं, पहली और प्रमुखता प्राप्त 'प्रगतिशील धारा' और दूसरी 'कलावादी धारा'; इसमें भी कलावादी धारा का कोई आधिकारिक प्रवक्ता नहीं! दक्षिणपंथी दलों के नेताओं से लेकर भ्रष्ट नौकरशाह तक सभी प्रगतिशीलता के घोड़े पर सवार होकर अपनी सृजनात्मक आँधी से पूरे समाज को आक्रांत करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ रहे हैं। 'साहित्य और सत्ता', 'वर्तमान साहित्य का विद्रोही चरित्र' और 'हिन्दी साहित्य: कुछ प्रश्न' जैसे निबंधों के माध्यम से लेखक ने सत्ता और रचनाकार के बीच इस आधुनिक समय में प्रत्यक्ष हुई 'पारस्परिक सत्तात्मक अन्योनाश्रिता' को तार्किक ढंग

से साबित कर पाने में सफल हुआ है। इस संदर्भ के साथ यह समझना बहुत जरूरी हो गया है कि 90 के दशक के बाद हिन्दी साहित्य में 'रीतिवाद' के प्रकार का जन्म हो चुका है। यह आधुनिक रीतिवाद अतीत के अनुभवों की ही पुनरावृत्ति है। अतीत के रीतिकाव्य में भी पूर्व के विद्रोही काव्य यानि भक्ति काव्य की तरह ही रचना की विषय वस्तु भक्ति व प्रेम ही रहा, परन्तु रीतिकाल को जो सामंती प्रश्रय प्राप्त हुआ, उसी के चलते काव्य का तात्पर्य ही हो गया कि 'आगे के सुकवि रीतिहिं तो कविताई है, न तो राधा-कन्हाई सुमिरन को बहानों है' (भिखारी), और वास्तविक अनुभव व यथार्थ कही दूर अनंत गुहालोक में जाकर खो गया। वर्तमान में 'प्रगतिशीलता' एक 'साहित्यिक रूढ़ि' के रूप में विकसित हो गई है और 'विद्रोहात्मकता' एक साहित्यिक युक्ति। प्रो. मिश्र ने बिल्कुल उचित ढंग से इस स्थिति की ओर संकेत किया है, 'हिन्दी साहित्य विशेषकर कविता और कहानियों में इस समय यह विद्रोह या निषेधपरकता प्रमुख रूप से 'कवि शिक्षा' का रूप धारण कर चुकी है।' (पृ.70)

साहित्य के रूप, चरित्र व व्यवहार के इस पतन के लिए जितनी जिम्मेदारी सत्ता के सर्वग्रासी रूप की है, उससे भी अधिक आलोचना की है। आलोचना का दायित्व केवल गुण दोष परीक्षण और प्रशस्ति करना नहीं होता है, बल्कि उसका दायित्व 'साहित्यकार और साहित्य के प्रति उस दृष्टि का विकास करना है, जिससे रचना और समाज को बिना किसी माध्यम के समझा जा सके' (पृ. 237) या कि 'बौद्धिकता मात्र आलोचनात्मक व्यवहार, नई व्याख्या या प्रश्नाकुलता नहीं है, वह इस सबके अतिरिक्त उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक, कल्याणकारी और हानिकारी, मूल्यवान और अमूल्यवान आदि का गहराई से विवेचन भी है।' (पृ. 13)

सृजन का संबंध रचनात्मकता व नवोन्मेष से है और जैसा पूर्व में कहा गया कि यदि सृजन संबंधी कोई भी रूढ़ि साहित्य संसार में अपना आधिपत्य जमा लेती है, तो वह सीधे पतन और निष्क्रियता का मार्ग चुनता है। लेकिन नवोन्मेष मात्र का भी रूढ़िग्रस्त होना और अधिक भयावह और प्राणघातक स्थिति उत्पन्न करता है। क्योंकि मात्र नवोन्मेष अपनी अंतर्वस्तु में हर किस्म के विकास, साहित्य परम्परा के अस्वीकार को स्वीकार करता है और इस तरह वह मनुष्य के अर्जित सौंदर्यबोध को भी अस्वीकार करता है; यह स्थिति संस्कृति की नहीं बल्कि प्रो. मिश्र के अनुसार मात्र विकृति का प्रतिनिधित्व करती है। 'कौमार्य (यानि मात्र नवोन्मेष) को साहित्य की पहली शर्त मानने वाले किसी भी रचनाकार के लिए विकृति और संस्कृति के संबंधों को समझना आवश्यक होता है। विकृति की भी आदत संस्कृति कहलाती है और संस्कृति भी एक सीमा तक विकृति का कारण बनती है।' (पृ. 146)

सैद्धांतिक स्तर पर इतनी स्पष्टता का ही परिणाम है कि प्रो. मिश्र द्वारा की गई व्यवहारिक आलोचना भक्तिकाल से लेकर 90 के दशक की कविता तक विस्मृत है, वरना व्यवहारिक उदाहरण यही है कि आलोचक अपने अनुभव की सीमा के कारण समकालिक रचनात्मकता से मुठभेड़ करने से हमेशा बचता है। कुँवर नारायण, नीलाभ, कुमार विकल, अनिल कुमार, राजेश जोशी, ज्ञानेंद्रपति, विनोदकुमार शुक्ल, नरेश सक्सेना, हरीशचंद्र पाण्डेय,

शलभ, भगवत रावत, एकान्त श्रीवास्तव, बद्री नारायण, देवीप्रसाद मिश्र, कुमार अम्बुज जैसे वरिष्ठ और युवा कवियों का रचनात्मक मूल्यांकन करने में लेखक सफल रहा है। इस दौर के कवियों के सामूहिक मूल्यांकन में प्रो. मिश्र ने उन समस्याओं को चिह्नित करने का प्रयत्न किया है, जिससे रचनाकारों का मुकाबला करना है। 'अनेक ऐसे कवि भी हैं जो अपनी स्थापनाओं से विद्रोह करते रहते हैं। इस दोतरफा लड़ाई का असर कविता में ही पाया जा सकता है। अनेक कवि ऐसे भी हैं कि जिनमें भाषा के स्तर पर तो यह संघर्ष मिलता ही नहीं, बल्कि इसकी प्रतीति ही नहीं है। फलतः कवि एक प्रकार होने या हो रहे को वर्णित करने के क्रम में नितान्त अनबूझेपन के साथ उसका समर्थन करने लगती है, प्रत्यक्षतः जिसके विरोध में वह लिखी गई है।' (पृ.120) इसका कारण है कि 'इस समय जो युवा और युवतर पीढ़ियाँ हिन्दी में लिख रही हैं वे संघर्षजनित भावुकता से घिरी हैं। आलोचना बुद्धि उनका सहज स्वभाव नहीं है। जनसंघर्ष और उसके अनुरूप आत्मसंघर्ष की कुछ भावुक युक्तियाँ, कुछ चमत्कार सामान्यीकरण, थोड़ी सी करुणा और मोटी-मोटी समझ इस पीढ़ियों का कुछ उपकरण है।' (पृ. 123)

हालाँकि यह विश्लेषण बहुत सख्त है, लेकिन यह ठीक है। वर्तमान के अराजक विमर्शों और सरलीकृत सैद्धांतिक निष्पत्तियों के सापेक्ष वास्तविक आलोचनात्मक विवेक से ऐसी ही कठोरता की माँग थी। लेकिन शायद विश्लेषण की इस कठोरता के कारण भक्तिकाल के विषय में प्रो. मिश्र की मान्यताएँ किंचित अंतर्विरोधग्रस्त हो गई हैं। हालाँकि प्रो. मिश्र ने भक्तिकाल के विषय में दूधनाथ सिंह के अतिवादी दृष्टिकोण का विरोध किया है। परंतु एक दूसरे स्तर पर उनका विश्लेषण एक फाँक उत्पन्न कर देता है। उदाहरण के लिए उनकी मान्यता कि 'सब रचनाकारों में 'व्यक्तिगत ईश्वर' या 'राम' को अधिक महत्व दिया, जबकि सामंत की दृष्टि में 'ईश्वर' सबके लिए समान था।' (पृ. 58) जबकि भक्तिकाल की सामाजिक संरचना और तत्कालीन राज्य सत्ता इस मूल्य पर निर्भर थी कि 'राम धरती पर ईश्वर का प्रतिनिधि है' और भक्तिकाल के रचनाकारों का विद्रोह इस विचार के अस्वीकार और इस मान्यता में था कि 'ईश्वर के साथ उनके संबंध में कोई मध्यस्थ नहीं हो सकता।' इसी कारण भक्तिकाल तत्समय में विद्रोही साहित्य में तब्दील हो जाता, क्योंकि वह सत्ता के 'दैवीय' सिद्धांत की वैधता को चुनौती देता है। इसी तरह से प्रो. मिश्र का यह प्रश्न कि 'आज भी बहुत सी समस्याएँ हैं, जिन्हें हिन्दी आलोचना को हल करना है, जैसे दसवीं शताब्दी से लेकर 14वीं शताब्दी तक पूरे देश में भक्ति के रूप में खड़ा आंदोलन किन सामाजिक शक्तियों के कारण खड़ा हुआ था।' (पृ.57) बहुत उचित नहीं है, क्योंकि इस प्रश्न का एक उत्तर 1955 में ही दिया जा चुका था और बहस उस उत्तर के मूल्यांकन से संभव थी। उदाहरण के लिए 'भारतीय जीवन की जिस परिस्थिति से संत साहित्य का घनिष्ठ संबंध है, वह है सामंती शक्ति का हास, सामंती ढाँचे का कमजोर होना।' (परंपरा का मूल्यांकन, रामविलास शर्मा, पृ. 46) इसी तरह से मुक्तिबोध ने स्वयं भक्तिकाल की सामाजिक स्थिति का विश्लेषण किया था, साथ ही इस प्रश्न बहस करने की कोशिश की थी कि क्यों भक्तिकाल में कोई दलित कवि नहीं उत्पन्न हुआ।

असल में हिन्दी आलोचना का सबसे अधिक नुकसान 'विचारधारा' के नाम पर हुआ है। 'प्रगतिशील आलोचक' के नाम से किए गए हर एक विश्लेषण को विचारधारा के आधार पर तुरंत मान्यता दे दी गई (दे दी जाती है), साथ ही यह भी जाँचने का कोई बौद्धिक उपक्रम नहीं किया जाता कि कहीं यहाँ 'विचारधारा' के नाम पर कोई छल तो नहीं किया जा रहा है। प्रो. मिश्र ने इस जटिल और बौद्धिक साहसिकता के कार्य को अंजाम दिया है। नामवर सिंह के मूल्यांकन में लेखक ने इसी साहसिकता का परिचय दिया है। दो उदाहरण दृष्टव्य हैं। पहला उदाहरण। 'ग्राम्या' में पंत द्वारा संप्रेषित ग्रामीण जीवन का चित्र नामवर सिंह को जिस रूप में आकर्षित करते हैं, उसे उन्होंने 'मानवीकृति प्रकृति' के रूप में न देखकर साहित्यिक प्रवृत्ति के बदलाव का प्रतीक मानकर महत्वपूर्ण मान लिया। वे रचना में व्याप्त उस नागर बोध को नहीं देख सके जो यथार्थ के कारणों की ओर संकेत करके केवल गाँव को छायावादी प्रगतिशीलता का उपकरण मानता रहा है...। प्रकृति के स्थान पर गाँव रख भर देने से ही रचना प्रगतिशील हो जाती है या वह ग्रामीण वास्तविकता के अनुभव व समझ से पैदा होती है। मार्कण्डेय, अमरकान्त, शिवप्रसाद और रेणु की ग्रामीण जीवन की कहानियों के संदर्भ में देखने से पंत के 'ग्राम्या' की सीमा और दृष्टि की 'नियत' का पता चलता है। पंत की नीयत में ही खोट है।' (पृ. 284) दूसरा उदाहरण, 'नामवर ने अन्य रचनाकारों की भाँति नई कहानी के संदर्भ में उठाए गए स्वस्थ दृष्टिकोण की चर्चा को मज़ाक में उड़ा दिया क्योंकि उन्होंने स्वयं ही कामू, काफ़का, (एडगर) एलन पो और सार्त्र का उल्लेख किया है। निर्मल वर्मा की 'परिदे' संग्रह की गद्गद भाव से प्रशंसा और कामू तथा काफ़का की कहानियों की भाषिक विशिष्टता का ललक के साथ वर्णन किसी भी प्रकार से मेल नहीं खाता है। नामवर का साहित्य में स्वस्थ और अस्वस्थ (बीमार) दृष्टि का अस्वीकार उनके आगे के प्रतिमानों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। वेणु गोपाल ने विभिन्न मनोचिकित्सकों के उदाहरण से नामवर को 'अंततः'-1 में मानसिक पक्षाघात से पीड़ित रोगी सिद्ध किया है।' (पृ. 291) प्रो. मिश्र के पास कहने के लिए वाजिब तर्क हैं कि 'नामवर विचार से तो अवश्य मार्क्सवाद से प्रभावित हैं, परन्तु उनकी विचारधारा मार्क्सवादी नहीं है।' (पृ.283)

बिल्कुल इसी तरह ही प्रो. मिश्र ने विजयदेव नारायण साही की कविताई और उनकी आलोचना का मूल्यांकन किया है और निश्चय ही यह मूल्यांकन दृष्टि खोलने वाला मूल्यांकन है। हिन्दी आलोचना में साही का योगदान 'लघु मानव के बहाने नई कविता पर एक बहस' तक सीमित करके देखा जाता है। लेकिन प्रो. मिश्र ने उनके वास्तविक योगदान का उल्लेख करके वास्तविकता में एक श्रेयपूर्ण स्थिति अर्जित की है। साही ने जायसी के मूल्यांकन के माध्यम से मध्यकालीन संस्कृति के एक अधखुले अध्याय को खोला है। जायसी को सूफी संत मानकर उनके काव्य का विश्लेषण करने की रूढ़ि हिन्दी साहित्य में विद्यमान है। इस स्थिति के बावजूद साही ने सारी रूढ़ियों से भिन्न मान्यता को स्थापित किया, यह उनके आलोचनात्मक साहस का परिणाम है। इसके अलावा प्रो. मिश्र ने साही के आलोचना में योगदान के 'प्रयोग' कर लिए जाने की विडंबनापूर्ण स्थिति को भी दर्ज किया है, जिसका

विस्तार मुक्तिबोध तक होता है। “मुक्तिबोध की मौत और ‘कविता के नए प्रतिमान’ में एक रिश्ता है। और तर्कशः है भी। संरचना के स्तर पर यह रिश्ता भले ही सघन हो, भले ही इसमें मुक्तिबोध की वाणी न सुनाई पड़े, परन्तु ‘एक साहित्यिक की डायरी’ में व्यक्त किए गए मुक्तिबोध के विचार सारतत्व के रूप में अनुभवात्मक निष्कर्ष की भाँति विद्यमान हैं। विजयदेव नारायण साही का लेख ‘लघु मानव के बहाने नई कविता पर एक बहस’ मुक्तिबोध की अपेक्षा इस पुस्तक के वर्णन प्रक्रिया में सर्वाधिक प्रयोग किया गया है।” (पृ. 295)

साहित्य के क्षेत्र में विचारधारा के आधार पर हुई अतियों के कारण ही लेखक में मोहभंग की एक अंतर्विरोधी स्थिति भी दिखाई देती है। जहाँ एक ओर इस मोहभंग के परिणामस्वरूप लेखक का कहना है कि ‘नारे और पोस्टर के रूप में एक-दो पंक्तियों में एक रूपाकार की जीवंतता की दृष्टि भले ही मिल जाए, यद्यपि उन्हीं पंक्तियों के आधार पर धूमिल आदि अनेक कवियों ने एक फार्म ही बना लिया, किन्तु कविता मात्र नहीं मिलती।’ (पृ. 187) परन्तु लेखक की जनपक्षधरता अंततः उसे यह कहने पर मज़बूर ही करती है कि ‘यदि ऐसा महसूस हो कि अब लिखना बेकार है तो क्या वह कर्म की प्रेरणा नहीं देता? ऐसी स्थिति में कविता या उपन्यास सीधे संबोधन बन जाए, उपन्यास पैम्फलेट में बदल जाए तो क्या बुराई है। उससे लोग क्यों घबड़ाते हैं; बिम्ब और प्रतीक की चिन्ता क्यों होती है। क्योंकि तब उन्हें वह साहित्य अपने अस्तित्व के लिए खतरनाक लगने लगता है।’ (पृ. 79)

लेखक की सबसे बड़ी चिंता जनता और साहित्य का रिश्ता और साहित्य तक उसकी पहुँच है। हिन्दी नाटकों पर केंद्रित अपने निबंध में लेखक ने इसी मूल्य के आधार पर हिन्दी नाटकों का मूल्यांकन किया है, साथ ही साहित्य की अन्य विधाएँ भी इसी दायरे में हैं। ‘गीतकार और कवि सम्मेलनी कवियों का शिल्प और विधान ऐसी है कि वे जनता के अधिक नजदीक हो सकते हैं, उनके दुख-दर्द को उनके अनुकूल छन्द और भाषा में वाणी दे सकते हैं।’ (पृ.70) और समाज में यह स्थिति नहीं उत्पन्न हो पाई है तो इसका एक कारण है कि ‘कवि या कहानीकार कहलाना गीतकार या लोक कवि कहलाने की अपेक्षा अधिक लाभकर है। बाह्य संरचना के माध्यम मात्र से ही परिवर्तन की यह कामना राजनैतिक सरलीकरण मात्र है।’ (पृ.70)

आलोचना के प्रगतिशील उद्देश्यों के मद्देनज़र ‘पापुलर कल्चर’ पर ध्यान न देने से सबसे ज्यादा अहितकर स्थिति उत्पन्न हुई है। सांस्कृतिक रूप से ‘पापुलर कल्चर’ भले ही निम्न श्रेणी की हो, लेकिन जनता तक पहुँचने और उसे प्रभावित करने का गुण उसमें तीव्रता से मौजूद है। हिन्दी साहित्य में ‘चंद्रकांता’ और ‘चंद्रकांता संतति’ जैसे उपन्यासों का इस संदर्भ में उदाहरण दिया जा सकता है। यहाँ तक कि इस तरह के उपन्यासों में भी सामाजिक सरोकार अभिव्यक्त होते हैं, जो कि सार्थक आलोचना न हो पाने की वजह से नज़रअंदाज रहे (इस संदर्भ में राजेंद्र यादव और प्रदीप सक्सेना का विश्लेषण देखा जा सकता है)। मैनेजर पाण्डेय के आलोचना कर्म का मूल्यांकन करते हुए लेखक ने उनकी उचित ही प्रशंसा की है। ‘साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका’ में पाण्डेय जी ने उन सारे मुद्दों का विस्तृत

विश्लेषण किया है, जिनका साहित्य की बहसों में जिक्र तक नहीं होता है। जाहिर सी बात है, इस क्षेत्र में अभी बहुत कार्य करने की जरूरत है, जिससे साहित्य और जनता के संबंधों में विस्तार संभव हो सके।

इस प्रकार 'कृति विकृति संस्कृति' न केवल हमारे संक्रमणकालीन समय में बौद्धिक उलझनों को समझने में मदद करती है, बल्कि अपनी भविष्यधर्मी दृष्टि की वजह से हिन्दी साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में नवीन संभावनाओं की भी तलाश करती है। इस पुस्तक के संकलन और प्रकाशन के द्वारा विनोद जी ने सत्यप्रकाश जी को सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित की है।

कृति विकृति संस्कृति/ सत्य प्रकाश मिश्र/ लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद/ संस्करण-2010/ मूल्य-

समय की पाठ रचना

नीलेश कुमार

समकालीन हिन्दी कहानी के वर्तमान दौर में युवा कहानीकारों की सर्जनात्मक उपस्थिति ने एक उम्मीद पैदा की है। और उम्मीद एक ऐसी चीज है जिसके आगे हमारा भविष्य है, हमारे सपने हैं। भविष्य के निर्माण की चिन्ता है और सपनों को पूरा करने की कोशिश। इन युवा कहानीकारों ने न केवल कहानी के फार्म को बदला बल्कि कहानी के कथ्य की नई जमीन भी तलाशी है। इससे कहानी विधा का क्षेत्र विस्तृत हुआ है। साम्प्रदायिकता और प्रेम, आतंकवाद, अलगाववाद, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, सम्लैंगिकता, भ्रष्टाचार आदि आज के कहानी के केन्द्र में है। भाषा के स्तर पर भी ये कहानीकार अपनी पिछली पीढ़ी से अलग हैं। भाषा में व्यंग्य और स्थितियों का सटीक चित्रण करते हैं। कुछ उलझने हैं उस पर ध्यान देना होगा। अभी तो निर्माण के दौर में हैं। जैसे-जैसे ये आगे बढ़ेंगे अपनी कमजोरियों को मजबूतियों में तब्दील करते जाएँगे। वन्दना राग इसी पीढ़ी की एक सशक्त कथाकार हैं। जिनकी कहानियाँ अपने समय के पाठ को रचती हैं।

‘शहादत और अतिक्रमण’ कहानी की शुरूआत होती है— ‘लांसनायक अजय प्रताप सिंह नहीं रहे। प्रदेश का एक और होनहार सपूत कारगिल में शहीद हो गया।’ और यहाँ से आगे बढ़ती हुई कहानी अपने समय और समाज के कई प्रश्नों से टकराती है। सामाजिक मर्यादा और झूठी शान के नाम पर आज भी हमारा समाज दमनकारी एवम् स्वतन्त्रता-विरोधी है। मुन्नी सिंह लांसनायक अजय प्रताप सिंह की बीवी खुद कोई भी फैसला नहीं ले सकती थी। यहाँ तक कि नहा भी नहीं सकती थी “चाहे वह अपने ही पसीने में डूब क्यों न जाए, चाहे अपनी ही बदबू से नाक क्यों न फट जाए उसकी।” हमारे सामाजिक एवम् पारिवारिक संरचना की बुनियाद इतनी जटिल और अमानवीय है कि यहाँ व्यक्तिगत निर्णय नाम की कोई चीज नहीं रह गई है या इसे तवज्जो नहीं दी जाती। अपनी बातों को स्पष्टता से रखना भी यहाँ उल्लंघन और आचरण के विपरीत माना जाता है। सामाजिक संरचना में श्रेष्ठता और हीनता-बोध का स्तर काफी गहरा है।

रमेश सोनाने उसी गाँव के पिछड़ी जाति का लड़का है, जिसके यहाँ गाँव वालों का फोन आया करता था। रमेश सोनाने उस उम्र में आ चुका था जहाँ से लड़का लड़की एक दूसरे के प्रति आकर्षित होना शुरू होते हैं। मुन्नी सिंह को देखते ही उसके मन में कई ख्याल आने लगे। लांसनायक की जगह वह अपने को मुन्नी सिंह के लिए उपयुक्त पात्र मानने लगा—जवान व खूबसूरत। इधर माताराम की डॉट और वर्जनाओं के बावजूद पति के साथ पोस्ट पर जाने भर के एहसास से मुन्नी सिंह निखरती जा रही थी। एक दिन

माताराम और दादा की अनुपस्थिति में रमेश सोनाने मुन्नी सिंह के घर आता है और मुन्नी सिंह गौर से देखती है रमेश सोनाने को—“उसका माथा कितना चौड़ा है, गालों पर हल्की-हल्की उगती दाढ़ी कितनी फवती है। फिर मुन्नी सिंह को अपने इस भाव पर तुरन्त शर्म आती है और चकित हो सोचती है—पति और लफंगे में इस लरजता की समानता कैसे?” तमाम बन्धनों और वर्जनाओं के बावजूद मुन्नी सिंह का सोचना कहीं से अस्वाभाविक नहीं है। मुन्नी सिंह के उम्र में एक स्त्री के मन में तन-मन सम्बन्धी कई तरह की इच्छाओं का जन्म होता है और उसे वह पूरा करना चाहती है। किन्तु बन्धनों से जकड़े समाज में मुन्नी सिंह और उन जैसी तमाम स्त्रियाँ इच्छाओं की हत्या होते हुए सिर्फ महसूस करती हैं, इच्छाओं के पूर्ण होने की तृप्ति के नहीं।

इसी बीच लांसनायक की मौत की खबर आती है और शव आया नहीं कि मुन्नी सिंह को “जबरदस्ती नंगा करके, लिपटा-लिपटाकर दुर्दशा कर दी। कपड़े उसके तार-तार होने लगे। चूड़ियाँ टूट-फूट गईं। माथे की बिन्दी औरतों के आँसू में बह गई।” सधवा से विधवा होने पर इस तरह का घोर अमानवीय बर्ताव भारतीय स्त्रियों की नियति हो गई है। अचानक मुन्नी सिंह सबकी नजरों में बरी हो गई थी। लोग उसे आदर के साथ अपने बीच बिठाने लगे। लेकिन मुन्नी सिंह अपनी ही नजरों में छोटी होती जा रही थी। क्योंकि बड़े होने के बीच उसका सबकुछ सिमटता जा रहा था, न पति और न ही पति के साथ देखे स्वप्न ही अब बचे। समाज अपनी परम्परा और मूल्यों के प्रति कितना कठोर और हिंसक हो जाता है, यह मुन्नी सिंह की स्थिति को देखकर समझा जा सकता है।

मुन्नी सिंह के आँसू भी नहीं सूखे थे कि ‘बाबा’ और ‘माताराम’ का पैसे के प्रति मोह, उसे अन्दर तक परेशान करने लगा। पैसा किस तरह से मानवीय सम्बन्धों से भी बढ़कर हो गया है और किस तरह वह केन्द्रीय भूमिका में आकर सम्बन्धों की ईमानदारी और उसकी गहराई पर प्रश्नचिह्न लगाता है, इस कहानी के माध्यम से बड़ी खूबसूरती के साथ दर्शाया गया है।

कहानी के अन्त में मुन्नी सिंह और रमेश सोनाने गाँव से भाग जाते हैं। यह कहानी स्त्री के प्रतिरोध और उसके द्वारा सामाजिक मर्यादा के अतिक्रमण को दिखलाती है।

‘टोली’ कहानी में भारत की आज़ादी के 60 वर्षों बाद भी गरीबी में भीख माँग कर जीवन निर्वाह कर रहे लोगों के स्थितियों का चित्रण है। भागीरथी का पेशा भीख माँगना था, उसे अपना धन्धा प्राणों से प्रिय और अपना लगता था। इसी धन्धे के क्रम में उसकी एक टोली बनती है और उसमें मुसद्दी एवम् प्रेत शामिल होता है। भिखमंगों की दयनीय स्थिति के साथ कहानी इन भिखमंगों के स्वाभिमान, एक दूसरे के प्रति ईमानदारी, अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाए रखने की भी कहानी है। भागीरथी को लगता है सचमुच नाम होना बड़ी बात है, एक अलग पहचान बनती है उससे। तो प्रेत को भी “प्रेत नाम से नवाजा जाना भला-सा लगा। नाम यानी भीड़ के बीच एक अलग व्यक्ति के तौर पर पहचान, वरना आज तक तो वह जाटव था, मरे जानवर ढोने वाला अपनी जाति का प्रतिनिधि।” समाज के सबसे निचले स्तर का व्यक्ति भी अपनी पहचान को लेकर चिन्तित है। वह स्वतन्त्र एवं निजी पहचान रखना चाहता है। यह भागीरथी और प्रेत के बयान से स्पष्ट

हो जाता है। भागीरथी का यह कहना कि “बस कुछ पैसा होना चाहिए, पेट भरने लायक और... धन्धा तो हमेशा अपनी पसन्द का होना चाहिए किसी के दबाव का नहीं।” आत्मसन्तुष्टि का यह भाव इन्हीं अभावग्रस्त लोगों के मन में आ सकता है। वरना आज तो सब कुछ को अपना बना लेने यहाँ तक कि दूसरे की स्वतन्त्रता को भी अपना बना लेने के दौर से मनुष्य गुजर रहा है।

भागीरथी की टोली समाज के वैसे अभिशप्त लोगों की स्थिति बयाँ करती है, जिसके पास न रहने को अपना घर, न खाने के लिए भोजन और न ही पहनने के लिए कपड़ा है। कहानी विस्थापन और विघटन की पीड़ा और उसके दर्द को दिखलाती है।

‘नमक’ कहानी स्त्री-पुरुष के मनोविज्ञान की कहानी है। कोई स्त्री—पुरुष किस तरह बिना परिचय के एक दूसरे को पसन्द करने लगते हैं और उनका यह पसन्द प्रेम में तब्दील होने लगता है। माथुर अपने से जूनियर ऑफिसर की पत्नी तान्या को एक पार्टी के दौरान देखता है और उसे वह चाहने लगता है। वक्त के बीतने के साथ माथुर के अन्दर तान्या को पाने की बेचैनी बढ़ने लगी। माथुर एक तरफ तान्या को पाने की कोशिश कर रहा था, तो दूसरी तरफ अपनी पत्नी को इसका एहसास न हो पाने का डर भी उसके मन में था। धीरे-धीरे नज़दीकियाँ बढ़ने लगीं और तान्या भी माथुर के नज़दीक आने लगी। इसी बीच तान्या का पति प्राइवेट सेक्टर में ज्वाइन करने दिल्ली जाने लगा। स्टेशन पर दोनों को विदा करते वक्त फिल्मी फ्लैशबैक की तरह माथुर तान्या के साथ बिताये पल याद करता है। तान्या की आँखों में अटका आँसू जैसे माथुर को विजेता होने को दर्शा रहा था। लेकिन घर आने पर फिर वही बेचैनी उसको छाने लगी... इसी बेचैनी में एक दिन वह तान्या को बेसब्री से याद करने लगा और तान्या को पाने का अजीब नशा उसके रगों में दौड़ने लगा। जब तान्या माथुर से मिलने की हामी भरती है तो माथुर मुकर जाता है और उसे जीत जैसा कुछ लगता है।

यह कहानी स्त्री पुरुष के प्रेम मनोविज्ञान को दिखलाता है। कहानी शुरुआत से पढ़ने पर माथुर को एक वासनात्मक प्रेमी जैसा दिखलाता है। किन्तु कहानी का अन्त होते-होते यह धारणा खंडित हो जाती है और माथुर सौन्दर्य के प्रति आकर्षित एक सामान्य पुरुष जैसा व्यवहार करता दिखाई पड़ता है।

‘कबिरा खड़ा बाजार में’ कहानी हमारे सामाजिक एवम् धर्मनिरपेक्ष स्वभाव के आवरण को हटाकर उसकी वास्तविकता से रूबरू कराती है। एक औरत की मृत्यु के बाद उसके अन्तिम संस्कार को लेकर पैदा हुई समस्या हमारे समाज के सम्प्रदायवादी मानसिकता को उजागर करती है। एक औरत जिसकी मृत्यु से पहले सारे समाज में इज्जत, मान-सम्मान था, मृत्यु के बाद अचानक त्याज्य एवम् घृणा का कारण हो जाती है।

कहान के नए फार्म में यह कहानी आगे बढ़ती है। इसमें औरत, लेखक, कबीर साहब का दरबार के साथ कहानी के घटित होने की जगह भी उपस्थित है। दलित, स्त्री, अल्पसंख्यक आदि के अधिकार एवम् उनकी पहचान की लड़ाई और उसके वर्तमान स्वरूप को कहानीकार ने बड़ी ही स्पष्टता के साथ रखा है। इसके लिए क्रान्ति का व्यवस्था परिवर्तन जैसे जुमले

से बचकर कहानीकार ने व्यवस्था के साथ चलते हुए व्यवस्थागत खामियों को सचाई के साथ रखने का प्रयास किया है।

सन् 90 के बाद जिन दो चीजों ने समाज को सबसे ज्यादा प्रभावित किया है, उसमें एक आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया, जिसने एक ओर व्यक्ति की सामाजिकता को नष्ट किया और पूँजी को जीवन के केन्द्र में ला दिया। वहीं दूसरी ओर बाबरी विध्वंस की घटना ने भारत में साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण को तेज किया। 'यूटोपिया' कहानी इसी साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण के भँवर में फँसे एक ऐसे व्यक्ति की त्रासदी है, जिसके प्रेम को सम्प्रदाय विशेष ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस्तेमाल किया।

अच्युतानन्द गोसाई मोहल्ले में रहनेवाली लड़की को कब शिद्दत से चाहने लगा, उसे पता तक नहीं चला। मन की चाहत धीरे-धीरे वासनात्मक होते हुए शरीर को पाने की चाहत में बदल गई। गोसाई को अपनी इच्छाओं से आगे कोई बात समझ में नहीं आती। नज्जो के प्रति आसक्ति ही नज्जो और उसकी अम्मी को त्रासदपूर्ण स्थिति तक ले जाता है। दरअसल, ये कारण मात्र हैं। इसके पीछे सत्ता, समाज और सम्प्रदाय का क्रूर चेहरा छिपा है। गोसाई बेरोजगार लड़का था। उसे दो समानान्तर ग्रहणों ने एक साथ दबोचा "बाप की असमय मृत्यु... और उसके अन्दर के निरन्तर बढ़ते खालीपन ने।" इस खालीपन का फायदा राममनोहर शर्मा और उनसे सम्बद्ध संगठन किस प्रकार उठाते हैं, यह गोसाई के चारित्रिक परिवर्तन को देखकर समझा जा सकता है। कल तक गली मुहल्लों में गेंद बल्ले का खेल खेलनेवाला, आज पाकिस्तान को मैच में हराने के लिए यज्ञ कर रहा है और हीरो का दर्जा पा रहा था। अच्युतानन्द के उग्र साम्प्रदायिक चरित्र के विकास के पीछे रामनोहर शर्मा हैं। शर्मा जैसे तमाम लोग आज समाज में मौजूद हैं जो अपने निजी स्वार्थ और महत्वाकांक्षा को पाने के लिए इस तरह के चरित्र का विकास कर साम्प्रदायिक उन्माद को बढ़ावा देते हैं।

उदारीकरण की प्रक्रिया ने भारत में विशाल मध्यवर्ग को पैदा किया और इस वर्ग की महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए बाजार को भी। इसके साथ युवाओं का बड़ा वर्ग बेरोजगारी का शिकार भी हुआ। इन स्थितियों ने मिलकर साम्प्रदायिक अलगाव और धार्मिक कट्टरता को फलने-फूलने का मौका दिया। अगर ऐसा नहीं है तो क्या कारण है कि हर वर्ष 6 दिसम्बर से पहले तैयारियाँ कर ली जाती हैं, घरों के परदों को खींच कर तान दिया जाता है और दरवाज़े पर ताला जड़ दिया जाता है। क्या हो गया था 6 दिसम्बर, 1992 को? सैकड़ों वर्षों से चली आ रही संस्कृति के नींव में कहाँ पर कमजोरी थी? कहाँ वो दरारें थीं, जिसने गोसाई और उसके तरह के लोगों को खाई बनाने में मदद की? समाज में एक खास तबका शुरूआत से रहा है, जो जातीय श्रेष्ठता के आधार पर समाज के शक्तिशाली वर्गों से जुड़ा रहा और जहाँ भी वह कमजोर होने लगा, वहाँ वह जाति, धर्म, सम्प्रदाय, वर्ग आदि की ओट में अपने आपको सुरक्षित ही नहीं रखा, मजबूत भी किया।

नज्जो की शादी की तारीख नजदीक आ गई, बचपन में देखे लाल जोड़े का स्वप्न पूरा होता दिखाई पड़ रहा था। दूसरी तरफ नज्जो को न पाने की कसक गोसाई के चेहरे को जैसे निस्तेज कर रही थी। नज्जो के मन में आई 'सवार का कहानी' अम्मी के मन

को सशक्त कर दिया। फिर वही हुआ और अम्मी की आशंका सही निकली। गोसाईं के शिष्यों ने उसके स्वप्न को उसके सामने ला दिया। जहाँ अम्मी थी वहाँ न पुकार थी, न आवाज, न दृश्य, न सच्चाई और गोसाईं के सामने नज्जो थी पर उसे वही टूटी मस्जिद हजारों कारसेवक, मस्जिद के ऊपर कहते दिखलाई पड़ रहे थे—‘एक धक्का और दो’।

‘यूटोपिया’ कहानी हमारे समय की नंगी हकीकत है। यह हमारे वर्तमान सामाजिक निर्माण एवम् राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया पर न केवल प्रश्न चिह्न लगाता है वरन् उसकी वास्तविकताओं से भी रूबरू कराता है। शिक्षित बेराजगारों को किस तरह ये शक्तियाँ अपने विघटनकारी कामों में लगाती हैं तथा प्रचार-प्रसार के माध्यम से जनता को वास्तविक यथार्थ से दूर रख जाति, धर्म, राष्ट्र आदि समस्याओं में उलझाए रखती हैं। आज भी ये शक्ति औपनिवेशिक एवम् सामन्ती मूल्यों को ही बढ़ावा दे रही हैं। स्त्रियों, शोषितों, वंचितों, अल्पसंख्यकों को आज भी उनके अधिकार से दूर रखा गया है। अपने अधिकार को पाने के लिए इन्हें कई अवरोधों को पार करना होगा और इसके लिए बड़ी लड़ाई लड़नी होगी। मध्यकालीन सामन्ती मूल्य अपने नए कलेवर के साथ हमारे गोसाईं, मौलवी, राममनोहर और उनके कारिन्दों के रूप में फल-फूल रहे हैं। जरूरत है इन शक्तियों को पहचानकर इनके साथ एक सार्थक संघर्ष की।

संग्रह की अन्य कहानियाँ नक्शा और इबारत, तस्वीर, रात्रि जागरण, कान, छायायुद्ध और तमाशा हैं। वन्दना राग की कहानियों में स्त्री-पुरुष के मनोविज्ञान को खूबसूरती से चित्रित किया गया है। इनकी कहानियों में प्रेम एक मूल्य की तरह आया है। सामाजिक व्यवस्था के खोखलेपन को दर्शाती कहानियाँ आज के समय की कड़वी सच्चाई है।

यूटोपिया/ वन्दना राग/ राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली/ संस्करण-/ मूल्य-

सच की बहुरंगी छवियों का साक्ष्य

✍ निरंजन सहाय

आज़ादी के बाद की कहानियों में एक खास तरह की प्रवृत्ति ने कथा-शिल्प की केन्द्रीयता हासिल की। वह थी रोमानियत से खुद को अलग करते हुए सच की बहुरंगी छवियों का सर्जनात्मक आख्यान। सच के इस पुनर्सृजन ने कथा के जिस पाठकलोक का निर्माण किया उसमें समस्या समाधान की हड़बड़ी नहीं थी न ही उसमें धवल चरित्र की अमानवीय दिव्यता के आख्यान का मोह था। इस लोक को उस आदमी की चिन्ता ज़रूर थी जो विकट-से-विकट स्थितियों में भी हालात को बदलने की चाहत को कभी मद्धिम नहीं होने देता और साथ ही सच के बहुविध रंग से खुद को हर हालत में बावस्ता रखने की कोशिश करता है। कहना न होगा इस लोक ने बदलते भारत की नब्ज को खूब पहचाना। हरिओम की कहानियाँ अपने विशिष्ट अन्दाज़ में बदलते समाज की नब्ज को टटोलती हैं। वह चाहे सत्ता की ललक में धार्मिक उन्माद के इस्तेमाल की चालाकी के बीच हतप्रभ आम आदमी की विवशता का चित्रण हो, या अच्छे-बुरे की सपाट समझ से असहमत वह दृष्टि हो जो बारीकी से चरित्र की संश्लिष्ट बनावट को समझती हो, बाजारवाद के निर्मम दौर में परम्परागत गाँव-कस्बे-शहर की संरचनाओं-चरित्रों के टूटने की पीड़ा हो या फिर नए उभरते समाज पर सूक्ष्म निगाह हो, हरिओम की कथादृष्टि हर वांछित ब्यौरों को दर्ज़ करती है।

हरिओम के पहले संग्रह 'अमरीका मेरी जान' की बहुरंगी छवियाँ कई अर्थों में विशिष्ट हैं। हालाँकि संग्रह में शामिल कहानियाँ पहले ही पत्र-पत्रिकाओं में छप चुकी हैं। पर एक साथ इन कहानियों से गुजरकर कथाकार हरिओम के रचना-परिदृश्य और शिल्प कौशल को समझना एक यादगार अनुभव बन जाता है। संग्रह में कुल दस कहानियाँ संकलित हैं। कहानियों की एक विशिष्टता यह भी है कि वे देशकाल निरपेक्ष कहानियाँ नहीं हैं। उदाहरण के लिए यह समझना आसान है कि कथा का राजनैतिक और आर्थिक परिदृश्य क्या है? यह कथाकार की सफलता है कि ये परिदृश्य कहानी में आरोपित नहीं लगते, बल्कि मजबूत कथायुक्ति के रूप में अपनी प्रासंगिकता साबित करते हैं। संग्रह की पहली कहानी है—'मियाँ'। कहानी की पृष्ठभूमि में संघ परिवार के कल्पित हिन्दू राष्ट्र की तैयारियों की झलक है। इस झलक में गाँव की साझी संस्कृति में ईर्ष्या द्वेष और विभाजन की बिसात बिछाने की प्रक्रिया का सूक्ष्म वर्णन है। बला के पहलवान रहमत तेली जिसके किस्से किंवदन्तियों की तरह युवाओं में फैले थे और जो अब निरपेक्ष अधेड़ में बदल चुका था उस रहमत तेली को उन युवा साधुओं की टोली ने रहमत तेली से रहमत 'मियाँ' बना दिया, जिनके व्याख्यान में आचरण, चरित्र, समाज, राष्ट्र, मातृभूमि, धर्मस्थल, मुसलमान, आतंक जैसी सोदेश्य

शब्दावलियाँ थीं। रहमत उस समय अवाक हो जाता है, जब साधुओं की टोली द्वारा उससे शाम तक 108 त्रिशूल बनाने के लिए कहा जाता है। कथाकार की तर्कसंगत टिप्पणियाँ उसकी राजनैतिक समझ को बखूबी प्रकट करती हैं। बतरस शैली में रचित यह कहानी भंगिमा और कथ्य दोनों में प्रभाव छोड़ती है। 'जय हिन्द' कहानी में कहानीकार की व्यापक दृष्टि सनकी बन्ने को नायकत्व का दर्जा देती है। बचपन से ही दुनियावी समझ या दौंव-पेंच से अनभिज्ञ बन्ने के लिए पुलिस ऑफिसर की सेवा, पुलिस लाइन की टहल, आश्रम के लिए समर्पण, इमामबाड़े की खिदमत में कोई फ़र्क नहीं था। नफ़रत की सियासत करने वाले निर्ममता से बन्ने की हत्या कर देते हैं। भीड़ जमा होती है, जिसमें बुद्धिजीवी, पत्रकार, मीडियाकर्मी, कौम के लीडरान जैसे चेहरे भी शामिल हैं। अचरज की बात है कि इतने लोगों की मौजूदगी के बावजूद पहली बार ऐसा होता है कि बन्ने का तकियाकलाम 'जय-हिन्द' नहीं सुनाई पड़ता। सियासत का यह विचित्र और हत्यारा दौर था, जिसमें सबसे ज्यादा खतरा उसी से था जिसे नस्ल, जात की पहचान तो नहीं थी लेकिन जिसका तकियाकलाम 'जय-हिन्द' ज़रूर था। कहना न होगा 'जय हिन्द' की खामोशी कई निहितार्थों को प्रकट करती है।

संग्रह की एक बेहद खूबसूरत कहानी है 'मुँहनोचवा'। आस्था की हिन्दुस्तानी आदत के चतुर इस्तेमाल की वर्णवादी समझ लोकतन्त्र में भी खूब फल-फूल रही है। इतना ही नहीं वैज्ञानिक समझ यदि तर्क की शान पर तथाकथित मान्यताओं की असलियत को बेनकाब करने का प्रयास करती है तो उसे नेस्तनांबूद करने में कोई कसर नहीं छोड़ी जाती। नुमाइन्दों द्वारा इसके इस्तेमाल को कथा-सूत्र में पिरोया गया है। जनमत द्वारा एक हद तक उपेक्षित नेता जी को उस समय अपनी प्रासंगिकता को नया आयाम देने का मौक़ा मिल जाता है। जब पूर्वाचल के एक क्रान्तिकारी कस्बे में अचानक 'मुँहनोचवा' का अभ्युदय होता है। नेता जी यथास्थितिवादी हैं, उन्हें यह विश्वास है कि अमीर-गरीब ऊँच-नीच सब ईश्वरीय न्याय है। इसका व्यवस्था की नीतियों से कोई रिश्ता नहीं। उनका और उनके पुत्ररत्न का यह भी मानना है कि कलियुग में महत्वाकांक्षा के साथ धार्मिक होना ज़रूरी है। ईश्वर उन्हीं पर कृपा करते हैं जो धार्मिक हैं। नेता जी की बहू इस मान्यता की सख्त विरोधी थीं, वह मुँहनोचवा जैसी मान्यता को अन्धविश्वास और धर्मभीरुता का प्रतिफल मानती थीं, लिहाजा उसे सजा तो मिलनी ही थी। खास कर ऐसे समाज में जहाँ कथाकार के चित्रण का सहारा लें तो कस्बे में ऐसी स्थिति हो गयी थी कि पत्नियों से नाराज़ पतियों की फरियाद पर मुँहनोचवा ने ऐसी पत्नियों की लाठी-डंडे से पीटा। प्रधानी के चुनाव में एक शूद्र से पराजित हुए ब्राह्मण की आह सुनकर शूद्र को गोली मार दी। बबुआन बस्ती के पड़ोस में जवान होने का दुस्साहस करने वाले निम्नवर्णी कन्या का बलात्कार किया और नीची जाति के लड़के के साथ प्रेमातुर होने के पाप के कारण जमींदार-पुत्री को चौपाल के गहरे कुएँ में ढकेला। मुँहनोचवा ने जहाँ भी ज़रूरत हुई अपने दायित्वों का निर्वाह किया और इस प्रकार अपने सच्चे भक्तों को अभयदान दिया। फिर वही हुआ जो धर्मपरायण नेताजी की दिली ख्वाहिश थी। एक रात नेताजी को उचित विवेक का दिव्य ज्ञान हुआ, उन्होंने पुत्ररत्न के कान में मन्त्र फूँका। लोगों ने देखा कि बहू के कमरे पर मुँहनोचवा ने हमला

कर दिया और बहू का कमरा धूँ-धूँ कर जल उठा। कहना न होगा अपने ज्ञान, तर्क, सोच और संघर्ष के साथ बहू भी जल गयी। और इस तरह एक बार फिर धर्म की रक्षा के लिए प्रभु ने अधर्मी के संहार का प्रबन्ध किया। कहानी बिना बड़बोलेपन के धर्म के धन्धे, उसके इस्तेमाल और समकालीन सियासी चालों को बेनकाब करती है। 'लबड्डा' कहानी सुन्दर तरीके से चरित्र की संश्लिष्टता को परत-दर-परत खोलती है। कथा नायिका जैसे चरित्र तो आसानी से मिल जाते हैं, यदि चरित्र का ब्योरेवार वर्णन कर दिया जाता तो कथा महज सामान्य कथा ही रहती। कहानीकार की असली सफलता चरित्र के उस अनछुए पहलू का उद्घाटन है, जिससे उस चरित्र की अन्तर्वर्ती धारा के रूप में मौजूद मानवीयता का पता पाठकों को मिलता है। लबड्डा के असली नाम शान्ति को तो लोग भूल ही गए थे। लबड्डा अपने सारे काम दाएँ हाँथ की जगह बाएँ हाथ से करती थी, यह उसके नामकरण की फौरी वजह थी। लबड्डा बेहद मुँहजोर थी, मुँहजोरी में उसकी समता करने वाला कोई नहीं था। असें बाद हरीशाम की दुलहिन ने उसको चुनौती दी, थोड़ी देर तक तो लबड्डा को विश्वास ही नहीं हुआ। पर पराजय उसे बर्दाश्त नहीं था, लिहाज़ा उसने एक बेहद मौलिक तरीका ढूँढ़ निकाला। वह टीन के टुकड़े को पीट-पीट कर सस्वर चुनौती देने लगी। एक बार फिर उसे विजय हासिल हुई। लेकिन हरीशाम की दुलहिन को लम्बे समय बाद उस समय घोर आश्चर्य हुआ, जब उसकी सबसे बड़ी दुश्मन लबड्डा ने जान की बाजी लगाकर हरीशाम के बेटे को डूबने से बचा लिया।

'भैयाराम' कहानी स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर आधारित है। भैयाराम अव्वल दर्जे का शंकालु एवं अपने अधिकारों के प्रति लापरवाह है। उसकी पत्नी में नगेसर तिवारी की दिलचस्पी है, जिसे वह अनदेखा करता है, पर एक दिन उसे अपने अधिकारों का भान शायद हो जाता है। कहानी इस ओर संकेत कर खत्म हो जाती है। जिस खाट पर नगेसर तिवारी बैठता था उसे भैयाराम ने जुनों के हद तक तिरस्कृत किया और डंडे से पीट-पीट कर तोड़ डाला। फिर उसने पत्नी से कहा, 'पानी पिलाओ बड़ी प्यास लगी है।' जाहिर है इस वाक्य की अनेक अर्थछवियाँ हैं। 'जगधर की प्रेमकथा' अद्भुत प्रेम कहानी है। इस कहानी में चित्रित तृप्ति और अतृप्ति का द्वन्द्व पठनीयता के विशिष्ट अहसास को सम्भव करता है। कहानी की एक और विशेषता है, इसमें निहित काव्यात्मक अन्दाज़। 'ये धुआँ धुआँ अँधेरा', प्रेमकहानी में परिदृश्य बाबरी मस्जिद विध्वंस के दौर में पनपने वाली सियासत का है। कस्बे से शहर पहुँचने वाले जयराज अनीस की मुलाकात-दर-मुलाकात अनबोले मुहब्बत में कब तब्दील हो गयी पता ही नहीं चला। प्रतिपक्ष की राजनीति करने वाले अनीस और नसीम की सोहबत में कई मुद्दों पर जयराज ने अपने नजरिए का कायातन्त्रण किया। कथा-सूत्र में अनेक स्थानों पर रचनाकार की राजनैतिक दृष्टि का खुलासा है, पर यह नियोजन कथा के विकास-क्रम को सम्बल देता है, न कि बाधक की तरह आता है। कुछ उदारहण देखे जा सकते हैं—

'कैम्पस में भी धर्म, आचरण, राष्ट्रीय-चरित्र, राष्ट्र-प्रेम, साम्प्रदायिक सौहार्द्र और फिरकापरस्ती पर बहसें चलने लगी थीं। कुछ छात्र संगठन जहाँ अपने आयोजनों और यात्राओं

से राष्ट्रवाद की अलख जगा रहे थे वहीं कुछ दूसरे सभ्यता के सहिष्णु इतिहास और बहुलतावादी विरासत को समसामयिक कर रहे थे।’


‘जिनका खून प्रवचनों, जयकारों और मातृभूमि के नाम पर खौल उठता था, वे इस रेले में शामिल थे। जो साधन सम्पन्न थे वे भक्तों की सेवा कर रहे थे।... चन्द लोग जो और बचे हुए थे वे अपने घरों में दुबके हुए सलामती की दुआ कर रहे थे। उन्हें यकीन था कि ईश्वर के कहर से सिर्फ अल्लाह ही बचा सकता है।’

कथा में प्रेम का दुखान्त होता है। कहानी में अनेक स्थानों पर कविता का रोमानी रंग बिखरा हुआ है। जैसे जयराज को लगा, वो रास्ते महके हुए थे और वो शाम रोशनी से धुली। सुनहरे पंखों और मद्धम उड़ान वाले असंख्य पंछी उन सुन्दर पलों में सरगम घोल रहे थे जो अनायास ही जिन्दगी का हिस्सा बन गए थे। हरिओम कविताएँ और गूज़ल भी लिखते हैं। कवि का विवेक कहानी में विशिष्ट अन्दाज़ भरता है। संग्रह की अन्तिम कहानी है—‘अमरीका मेरी जान’। यह कहानी फासीवादी राजनीति के भारतीय उभार और अमरीकी दमन के नए राजनैतिक रंग—ढंग को मार्मिक ढंग से बरास्ते एक शहरी परिवार प्रकट करती है। मोबीन को लगता है, अमरीका बहुत ताकतवर है। पर उसकी दिलचस्पी क्रिकेट और मुम्बइया फिल्मों में अधिक है। साम्प्रदायिक तनाव और बम विस्फोटों के मंजर में वह पुलिसिया शक का शिकार हो जाता है। बड़े भाई पत्रकार असलम को पहले ही राजधानी में गिरफ्तार किया जा चुका है। उसके पिता को लगता है आखिर अमरीका को उसके बेटों से क्या दुश्मनी है। कहानी में अमरीका रूपक है जो एक साथ अनेक ध्वनियों की व्यंजना करता है।

अन्त में यह कि कथाकार की जो सफलता है, वही कहीं आगे उसकी सीमा न बन जाए, इसका ध्यान रखने की ज़रूरत है। वह यह कि कहानियों में विन्यस्त राजनैतिक दृष्टि कहीं उसे दुहराव की शिल्प-तकनीक न दे दे। फिलहाल एक सजग कथाकार के रूप में अपनी पहचान बना चुके हरिओम की अन्य कहानियों की पाठकों को प्रतीक्षा रहेगी।

अमरीका मेरा जान/ हरिओम/ अंतिका प्रकाशन/ संस्करण-2009/ मूल्य-

भूले-भटक्यों को राह दिखाते जंगल-गाँव

 वन्दना राग

छत्तीसगढ़ के बिलासपुर ज़िले में मरवाही के आस-पास के जंगलों में भूलन कांदा देखा जाता है। गलती से किसी का पैर पड़ गया इस पर तो भटक जाता है। दिखता है तो सब ओर पेड़-ही-पेड़, रास्ता नहीं दिखता। कोई निकलता है, गाँव का इधर से—समझ जाता है, यह भूलन का काम है। वह पास जाकर उसे बस छू लेता है कि फिर से सब कुछ वैसा का वैसा दिखने लगता है। यह किंवदंती नहीं, सत्य है। यह अजीब-सा लगता है, पर यह मौजूद है छत्तीसगढ़ के जंगलों में। ऐसी ही सच्चाइयों से भरा पड़ा है, यहाँ का जंगल गाँव।

उपर्युक्त परिचय से, लेखक संजीव बख्शी का उपन्यास भूलन कांदा (बया—अप्रैल-जून 2010 में प्रकाशित) हमें अपनी परतें खोलने के लिए आमन्त्रित करता है। वह कहता है, आओ और मुझे खोजो। खोज लो यहीं, जिसे तुम बार-बार खोया हुआ समझते हो, या डरते हो खोता जा रहा है और एक दिन पूरी तरह खो जाएगा। चिन्तित मत होना, समझो तुम्हारा पाँव किसी 'भूलन कांदा' पर पड़ गया है, और तुम रास्ता भूल गए थे, मैं तुम्हें बहुत सीधे और सहज ढंग से तुम्हारा हाथ पकड़, तुम्हें रास्ता दिखा दूँगा। वह रास्ता जो गाँव का है। वह रास्ता जो गाँव से जंगल की दूरी और नज़दीकी बयां करता है। उसकी आवाज़ शोर रहित है। वह बड़ी मजलिसों, सिविल सोसायटी एक्टिविस्टों, रियलिटी टीवी शो और रियलिस्टिक सिनेमा में नहीं दिखाया जाता है। लेकिन यहाँ वह अपनी पूरी सच्चाई और ईमानदारी के साथ मौजूद है। यह प्रायः पाई जाने वाली ग्रामीण छवियों, जीवनियों के समान होते हुए भी भिन्न किस्म का है। अभी तक बहुधा उपेक्षित और अघोषित यह छत्तीसगढ़ राज्य के बिलासपुर क्षेत्र के गाँवों का जीवन है। यह रोजमर्रा की बातों से बना कहन है। यहाँ विशेष सन्दर्भ वाली समस्याएँ आती भी हैं तो वे अन्तरंग होने के बावजूद खुलेपन से पेश होती हैं। एकदम आम समस्याओं की भाँति। यही सरलता, यही सादगी यही आम होना, इस उपन्यास की खासियत बनकर उभरते हैं और हमें ऐसी कथा यात्रा पर ले चलते हैं, जो अपने आप में अनूठी बन उभरती है।

निकल जाइए भला, जहाँ कहीं गाँव दिखेगा।...पर यह ज़रूर है कि धीरे-धीरे शहर के भीतर का यह गाँव बिलाते जा रहा है। साहब!...ठीक कहता है बड़कू, कोटवार ने जोड़ा।

“चाहे जो हो पर यहाँ के हवा-पानी में जो गाँव है, वह तो रहेगा ही न, वह कहाँ जाएगा।”

“हाँ, बड़कू ने कहा...यह गाँव है न साब, असल में का है कि सबके हिरदे के सुभाव

में बसा है। सिधवा कह दो, कि भोला में ले लो, चाहे गँवार कह लो सब। बात कर लो तो सुन लेंगे, सजा दे दो तो सह लेंगे, का सजा और का मजा!”

यही है, यहाँ चित्रित गाँव की अवधारणा, जिसके अपने स्वभाव में रचा बसा, हर गाँववासी शहरों, बाज़ारों, आदि में घूमता है, बे-कुण्ठा, बे-हिचक। यहाँ वह जबरन का अभिमान भी नहीं जो आज के कई शहरी, गाँवों से अपने जुड़ाव को लेकर दर्शाते हैं, लगभग एक पोस्चर, एक फैशन के तहत। हाँ, जब छत्तीसगढ़ की बात आती है तो गाँव वाले भी मानते हैं कि, दुनिया को छत्तीसगढ़ को जानना चाहिए। वह है कैसा? कद्र का हक तो छत्तीसगढ़ी पहचान के बाद ही जताया जाएगा।

“एक छिन में पहचान जाओगे कि यह छत्तीसगढ़ है अऊर सब जगह से अलग...का इहाँ के ददरिया, का इहाँ के सुवा, का इहाँ के पंडवानी, का इहाँ के लोग-लइकन अउर का इहाँ के पेड़-पौधे।”

अब साहब, इस परिचय के बाद आपको भूलन कांदा के रहस्य और जंगल से भी रूबरू करा दिया जाए, तभी तो कथा आगे बढ़ेगी।

“साहब यह भूलना भी बड़ा ही अजीबो-गरीब चीज है। गाँव-जंगल की इस चीज को कोई शहरी नहीं मानता। कहते हैं, यह तो किस्सा-कहानी है, पर देखो साहब यहाँ सचमुच में भूलन है। उधर जो स्थान है वहाँ भूलन कांदा है। उस पर जो पैर रख देता है न साब तो वह रास्ता ही भूल जाता है। उसे सब ओर जंगल ही जंगल दिखता है। रास्ता दिखता ही नहीं, वह यहीं का यहीं भटकता रहता है।”

“एक बार भटक गया तो उसका कोई छुटकारा का उपाय है कि वह जीवन भर भटकता ही रहेगा।”

“हाँ है न साब, जंगल में सब व्यवस्था है, कोई चरवाहा या और कोई गाँव का इधर से निकलता है तो समझ जाता है कि भूलन में भटक गया है, तो वह जाकर उसका हाथ पकड़ लेता है। बस छू देने से भर से वह फिर से रास्ता देखने लगता है।”

“है न साब जादू गाँव-जंगल का।”

यहीं से आप, जंगल के रहस्य और उससे गाँव वालों के रिश्तों को, अनावृत्त करने का प्रयोजन कर सकते हैं। जब हम यथार्थ के रहस्य को खोजते हैं तो जंगल की इन गाँव वालों के जीवन से जुड़ी व्यापकता को भी खोजने की कोशिश करते हैं क्या? या हम जंगल को सिर्फ अर्थापान का ज़रिया मान लेते हैं? सारी किंवदंतियाँ सच बन लहक-लहक लोक कथाओं के सच के रूप में गाँव वालों में बसती हैं और उन्हें हिम्मत भी देती हैं। जंगल को मित्र, माँ, पिता जैसे अभिन्न रिश्तों के रूप में परिभाषित करने का अन्तर्ज्ञान गाँववालों को तभी मिलता है। और ये रिश्ते अटूट अन्तर्सम्बन्धों में सदा के लिए बँध जाते हैं। पीढ़ी-दर-पीढ़ी, इन सम्बन्धों को जीने के फलस्वरूप ही तो, किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप, एक ऐसी ‘लक्ष्मण रेखा’ लाँघने वाली क्रिया बन जाती है कि समूचा भौगोलिक, सामाजिक समीकरण बिगड़ जाता है। उसके नतीजे भयानक किस्म के हो सकते हैं। समकालीन विमर्शों के जायज़-नाजायज़ पक्षों से यदि हम अपने को मुक्त रखें, तब भी किसी भी आत्मनिर्भर

प्राकृतिक व्यवस्था के पूरी तरह उलट जाने का शोक करने से हम अपने आपको बचा नहीं सकते।

इसका एक उदाहरण, जंगली जानवरों की घटती जनसंख्या से, स्पष्ट किया जा सकता है,

“जंगल नहीं तो जानवर, जानवर (शेर) भी नहीं”, और यदि हम परिवेश और उससे जुड़ी आर्थिक आत्मनिर्भरता तथा बढ़ते आधुनिकीकरण और उसके साथ-साथ चलते औद्योगिकीकरण और भूमण्डलीकरण के प्रयासों की बात करते हैं तो हमें अन्य तल्ल और गम्भीर मुद्दों को छोड़ना होगा, जिसका अवकाश यहाँ नहीं है।

उपन्यास में निकष के बजाय, व्यवस्था की आधारभूत संरचनाओं की प्रक्रियाओं की पड़ताल, दिनचर्या की जानकारियों की मदद से की गई है। सामान्य जन-जीवन के बीच एक घटना घटती है, जिसके बारे में ज़रूर ही हल्ला नहीं होता, यदि बात गाँववालों तक ही सीमित कर दी जाती तो, लेकिन अब ज़माना बदल गया है, प्रशासनिक व्यवस्थाओं में भी फेर बदल जारी है और मुखिया की बात पर जो फ़ैसले हो जाते थे, उनमें भी अब पुलिस तथा प्रशासन का बड़ा दखल है। ऐसा नहीं था कि पुलिस और प्रशासन का अस्तित्व पहले यहाँ नहीं था। था ज़रूर ही था। अंग्रेज़ों के ज़माने से था। गाँवों के नाम, अंग्रेज़ों से जुड़े किस्सों से जोड़कर रखे गए जैसे सहबिन, जो ‘साहब और मेमसाहब’ की वजह से बना और है सहबिन कछार पर सहबिन से भी पहचान लेंगे आप। गाँव थोड़ा ऊपर की ओर पहाड़ी पर हुआ तो वहाँ से नीचे का गाँव, ‘नीचा गाँव’ और ‘नया गाँव’ तो हर जगह है। गाँव भी कितना बड़ा है, जहाँ घटना घटती है? कुल जमा इक्तीस घर और लगभग एक सौ पचास की आबादी बड़ी सीधी-सादी और समग्र सी बनावट है। कोटवार का एक दो परिवार, लोहार, बढई, नाई, कुम्हार के लगभग पाँच सात परिवार को छोड़ सब गोंड ठाकुर हैं। सब गाँव के प्रति बेजोड़ रूप से समर्पित भी हैं। यहाँ तक की कोटवार पहले गाँववासी हैं, फिर सरकारी नौकर। उन्हीं के वंशज, व्यवस्था में बदलाव देखते हैं, पहले कैसे तहसीलदार भी गाँव आता था तो रात भर जगकर, बात करते-करते सब जानकारी ले लेता था। साहब लोग भी कड़क होते थे। ऐसे ढीले-ढाले नहीं कि पैसा देख पाला बदल ले। गाँववाले अपने ढंग से व्यवस्था पर टीका टिप्पणी करते हैं, लेकिन अपने मुखिया की बातों को ही तरजीह देते हैं। मुखिया के नीचे, गाँव वाले—पण्डित से आपदा-विपदा से जूझने के उपाय पूछते हैं। बारिश नहीं आने का कारण यदि ‘पोरा’ त्योहार ठीक से न मनाया जाना है, तो त्योहार साल भर में दूसरी बार भी मनाया जा सकता है। गाँव की यह सादगी किसी रूढ़ विधि-विधान की गुलाम नहीं है। गाँव वाले अनावश्यक पाप-पुण्य के झमेले में नहीं पड़ते। यही सीधापन और साफगोई है जिसे नए बने ‘संस्कृतज्ञ’ नहीं समझते। जीवन को प्रतिदिन ठीक से जी लेने से बड़ी चुनौती ‘धार्मिक निष्ठा’ नहीं होती।”

उपन्यास में जिस घटना का जिक्र है, उसके पीछे सरकारी ज़मीन व्यवस्था की प्रक्रिया ‘बन्दोबस्त प्रणाली’ है। जब से नए नियम बने हैं, तभी से बिज्जू नामक पात्र की दो डिसमिल ज़मीन को भकला न जाने कैसे अपनी समझ जोत रहा है। आँकड़ों के नए बोध से समीकरण

गड़बड़ाता है। बिज्जू और भकला में बाताबाती होती है और बिज्जू मर जाता है। देखा जाए तो 'हत्या' हो गई है, लेकिन वह अनायास, किसी भी पूर्व नियोजित षड्यन्त्र के भाव या पारम्परिक शत्रुता के बिना हुई है। वैसे भी भकला इतना सीधा है कि हत्या करना तो दूर वह हत्या के बारे में सोच भी नहीं सकता है। यह गाँव वालों के लिए पर्याप्त कारण है, भकला को बचाने का। यहाँ अन्त से अधिक अभिप्राय प्रमुख हो जाता है।

यह एक अनूठी घोषणा है। अनोखी समझदारी।

लेकिन उपन्यास इस मोड़ पर आकर भी झामाई नहीं होता है जो कि वह हो सकता था। बल्कि वह बहुत उल्टे और बहुत धीमे स्वरों में पाठकों को नैतिकता और न्याय, सौहार्द और भाईचारे की नई परिभाषा देता है। हम अपने शहरी और नव आधुनिक बोध से भरे, जिस तरह समाज के नियम बना अंधाधुंध उसका पालन बिना प्रश्न किए करते हैं, उसी बोध पर सवाल खड़े करने की दादागिरी बिना सवाल करता है उपन्यास। यहाँ बात मानवता की होती है। मानवता को महफूज़ और जिंदा रखने की पहल की जाती है। पहले गंजहा नामक बूढ़ा सज़ा अपने ऊपर लेता है। सारे गाँव वाले मुखिया के इस निर्णय में उसके साथ हैं। एक सामाजिक फैसले के तहत, भकला गंजहा की ता-उम्र सेवा करेगा और उसकी अनुपस्थिति में खेती की भी देखभाल करेगा। दरोगा जब तफ्तीश करने आता है तो उसकी चिड़चिड़ाहट वाजिब है।

“क्यों मारा रे बूढ़े, तूने बिज्जू को।”

“इतने जोर से दरोगा ने कहा”...“साब मोर ले अइहे हो गे साब माफ कर दो।

आगे पीछे कोई नहीं है साब, गाँव वाला मन ही हैं। पहली गलती है पाँव परत हों।

इस सारे भाईचारे के बीच एक ऐसा तथ्य भी उभरता है, जो पाठक को झकझोर कर रख देता है। जेल के बारे में गंजहा के और गाँव वालों के विचार। जेल जाना उनके लिए घूमने जाना और मड़ई-मेले में जाने सरीखा है। एक उत्सव है यहाँ। समय से खाना-पीना, सोना, डॉक्टर, दवाई मिलती है जेल में। इसकी तुलना में कितने वंचित और अवसरहीनता के शिकार हैं गाँव वाले! यह कैसा विरोधाभास है कि एक तरफ आधुनिकता अपने सही अवसरों को इन क्षेत्रों में स्थापित नहीं कर पा रही और दूसरी ओर भ्रष्ट प्रशासनिक तन्त्र, जंगल के उत्पादों तथा उससे सम्बद्ध कार्यों को नष्ट कर एक ऐसा सामाजिक असन्तुलन कायम कर रहा है कि आत्मनिर्भर गाँव वाले अब उत्तरजीविता के संघर्ष में खत्म हो रहे हैं। कितना भयानक है यह दृश्य जो हमें बतलाता है कि 'जेल' जैसी संस्था भी गाँव वालों के प्रतिदिन की जीवन व्यवस्था से बेहतर सुविधाएँ प्रदान करती है।

इसी तरह छत्तीसगढ़ के अति खास शिल्पों में से एक, बेल मेटल की शिल्पकारी भी, गंजहा के माध्यम से उपन्यास में उपस्थित होती है। यह शिल्प छत्तीसगढ़ के चप्पे-चप्पे में व्याप्त है। लेकिन उसका बाजार अभी भी सम्पन्न से ज्यादा कोरी प्रशंसा प्राप्त है। यह सर्वविदित है कि बाजारों में मूल्य निर्धारण बिचौलियों द्वारा होता है और शिल्पकार के हाथ अत्यन्त कम पारिश्रमिक आता है। अतः चारों ओर सुचारु व्यवस्था के आभाव में शोषण व्याप्त है। किसी भी शिल्पकार को यथोचित मूल्य और सम्मान हासिल नहीं।

यहाँ पर उदास होकर कहना पड़ता है, कि गाँव वालों का यह निरा भोलापन, यह 'गऊ' होना (जैसा कि उपन्यास का पात्र अपने बारे में कहता है) एक यूटोपियाई जगत की दास्तान को पोषित तो कर सकता है, लेकिन इस संकटग्रस्त समय में न सिर्फ़ अखरता है बल्कि यह उस विषम अन्तर को भी रेखांकित करता है जो शहर बनाम गाँव और प्रकृति (जंगल आदि) बनाम औद्योगिकरण (की अंधी दौड़) के बीच पनप गया है। क्या इस अन्तर को पाटने के लिए उपयुक्त कदम उठाए गए हैं, या उठाए जाएँगे?

गाँव वालों का साक्ष्य छिपाने वाला अपराध सामने आ जाता है। तंत्र उनसे अधिक चालाक जो है। अब पटवारी ने हामी भरी,

जो भी फैसला हो सब मिलकर स्वीकार करें। आपने गाँव के लिए और गाँव वालों के अच्छे के लिए यह फैसला लिया। यदि कानून इसे गलत मानता है तो इससे क्या, गाँव वाले तो सही मानते हैं न, जो भी सजा कानून देगा गाँव वाले खुशी-खुशी स्वीकार कर लेंगे। जेल जाना पड़ा तो जेल चले जाएँगे। सत्य को सामने रखने के बाद का फैसला होगा। इसलिए इसे स्वीकार करने की सबको ताकत मिलेगी।

सारे के सारे गाँव वाले जेल जाते हैं। यह अद्भुत दृश्य है। इस दृश्य के पीछे का झूठ दुनिया का सबसे खूबसूरत झूठ होगा, क्योंकि वह एक भोले मनुष्य को बचाने के लिए लिया गया है। भकला को इसके बावजूद सज़ा हो जाती है। पूरा गाँव उसकी पत्नी प्रेमिन और बच्चों के साथ है। यह सामुदायिक विरादरी का वह ज़ब्बा है, जो अभी भी कुछ क्षेत्रों में बचा हुआ है। जिसकी वजह से अनेक जीवनों की रक्षा हो जाती है।

उपन्यास में एक अधिकारी पात्र के माध्यम से सरकार और प्रशासन तन्त्र की सु और कुव्यवस्थाओं पर प्रकाश डालने की कोशिश भी की गई है। यह अपने आप में सर्वथा नया एप्रोच है। यह उस संवेदनशील, ईमानदार अधिकारी को भी दर्शाने का प्रयास है, जिसकी तादाद तेज़ी से घटती जा रही है। सारी व्यवस्थाएँ अभी भी ढही नहीं हैं। जिस तरह के निराशावादी उद्गारों से लोग सारी व्यवस्थाओं के खत्म होने का उद्घोष कर, 'शहीदाना हीरो' का तमगा प्राप्त कर लेते हैं, लेखक उनसे हटकर कुछ वास्तविक पहलुओं को रेखांकित करता है।

“कई बार कानून से बात नहीं सँभलती है या कानून व्यवस्था की बात आ जाती है तो गाँव की व्यवस्था का सहारा लेना पड़ता है...सब मिलाकर देखो तो लोगों का इस पर से विश्वास उठ गया है। आज विरोध ज़्यादा है, विश्वास कम...।”

हम देख रहे हैं कि इस अविश्वास से उपजे विरोध का मुज़ाहिरा छत्तीसगढ़ में अनेक स्थानों पर हो रहा है। ज़रूरत नया विश्वास, ईमानदार और वास्तविक विश्वास जगाने की है। उपन्यास किसी को अनावश्यक रूप से सराहता नहीं, खत्म हो रहे गाँव के ज़ब्बे के प्रति हल्की तरफदारी को छोड़, जो किसी भी संवेदनशील लेखक की खुराक होगी। न ही, उपन्यास फैसलानकुन अभिमानी स्वयं में किसी को खारिज करता है। वह अपने फैसले मानवता के पक्ष में सुरक्षित कर छोड़ता है। जीवन है, तो सुख-दुःख लगे ही रहेंगे। यह लगभग 'बुद्ध के सम व्यवहार' की तरह का दर्शन वाला कथन है।

निश्चित ही जंगल-गाँवों के संकटों पर जल्द और आवश्यक ध्यान देने की ज़रूरत है। गाँव और जंगल और इनसे हमारे रिश्तों की बाबत, हमारे सीमित ज्ञान को चुपके से उघाड़ कर रख देता है, उपन्यास। कहीं-कहीं, अति कथन, अथवा उपदेशात्मक स्वर कथा के नैसर्गिक शान्त-बहाव में झोल पैदा करते हैं। लेकिन लेखक संजीव बख्शी की 'एक ऐसी कथा, जो सादगी से बयां हो गई' वाले भाव से स्पन्दित उपन्यास, पाठकों को अपने भीतर झाँकने पर ज़रूर विवश करेगा। साथ ही स्वयं से यह पूछने को भी विवश करेगा—बड़ा चिल्लाते थे, गाँव-गाँव, यह देखो गाँव और बताओ, क्या तुममें बचा है वह अमीर भाव जिसे गाँव वाले आदतन प्यार से अपना गँवई भाव कहते हैं? वही भाव जो कुण्ठा और आडम्बर रहित है। वही जो बेहद खुला हुआ है? पहले उसे अपने भीतर ढूँढ़ो, तभी गाँव नज़र आएँगे, अपने सही रूपों में। इसे ही पारदर्शिता और संवेदनशीलता कहते हैं। यही सारे युद्धों के विराम का स्वर है। इसे ही व्यवहार में लाने की ज़रूरत है।

प्रयास करेंगे? सब मिलकर बोलिए न—'हव'!

जो नहीं है उसका गम क्या, जैसे कि शर्म...

✍ प्रभात कुमार मिश्र

‘लोग शरमाना भूल गए हैं...’ तो क्या हुआ? बूढ़-पुरनिये तो कह ही गए हैं—आहारे व्यवहारे च त्यक्त लज्जां सुखी भवेत्। आहार में और व्यवहार-वर्ताव में, लाज-शर्म छोड़ना ही सुखकर होता है। आहार और व्यवहार से इतर बचता क्या है? एक दूसरे स्तर पर यह भी पता चलता है कि कवि का ऐसा कहना शिकायत करना मात्र नहीं है। शिकायत करना भी चाहे तो करे किससे? असल में यह एक शिकायत से बढ़कर चेतावनी है। कवि की इस चेतावनी में यह चिंता छिपी है कि अब केवल आहार-व्यवहार जैसी व्यक्तित्व की बाहरी और दिखाई पड़ने वाली चीजों से ही नहीं, विचार जैसी नितान्त आंतरिक वस्तु से भी लज्जाशीलता का लोप हो चुका है। लोगों ने वैचारिक रूप से भी अब लज्जित होना छोड़ दिया है। शिकायत न होकर यह एक चेतावनी इसलिए भी है कि इसमें कवि स्वयं इस ‘लोग’ का ही एक हिस्सा है। इस तरह से इस संग्रह की कविताएँ लोकमत की कविताएँ हैं। लोकमत की कविता के रूप में इन कविताओं की एक अनिवार्य विशिष्टता है कि ये अपने पाठकों की चेतना को संस्कारों की जड़ता से मुक्त करने वाली कविताएँ हैं। चेतना को संस्कारों की जड़ता से मुक्त करने की कोशिश करते हुए भी लोकमत की कविता का ध्यान समाज के साथ संलग्नता और स्वीकार में निहित होता है, अलगाव और अस्वीकार में नहीं। इस रूप में लोकमत की कविता चेतावनी देती हुई और सावधान-सचेत करती हुई यह जो जाहिर करती है कि संकट क्या है और कितना बड़ा है, किंतु उससे बाहर निकलने की सम्भावना के बचे होने में विश्वास भी प्रकट करती है। बलराज पाण्डेय का यह शीर्षक ‘लोग शरमाना भूल गए हैं’ ही यह भी बताता है कि कुछ ऐसी भी है जो भूले नहीं हैं।

संग्रह के आरम्भ में कवि की यह स्वीकारोक्ति बहुत महत्वपूर्ण है—“इन कविताओं में मेरा वही परिवेश है, जिससे दिन-रात का मेरा रिश्ता है। अपने लोगों के साथ रहते हुए समय-समय पर जो मैंने महसूस किया है, उसे सीधी-सच्ची भाषा अभिव्यक्त करने की कोशिश की है।” यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि अपने समय को लिखना केवल कविकर्म की ही जिम्मेदारी नहीं है बल्कि एक नागरिक जिम्मेदारी भी है। समय-समाज में रहकर अपने समय और समाज के बड़े सवालों से बेखबर और उदासीन बने रहना नागरिकता की शर्तों का उल्लंघन है। अपने समकाल और प्रत्यक्ष से मुँह मोड़कर शाश्वत की चर्चा में उलझे रहना वस्तुतः अपनी प्राथमिक जिम्मेदारी से भागना ही है। यह कवि का दायित्व है कि वह अपने पाठकों को यह बोध कराए कि वे कैसे समय और समाज में जी रहे

हैं। बलराज पाण्डेय का यह आत्मकथन समय-समाज में उनकी हिस्सेदारी का परिचय तो कराता ही है, इससे यह भी स्पष्ट होता है कि समाज के प्रति एक प्रकार की जवाबदेही भी उनके कवि-व्यक्तित्व का एक हिस्सा है। बलराज पाण्डेय की सचेत बुद्धि, तीक्ष्ण भावना और सजग-चौकन्नी दृष्टि से उत्पन्न इस संग्रह की कविताएँ एक तटस्थ-द्रष्टा की कविताएँ न होकर, एक निरपेक्ष-निरीक्षक की कविताएँ न होकर सामने आकर भागीदारी करने वाली कविताएँ हैं—

“अपनी दुनिया संवारने के लिए
जिंदा हैं हम, हमारे अरमान
अपने हालात से जूझता
जिंदा है जैसे
देश का हर सच्चा इंसान।”

यहाँ कवि सच्चे इंसान की बात कर रहा है। कौन है यह सच्चा इंसान? स्पष्ट है, जिसकी दुनिया का सँवरना अभी बाकी है, जिसके अरमान अभी मन की भीतरी गुफाओं में ही कैद हैं, जिसे दिन-रात प्रतिकूल हालातों-परिस्थितियों से जूझना-भिड़ना-निपटना पड़ता है। पहचान सकना मुश्किल नहीं है कि इनकी कविता का मानव या सच्चा इंसान दरअसल ‘साधारण’ है। इनकी कविताएँ साधारण परिवेश में साधारण आदमी की कविताएँ हैं, बल्कि जनसाधारण की कविताएँ हैं। इस संग्रह में शामिल की गई कविताएँ इस साधारण किंतु सच्चे आदमी के सच की गवाही देती हैं। रहा होगा वह दौर जब झूठ सबके अलग-अलग होते थे और सच एक। अब यह स्थिति नहीं है। समय इतना जटिल होता जा रहा है जिसमें सबके सच अलग-अलग हैं। साधारण आदमी का सच अलग है। यह सच बताता है कि इनकी संख्या बढ़ी है, इनका दुःख भी बढ़ा है, इनके शोषण-दमन और लूट की स्थितियों का भी विस्तार हुआ है और दूसरी तरफ इस शोषण-दमन और लूट के प्रतिरोध और संघर्ष का भी। सत्ता, ताकत और पूँजी का सच यही नहीं है। बलराज पाण्डेय के इस संग्रह की कविताएँ इस दोहरे सच का उद्घाटन करती हैं, छुपाती नहीं...‘गर छुपाना जानता तो जग मुझे साधु समझता’। सच्चाई को दबा-छुपाकर, आक्रोश को पीकर, दुःख को मांजकर साधु समझे जाने की हसरत कवि में नहीं है। बलराज पाण्डेय जानते हैं कि ‘सच्चाई पाई जाती है मेहनत से, छुपाई जाती है स्वार्थ से, फिर पाई जाती है मेहनत से’। सच को पाने-दिखाने का यह संघर्ष कवि के यहां तीन स्तरों पर दिखाई देता है। एक तो व्यक्तित्व में सच है कि प्रतिबद्धता, फिर उस सच को समझने की दृष्टि और फिर उसे कहने की ताकत। यह अनायास नहीं है कि उनके इस संग्रह की कविताओं में प्रायः इस सच की अनुगूँज सुनाई पड़ती है। ‘मेरा धन’ शीर्षक कविता में मानो कवि अपने सच का घोषणापत्र लिख रहा हो—

“सच का कवच बन
आज मैं बहुत मगन

यही धन मेरा है
मेरा यही प्रण।”

‘समय कितना खतरनाक’ कविता में समय दिनोंदिन इसीलिए खतरनाक होता जा रहा है क्योंकि लोग सच्चाई से मुंह मोड़ते जा रहे हैं। कवि की स्पष्ट समझदारी है कि शुभ-लाभ से जुड़ा सम्बन्ध ही सच को खा रहा है और इस ‘सच को बचाने के लिए’ वह लोगों से गुहार लगाने और सोते हुए को जगा देने का आह्वान करता है। ऐसी ही एक कविता है, ‘नहीं सुरक्षित’—

“नहीं सुरक्षित रह गई है
अब कोई जगह
यहां तक कि अपनी छत भी
लोगों का यह कहना
कितना सच लगता है
अब तो अपनी परछाई से भी डर लगता है।”

अवधेश प्रधान ने ठीक ही पहचाना है—“सच का कवच उसका धन है, सच की लड़ाई-हक की लड़ाई उसका धर्म है, जिस पर खड़ा होकर यह कविता हर तरफ की राजनीतिक-सामाजिक छल और पाखण्ड के खिलाफ उंगली उठाती है।”

बलराज पाण्डेय की कविताएँ तीखे सामाजिक अनुभव की कविताएँ हैं। इनकी आत्मसंघर्ष दरअसल बाहरी दुनिया के संघर्ष से ही उत्प्रेरित है। इसे इनकी कविता में बहुधा उपस्थित शहर-गाँव, घर-पड़ोस, गुरु-शिष्य आदि से पहचाना जा सकता है। इस धरातल पर बलराज पाण्डेय की कविताओं में नागार्जुन और त्रिलोचन की तरह ही अपनी मिट्टी-धरती के प्रति ममत्व के स्वर को चीन्हा जा सकता है, मनुष्य के जीवन के साथ सहकारी भाव से संलग्न प्रकृति के सलोने रूप को देखा जा सकता है और सबसे बढ़कर मुक्तिबोध की कविताओं की तरह ही शहरी-मनोविज्ञान की सूक्ष्म परख भी इनमें लक्षित की जा सकती है। इन तीनों का ही सम्मिलित प्रभाव उन कविताओं में प्रकट हुआ है जहाँ वे बड़े आदमियों, आभिजात्य और भद्रता के खोखले प्रतिमानों पर तीखा व्यंग्य करते हुए, विभाजित और भद्र लोगों की आलोचना करते हैं—

“भद्र व्यक्ति
आदमी कम, व्यक्ति ज्यादा होता है।”

संग्रह की ऐसी कविताओं से जहाँ एक तरफ बलराज पाण्डेय के व्यंग्य की क्षमता स्पष्ट होती है, वहीं उनकी पक्षधरता भी।

समकालीन भारतीय और विशेषकर हिन्दी समाज गहरे सामाजिक-सांस्कृतिक संकट और आत्म-समीक्षा के दौर से गुजर रहा है। बाजार और बाजार के प्रच्छन्न दबाव ने अपने लिए संस्कृति का प्रायः अनुकूलन कर लिया है। समूचे दृश्य-श्रव्य माध्यमों पर प्रबन्धन

और विज्ञापन की छाया है। पूँजी और तकनीक ने बुनियादी तौर पर समाज को भीतर से बदल डाला है। एकछत्र साम्राज्यवाद और उससे जुड़े बाजार तथा हथियार उद्योग ने वैश्विक स्तर पर सत्ता के नए-नए केंद्र खड़े किए हैं। इनके प्रभाव से आज की कविता की अन्तर्वस्तु में एक व्यापक अंतर दिखाई पड़ता है। अब कविता बेहद सतर्क और चौकन्नी हो गई है। बलराज पाण्डेय की कविताओं में इस चौकन्नेपन और सतर्कता का अंदाजा इस बात से लगता है कि इनके यहाँ तमाम छोटी-छोटी वस्तुएँ कविता का विषय बनने लगी हैं और इनके पीछे भी एक सोची-समझी और सुलझी हुई दृष्टि और अपना एक पक्ष मौजूद है। इनकी इस तरह की कविताएँ इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं कि राजनीतिक समझदारी और दृष्टि के लिए केवल राजनीतिक विषयों पर ही कविताएँ लिखी जाएँ, यह जरूरी नहीं है। 'घड़ी' पर लिखी उनकी दो कविताएँ ऐसी ही हैं—

“हम
समय देखने के लिए
बाँधते हैं घड़ी
वे
घड़ी देखकर
बाँधते हैं हमारा समय।”

कविता में इस तरह से छोटी-छोटी वस्तुओं का प्रवेश दरअसल कविता की दुनिया में 'साधारण' का ही हस्तक्षेप है। इसने कविता के क्षेत्र में हाशिए और केन्द्र के अन्तराल को पाट दिया है और एक नए तरह की ऐन्द्रियता का विकास किया है। इस नजरिए से बलराज पाण्डेय की कविता सामान्यीकरण और भूमंडलीय एकरूपता की राजनीति के विरुद्ध बहुलता का सत्याग्रह है।

बलराज पाण्डेय के इस संग्रह की कविताओं की एक विशेषता उनके प्रेम और सौन्दर्य सम्बन्धी कविताओं में दिखाई पड़ती है। इन कविताओं में मानवीय सम्बन्धों की सूक्ष्म अनुभूतियों का तरल संस्पर्श है। प्रेम पर कविताएँ लिखते हुए भी बलराज पाण्डेय उनके रोमांटिक भाव के साथ-साथ प्रेम करने की स्वाभाविक मानवीय आकांक्षा और जरूरत पर लगी सामाजिक पाबंदी और नियंत्रण-निषेध पर भी नजर रखते हैं। मैनेजर पाण्डेय ने कभी युवा पीढ़ी की रचनाशीलता के संबंध में कहा था कि आज का युवा कवि प्रेम की कविता लिखते समय यह कैसे भूल सकता है कि वह एक ऐसे समाज का कवि है जिसमें जाति और धर्म की निर्मम रूढ़ियों की वेदी पर प्रेम की बलि चढ़ाई जा रही है, प्रेम करने वालों को सार्वजनिक रूप से पंचायत में फाँसी दी जा रही है। बलराज पाण्डेय की कविताएँ 'ढाई आखर' और 'प्रेम पत्र' इसी पीड़ा की अभिव्यक्ति करते हैं—

“जिंदगी में
पहली बार लिखा है मैंने
प्रेम पत्र

एक पोस्टकार्ड पर
 खत्म हुआ है लिखना
 वहीं ठीक नीचे
 बनाए हैं अपने स्पष्ट हस्ताक्षर
 लिखा है जहां नाम और पता
 पाने वाले का
 उसके ठीक ऊपर
 दाहिने कोने में बैठा सिंह
 घूर रहा है
 मेरे अक्षर-अक्षर।”

दूसरी तरफ उनकी स्त्री-सौन्दर्य सम्बन्धी कविताएँ भी एकांतिक सुख मात्र तक सीमित न होकर जीवन में प्रेरित करने वाली हैं। मुश्किल समय में सम्बल प्रदान करने वाला, हारने वाली स्थितियों में भी आधार देने वाला, सिमटी-सकुचाई हुई चेतना को विस्तार देने वाला और स्वाभिमान जगाने वाला सौन्दर्य है इनकी कविताओं में। ‘विनीत सौन्दर्य तुम्हारा’, ‘तुम्हारे क्षणिक स्पर्श से’, ‘तुम्हारे शब्द’ जैसी कविताएँ सौन्दर्य की इसी व्यापक भूमिका को बताती हैं। इस कोटि की इनकी कविताओं में अभिव्यक्त प्रेम और सौन्दर्य केवल भावात्मक नहीं है बल्कि मानव जीवन के कार्य-व्यापार की संलग्नता छुपी है उनमें, मानवीय ऊष्मा के साथ-साथ।

इस संग्रह की एक विशिष्टता यह भी है कि इसमें कविताओं के साथ-साथ कवि ने अपने कुछ गीतों को भी शामिल किया है। भावनाओं की तीव्रता और एकता गीत की स्वाभाविक जरूरत है और गेयता उसकी अनिवार्य शर्त। रागात्मकता से सम्बद्ध होने के कारण ही गीत अमूमन व्यक्तिगत भावों की अभिव्यक्ति करते रहे हैं, यद्यपि इसके पर्याप्त अपवाद भी मौजूद हैं। बलराज पाण्डेय के गीतों की एक उपलब्धि है कि उन्होंने गीत के फॉर्म में रचते हुए भी, इसकी प्रकृति से अलग जाकर, आज के जीवन की विडम्बनाओं और सामाजिक स्थितियों की ही अभिव्यक्ति की है, वह एक ठोस राजनीतिक जमीन पर खड़े होकर। गीत रचते हुए भी उनका मानस निजी और आंतरिक भावनाओं से आक्रांत नहीं होता। इस प्रसंग में उनके ‘आज घर में’, ‘गांव में’, ‘डंकल का धावा’, ‘डंकल जी’, ‘एक किरण’, ‘जाड़ा अबकी बार’, ‘हम हारे नहीं’ जैसे गीत देखे जा सकते हैं।

संग्रह की कविताओं को पढ़ते हुए यह आभास होता है कि बलराज पाण्डेय ने अपनी वैचारिकता और प्रतिबद्धता का भार वहन कर सकने वाली एक काव्यभाषा भी विकसित की है। उनकी इस काव्यभाषा की एक विशिष्टता है—सम्प्रेषण की तात्कालिकता। दरअसल सम्प्रेषण की तात्कालिकता एक बहुत बड़ा मूल्य है, जिसके मास्टर हैं नागार्जुन। कहा जा सकता है कि बलराज पाण्डेय उस तरह के कवि नहीं हैं जो भावोद्रेक को पानी का छीटा मार-मार कर ठंडा कर लेते हैं और फिर उसे बड़े करीने के साथ अभिव्यक्ति के समूचे कौशलों को दृष्टि में रखकर, नख-शिख दुरुस्त जमाकर उतारने की कोशिश करते हैं। बलराज

पाण्डेय की इस काव्यभाषा की एक और विशेषता है—उसमें व्याप्त लय। यह लय भी दोनों ही तरह की है यानि इनकी कविताओं में एक साथ पाठलय और अर्थलय दोनों का संतुलन दिखाई पड़ता है। हालांकि तथ्य-कथन और वक्तव्य सम्बन्धी कविताओं में इस संतुलन को साध सकना उतना आसान नहीं होता फिर भी बलराज पाण्डेय ने ऐसी कोशिश लगातार बनाए रखी है। कहीं-कहीं अतिरिक्त सचेष्टता और अनावश्यक विस्तार इसमें बाधा भी डालती है फिर भी इनकी अधिकांश कविताओं में हम यह संतुलन और सफाई पाते हैं। इसका प्रमाण है इनकी कविताओं में छुपी वह स्मरणीयता जो किसी भी अच्छी कविता के लिए एक प्राथमिक शर्त है।

शरमाना भूल गए हैं/ बलराज पाण्डेय

डांस कार्ड

 रोबर्तो बोलांन्यो

माँ हमें, किल्पुए, काउकेनस, और लास एन्जेलस शहरों में रहने के दौरान 'नेरुदा' को पढ़कर सुनाया करती थी।

वह एक इकहरी किताब थी, 'बीस प्रेम कविताएँ और हताशा का एक गीत', सम्पादक-लोसादा, ब्युनोस आयर्स, 1961। जिस पन्ने पर किताब का शीर्षक था, उसी पर नेरुदा का चित्र था, एक छोटी टिप्पणी के साथ।

टिप्पणी से पता चलता था कि किताब की एक मिलियन प्रतियाँ छपने के अभिनन्दन स्वरूप यह संस्करण प्रकाशित किया गया है। इसका अर्थ क्या था? क्या 1961 में ही 'वेइन्ते पोयमास' की एक मिलियन प्रतियाँ छप चुकी थीं? कहीं यह टिप्पणी नेरुदा के समस्त लिखे हुए का आंकड़े तो नहीं प्रस्तुत कर रही थी? मैं डरता हूँ। सोचता हूँ पहली ही बात सही होगी। लेकिन सच तो यह है कि दोनों ही बातें विचलित करने वाली हैं और आज के समय में अकल्पनीय भी।

किताब के दूसरे पन्ने पर मेरी माँ का नाम लिखा हुआ है—मारिआ आवालोस फ़्लोरेस। सरसरी निगाह से देखने पर प्रमाण की सन्दिग्धता के बावजूद, लगने लगता है कि माँ का नाम खुद माँ ने नहीं किसी और ने वहाँ लिख दिया है। यह लिखावट मेरे पिता की नहीं है न ही किसी ऐसे व्यक्ति की है जिसे मैं जानता हूँ। फिर ये किसकी लिखावट है? बहुत बारीकी से जाँचने पर मैं थोड़े संशय मगर अपार कृतज्ञता के साथ, यह मान लेता हूँ कि समय की मार से धुँधलाए हस्ताक्षर मेरी माँ के ही हैं।

1961 और 1962 में मेरी माँ की उम्र उतनी भी नहीं थी, जितनी आज मेरी है। उस वक़्त उसने अपना पैंतीसवाँ वर्ष पूरा नहीं किया था। वह एक अस्पताल में काम करती थी। वह युवा थी और युवा जीवन की ऊर्जा से भरी हुई थी।

'वेइन्ते पोयमास' कि यह प्रति, जो अब मेरी है, बहुत शहरों की यात्रा कर चुकी है। दक्षिण चिली के अनेक शहरों, मेक्सिको सिटी के अनेक घरों और स्पेन के तीन शहरों की लम्बी यात्रा।

ज़ाहिर है, यह किताब हमेशा से मेरी नहीं थी। सबसे पहले यह मेरी माँ की थी। इसके बाद माँ ने किताब बहन को दे दी। जब बहन खिरोना छोड़ मेक्सिको गई, तभी उसने किताब मुझे दी। बहन जिन किताबों को मुझे देकर गई, उनमें साइंस फ़िक्शन और मैनुअल पुइग की सम्पूर्ण रचनाएँ, मेरी पसंदीदा थी। मैनुअल पुइग की तब तक की सम्पूर्ण

रचनाएँ, मैंने ही बहन को दी थीं। उसके जाने के बाद और रचनाओं को दुबारा अपने पास पा, मैं उन्हें फिर से पढ़ गया।

समय के उस कगार पर नेरुदा मुझे कुछ कम भाने लगे थे। खासतौर से उनकी बीस प्रेम कविताओं वाली किताब।

1968 में मेरा पूरा परिवार मेक्सिको सिटी में बसने चला गया। दो साल बाद मेरी मुलाकात आलेक्सान्द्रो खोदरोस्की से हुई जो मुझे कलाकार होने का आदर्श रूप लगा। मैं एक थियेटर के बाहर उसका इन्तज़ार कर रहा था और अन्दर, वह जरथ्रुष्ट के प्रस्तुतीकरण को लेकर आइसेला वार्गा के साथ काम करता रहा था। मैंने उससे मिलने पर कहा था कि मैं उससे फ़िल्म बनाना सीखना चाहता हूँ। इसके बाद मैं उसके घर नियमित जाने वाला अतिथि हो गया।

मुझे नहीं लगता है कि मैं एक अच्छा शागिर्द साबित हुआ। खोदरोस्की ने मुझसे एक दिन पूछा था कि मैं एक हफ़्ते में सिगरेट पर कितना खर्च कर लेता हूँ। बहुत ज्यादा, मैंने कहा था (चिमनी से हमेशा निकलते धुएँ जैसा ही मैं नज़र आता था)। उसने मुझे सिगरेट पीने से मना किया और कहा कि मैं सिगरेट पर होने वाले खर्च को जेन ध्यान की कक्षाओं में लगाऊँ, उन कक्षाओं में जो इजो तकाटा चलाते थे। मैंने कहा, ठीक है। मैं कुछ दिन के लिए उन कक्षाओं में गया लेकिन तीसरे सत्र तक पहुँचते, मुझे लग गया कि यह सब मेरे बस का नहीं है।

एक दिन ध्यान की कक्षा के बीच में ही मैंने इजो तकाटा से विदा लेने की सोची। मैं जब चुपके से उठकर निकल जाना चाह रहा था, तभी इजो तकाटा एकदम मेरे सामने आकर खड़े हो गए। उनके हाथों में वह छड़ी भी थी जिससे वे शिष्यों की खबर लेते थे। वे छड़ी को हाथ में ले शिष्यों से सिर्फ़ हाँ या ना में जवाब माँगा करते थे। यदि जवाब हाँ होता था तो वे अपनी छड़ी से शिष्यों को भरपूर नवाज़ते थे। लोबान की सुगंध से बोझिल हल्की रोशनी वाले कमरे में सटाक की आवाज़ होती थी और उसकी अनुगूँज हवा में देर तक बनी रहती थी।

मेरे साथ इजो तकाटा ने सवाल करने की भी जहमत नहीं उठाई। उनका प्रहार अंधाधुंध और भारी चोट वाला था। मैं कमरे के पीछे, एक लकड़ी के बगल में, बाहर जाने वाले दरवाज़े से सटकर बैठा था। मुझे लगा था कि इजो तकाटा की आँखें ध्यान करते वक़्त मुँद गई हैं और वे मेरे अत्यन्त धीरे से उठकर चले जाने की आवाज़ को सुन नहीं पाएँगे। मगर उस हरामी ने उस मद्धिम-सी आवाज़ को भी कैसे न कैसे सुन ही लिया। वह गालियों की बौछार कर मुझ पर टूट पड़ा।

मेरे पिता गैर पेशेवर मुक्केबाजी के हैवीवेट चैम्पियन थे, मगर उनका निर्विवाद साम्राज्य दक्षिण चिली तक ही सीमित था। मुक्केबाजी मुझे कभी भी बहुत पसन्द की चीज़ नहीं रही, मगर बचपन से ही मुझे वह सिखाई गई थी। जब भी हम चिली में रहते थे या मेक्सिको में तो मुक्केबाज़ी करने के लिए एक जोड़ी ग्लब्स हमेशा घर में मौजूद रहते थे।

जब मास्टर इजो तकाटा मुझ पर टूट पड़े थे तब ज़रूर ही उनकी मंशा मेरा बड़ा नुकसान करने की नहीं रही होगी। न ही उन्होंने अनुमान लगाया होगा कि एवज में मैं

अपने आपको बचाने में लग जाऊँगा। दरअसल जब इजो तकाटा छड़ी का प्रयोग करते थे तो, अमूमन उसके पीछे उनकी मंशा शिष्यों के भीतर की घबराहट और हलचल को काबू करने की होती थी। लेकिन मैं तो व्यग्र नहीं हो रहा था, न घबरा रहा था। मैं तो बस सहजता से वहाँ से निकल कर चला जाना चाह रहा था।

यदि आपको खटका हो कि आप पर हमला हो रहा है तो फ़िरतरतन ही आप अपने को बचाने में लग जाते हैं। खासतौर से जब आपकी उम्र सत्रह वर्ष हो और आप मेक्सिको सिटी में रहते हों। शायद इजो तकाटा भी नेरुदा के समान सरलता के मानक स्तरों से अधिक सरल था।

खोदरोस्की ने बताया था कि वह तो शुक्राना अता फ़र्माता है कि इजो तकाटा जैसा आदमी मेक्सिको में रहता है। उसने बताया कि एक समय ऐसा भी था जब तकाटा ओसाका के जंगल में खो गए नशेड़ियों को तलाशने जाता था, जिससे वह उन्हें बदल सके। ड्रग्स का नशा करने वाले लोग ज्यादातर उत्तर-अमरीकी थे, जो जंगलों में नशा करने जाते थे और लौटकर कभी नहीं आ पाते थे।

लेकिन तकाटा के साथ बिताए गए समय के बावजूद मैं सिगरेट पीना नहीं छोड़ पाया था।

मुझे खोदरोस्की की अच्छी लगने वाली बातों में जो बात सबसे अच्छी लगती थी, वह उसका चिली के बुद्धिजीवियों का ज़िक्र था (ज्यादातर वह उनकी आलोचना करता था) जिसे करते हुए वह बुद्धिजीवियों की कतार में मेरे नाम को भी शुमार करता था।

ठीक से याद नहीं पड़ता, लेकिन एक दोपहर, हम चिली में लिखी जा रही कविता पर बात करने लगे थे। खोदरोस्की का कहना था कि चिली का सबसे महान कवि निकानोर पार्रा था। उसने निकानोर की एक कविता धाराप्रवाह सुना दी। उसके बाद उसने इसी तरह दूसरी कविता सुनाई, फिर तीसरी, फिर एक और। खोदरोस्की का सुनाने का अन्दाज़ बढ़िया था, मगर मुझे कविताओं ने बहुत प्रभावित नहीं किया। उस दौरान मैं एक तुनकमिजाज़ नौजवान हुआ करता था, खासा बेतुका और गुमान से भरा हुआ। मैंने उसी गुमान में फूलकर कह दिया, बिना संशय, चिली का सबसे उत्कृष्ट कवि पाब्लो नेरुदा है। मैंने और जोड़ा, बाकी सब तो उसके सामने बौने हैं। हमारी बहस आधे घण्टे तक चली। खोदरोस्की ने अपनी बात के पक्ष में अनेक तर्क दिए। तर्क देने के क्रम में उसने मदाम ब्लावट्स्की, किर्केगार्द, विटगेनस्टाइन, तोपोर, अराबेल और खुद अपने आपको उद्धृत किया। मुझे याद है, उसने कहा था कि निकानोर कहीं जाते हुए कभी उसके घर भी रुका था। यह कहते हुए उसका चेहरा बाल सुलभ अभिमान से चमक उठा था। बाद में, अनेक लेखकों के चेहरों पर मैंने उसी अभिमान की छाया बार-बार देखी।

अपनी एक किताब में बातीलिए कहते हैं कि आँसू सम्प्रेषण की चरम कहन अवस्था है। खोदरोस्की के घर उस दिन मैं उसी अवस्था में पहुँच गया और रोने लगा था। ऐसे नहीं जैसे सामान्य ढंग से लोग रोने लगते हैं और आँसू उनके गाल पर हौले-हौले टपकते रहते हैं। मैं तो उस दिन ऐसे रोया, जैसे प्राकृतिक और आदिम ढंग से लोग रोते होंगे।

मेरे अन्दर से सचमुच का कोई सोता आजाद हो गया हो जैसे। मैं बिल्कुल वंडरलैंड की एलिस की तरह रोया। सब कुछ भिगोता हुआ।

जब मैं खोदरोस्की का घर छोड़ रहा था तो मुझे विश्वास होने लगा था कि मैं लौटकर उसके पास फिर कभी नहीं जाऊँगा। यह उतना ही दुःख देने वाला बोध था, जितना मुझे खोदरोस्की से बहस करते वक्त हुआ था। गहरे दुःख से भरा, सड़क पर चलते हुए मैं रोता रहा था। थोड़े अस्पष्ट ढंग से ही सही मगर मैंने महसूस कर लिया था कि अब कभी भी शायद मुझे इस तरह का उस्ताद नहीं मिलेगा जो इतना आकर्षक, प्यारा, और शरीफ़ है, जो इस कदर चोर और पक्का छलिया भी है।

उस वक्त एक और बात मुझे बुरी तरह हताहत कर रही थी। मैं कितनी बेचारीगी और दयनीयता से पाब्लो नेरुदा के बचाव पक्ष को खोदरोस्की के सामने रख रहा था (और बचाव का प्रयास तो निश्चित ही था)। आखिर मैंने नेरुदा को पढ़ा ही कितना था? सिवाय वेइन्ते पोयमास' (जो अब मुझे मज़े-मज़े की किताब लगने लगी थी) और 'ट्वाईलाइट' और 'फ़ेयरवेल' नाम की कविता (जिसके प्रति मैं आज भी वफ़ादार हूँ) के, वह भी भावुकता के अतिरेक में।

वालेखो, उदीब्रो, मार्टिन अदान, बोर्हेस, ओकेन्दो दे अमात, पाब्लो दे रोका, गिलबर्टो ओवेन, लोपेज वेलादे, ओलिविरिया खिरोन्दो के लेखन को मैंने 1971 में पढ़ा। मैंने निकानोर पार्रा को भी उस दौरान पढ़ा और पाब्लो नेरुदा को भी मैंने तभी ही पढ़ा।

जिन मेक्सिकन कवियों के साथ मेरा याराना था और जिनके साथ मैं किताबों की अदला-बदली करता था, उनमें दो विपरीत समूहों के लोग थे। एक समूह के लोग नेरुदियन कहलाते थे और दूसरे समूह के लोग वैलेखियन्स। मैं इनसे अपने अलगाव में पार्रियन था।

पिताओं को तो आखिर में मरना ही होगा, क्योंकि कवि अनाथ होने के बाद ही पैदा होता है।

1973 में मैं चिली वापस आ गया। मेरी यात्रा ज़मीन और समुद्र के रास्ते होकर गुज़री। उसमें जगह-जगह के अतिथि सत्कार ने रुकावट पैदा कर, मेरी यात्रा को बहुत लम्बा खींच दिया। इस दौरान मैं विभिन्न मतों वाले क्रान्तिकारियों से मिला, जिनकी आग निकट भविष्य में मध्य अमरीका को जलाने वाली थी। मैंने उसकी ताबीर अपने इन साथियों की आँखों में देखी। वे मृत्यु के बारे में ऐसे लहज़े में बात करते थे, मानों किसी फ़िल्म के बारे में बात कर रहे हों।

अगस्त 1973 में मैं चिली पहुँचा। वहाँ समाजवाद को पुनः प्रतिष्ठित करना मेरा उद्देश्य था। कविता की जिस पहली किताब को मैंने खरीदा वह पार्रा की 'कंस्ट्रक्शन वर्क' थी। दूसरी भी पार्रा की 'आर्टिफ़ैक्ट्स' थी।

समाजवाद की पुनर्स्थापना के लिए मेरे पास एक महीने से भी कम का समय था। लेकिन उस वक्त मैं यह नहीं जानता था। मैं अपनी सरलता में पार्रियन था।

मैं एक प्रदर्शनी में गया। वहाँ मैंने चिली के अनेक कवियों को देखा। बड़ा भद्दा प्रदर्शन था!

शहर के उपनगर में पार्टी का एकमात्र सक्रिय दफ़्तर था। मैं वहीं पास में रह रहा

था। ग्यारह सितंबर को मैं वहाँ गया और अपना नाम वालंटियर के रूप में दर्ज करवा दिया। उस दफ्तर का मुखिया, कारखाने में काम करने वाला एक कम्युनिस्ट था। वह शरीर से थुलथुल था और मन से अचम्भित रहने वाला। लेकिन वह लड़ने की इच्छा रखता था। उसकी पत्नी उससे अधिक साहसी दिखती थी। हम सब लकड़ी के फ़र्श से बने खाना खाने के कमरे में इकट्ठा हुए। जिस वक्रत मुखिया सबको सम्बोधित कर रहा था उस वक्रत मैं कमरे के किनारे पर रखे उस साइडबोर्ड को देख रहा था, जिस पर किताबें रखी हुई थीं। वहाँ बहुत सारी किताबें नहीं थीं। काऊब्यायज की थीम वाले कुछ उपन्यास थे, ठीक वैसे, जैसे मेरे पिता पढ़ा करते थे।

मेरे लिए ग्यारह सितम्बर हास्य रंग से भरे खूनी नज़ारे का दिन रहा।

मैं वीरान सड़क पर खड़ा निगरानी कर रहा था और अपना पासवर्ड भूल गया। मेरे कामरेड साथियों का दल पन्द्रह वर्षीय किशोरों, सेवानिवृत्त बुजुर्गों और बेरोज़गार लोगों से बना था।

जब नेरुदा मरा मैं अपने अंकल्स, आण्ट्स और कज़िन्स के साथ मुलशेन में था। नवंबर में लास एन्जेल्स से कन्सेपसियान की यात्रा में चल रहे निरीक्षण के दौरान मुझे गिरफ्तार कर लिया गया। जिस बस से मुझे पकड़ा गया उस बस में यात्रा कर रहे कितने सारे यात्रियों के बीच से मुझे ही चुनकर कैद कर लिया गया। मुझे लगा, वे मुझे वहीं मार भी देंगे। पुलिसवालों के बीच का मुखिया तरो ताजा चेहरे वाला था लेकिन वह मुझे गधे जैसा दिख रहा था। एक ऐसे गधे जैसा जो आटे के बोरे में अपने चूतड़ों को रगड़-रगड़ कुलबुलाता रहता है। वह कन्सेपसियान में स्थित वरिष्ठ अधिकारियों से बात कर रहा था। मैं सुन रहा था। वह कह रहा था कि उसने एक मेक्सिको आतंकवादी को गिरफ्तार कर लिया है। फिर उसने फट अपनी हालिया कही बात को बदल कर कहा कि उसने एक विदेशी आतंकवादी गिरफ्तार किया है। उसने मेरे बात करने के लहज़े, मेरे पास पाए गए डॉलर्स, मेरी शर्ट और ट्राउज़र पर अंकित ब्रांड के आधार पर मुझे विदेशी आतंकवादी करार दिया।

मेरे पड़दादा और पड़दादी जो फ़्लोरेस और ग्रनास के नाम से जाने जाते थे, कामना करते थे कि वे अरज़ुकानिया के जंगलों को अच्छी तरह वश में कर लें (यह अजीब था क्योंकि वे खुद को ही कभी वश में नहीं कर पाए) इस तरह वे अपने अतिरेकों में नेरुदा के करीब थे। मेरे दादा रोबर्तो आवालोस मार्ती सेना में कर्नल थे। दक्षिण में स्थित अनेक किलों पर वे तैनात रहते थे। अचानक एक दिन अत्यन्त रहस्यमय तरीके से वे सेवानिवृत्त हो गए। इससे मेरे मन में यह सन्देह उभरता है कि वे नेरुदा की तरह 'सफ़ेद और नीले' के प्रति हमदर्दी से भरे हुए थे। मेरे पिता के माँ-बाप गैलीशिया और कातालोनिया के थे। उन्होंने अपना जीवन बीयो-बीयो के राज्य को अर्पित कर दिया। इस तरह अपनी प्रकृति और मेहनत की धीमी रफ़्तार की वजह से वे नेरुदा जैसे ही थे।

कन्सेपसियान में मुझे कुछ दिन कैद रखकर छोड़ दिया गया। मेरे भय के विपरीत उन्होंने मुझे यातना नहीं दी। उन्होंने मेरी चीज़ें भी नहीं चुराईं। लेकिन उन्होंने मुझे खाने को कुछ नहीं दिया। न ही उन्होंने मुझे रात को शरीर ढँकने के लिए कुछ दिया। इस वजह

से मुझे खाने-पीने के लिए अन्य कैदियों के सदव्यवहार पर निर्भर रहना पड़ा। अन्य कैदियों ने मेरे साथ अपना खाना बाँटा। मुझे नींद नहीं आती थी और मेरे पास एक अंग्रेजी पत्रिका के अतिरिक्त पढ़ने को और कुछ भी नहीं था। अंग्रेजी पत्रिका कोई अनजान अपने पीछे छोड़ गया था। उस पत्रिका में एक ही रुचिकर लेख था। वह लेख डायलन थामस के किसी घर पर लिखा गया था।

कैद के उस अँधेरे गड्ढे से मैं अपने दो गुप्तचर मित्रों की मदद से निकल पाया। वे दोनों लास एन्जेलस में साथ पढ़े गए हाई स्कूल के दिनों से मुझे जानते थे। मेरा मित्र फर्नान्दो फर्नान्देज इक्कीस वर्ष का था और मुझसे सिर्फ़ एक वर्ष बड़ा था, मगर उसके भीतर गजब का आत्मसंयम था। उसके आत्मसंयम की तुलना सिर्फ़ उस आदर्श अंग्रेज़ के साथ की जा सकती है, जिसके जैसा हर चिलीवासी बनना चाहता था।

जनवरी 1947 में मैंने चिली छोड़ दिया। उसके बाद मैं वहाँ कभी नहीं गया।

क्या मेरी पीढ़ी के चिलीवासी साहसी थे? जी—हाँ—थे।

मेक्सिको में मैंने एक कहानी सुनी। एम/आई/आर से सम्बद्ध एक नौजवान औरत के गुप्तांगों में जिंदा चूहे रख उसे यातना दी गई। किसी तरह वह औरत देश से निकल भागी और मेक्सिको सिटी में रहने लगी। वहाँ रहते हुए उसे अजीब सी उदासी घेरने लगी। प्रत्येक दिन, पिछले दिन की अपेक्षा वह अधिक उदास हो जाती थी। इस तरह उदासी ने उसकी जान ले ली। ऐसा मैंने सुना था। मैं उस औरत को व्यक्तिगत तौर पर बिल्कुल नहीं जानता था।

वैसे यह कहानी अपने में अजूबा नहीं है। हमें पता है ग्वाटेमाला की किसान औरतों ने कैसी अपमानजनक यातनाएँ झेलीं। इस कहानी की सबसे ग़ौर करने वाली बात इसकी सार्वभौमिकता है। मैंने पेरिस में सुना था कि चिली की एक औरत के साथ ऐसा ही सलूक हुआ था, जिसके बाद वह फ्रांस चली आई थी। वह भी एम/आई/आर की सदस्य थी। वह भी उसी उम्र की थी, जिस उम्र की मेक्सिको वाली औरत थी, जो उदासी की वजह से मर गई थी।

कुछ समय के बाद मुझे स्टोकहोम में रहने वाली चिली की उस औरत के बारे में भी जानकारी मिली, जो युवा थी और एम/आई/आर की पूर्व सदस्या भी रही थी। 1973 में वह भी चूहों के द्वारा दी गई यातना से मर गई थी। उसका इलाज कर रहे डॉक्टर उसकी मौत पर आश्चर्य से भर गए थे, क्योंकि वे तो उसकी उदासी की बीमारी का इलाज कर रहे थे।

उदासी की वजह से कोई मरता है क्या? जी हाँ मरता है। भूख से भी मरा जा सकता है। (यह दर्दनाक है) तिल्ली भी मौत का कारण हो सकती है।

चिली की वह बेनाम औरत क्यों बारंबार यातना की शिकार हुई और मर गई? क्या यह एक ही औरत के साथ हुआ? या ये तीन अलग-अलग औरतें थी जिनकी राजनैतिक निष्ठा एक समान थी और जिनकी खूबसूरती भी एक जैसी थी? एक मित्र के अनुसार वह एक ही औरत थी जो वालेखो की कविता 'मासा' के पात्र की तरह मरने के क्रम में

तीन भागों में विभक्त हो गई और मर गई। (वालेखो की कविता में, मृत आदमी विभक्त नहीं होता है, बल्कि उस पर आश्रित उसके हिस्से प्रार्थना करते हैं कि वह मरे नहीं।

एक बार बेलजियम में एक कवयित्री हुई थी, जिसका नाम सोफ़ी पोडोलस्की था। वह 1953 में पैदा हुई थी। 1974 में उसने आत्महत्या कर ली थी। उसकी एक ही किताब छपी थी (देश, जहाँ सब कुछ की अनुमति है), मोन्ट फ़ाऊकोन रिसर्च सेंटर, 1970 प्रतिकृति, 280 पन्ने।

जरमाइन नोवू (1852-1920) रिम्बो का मित्र था। उसने अपनी ज़िन्दगी के अन्तिम वर्ष भटककर भीख माँगते हुए बिताए थे। ह्युमिलिस के नाम से जाना जाता था। 1910 में 'लेस पोयमास दी ह्युमिलिस' शीर्षक से उसकी किताब छपी थी। वह चर्च की ड्यूडी के नीचे रहता था।

सब कुछ सम्भव है। हर कवि को यह सच जानना ही चाहिए।

एक बार किसी ने मुझसे पूछा था कि मेरे प्रिय चिलियन कवि कौन हैं, उन्होंने युवा नहीं, शायद समकालीनों के बारे में पूछा था। मैंने कहा था रोदरीगो लीरा। हालाँकि उसे अब समकालीन नहीं कहा जा सकता है (वह नौजवान है, हम सबसे बहुत छोटा) लेकिन वह मर चुका है।

चिली की नई कविता के नृत्योत्सव में नृत्य करने वाले जोड़ीदार कुछ इस तरह के हैं, गणितज्ञ नेरुदा के वंशज और क्रूर संतानें ऊदीब्रो की, कामिक अनुयायी मिसत्रल के और दे रोका के दीन-हीन शिष्य, पार्रा की हड्डियों के वारिस और लिन की आँखों के उत्तराधिकारी।

यह आत्म स्वीकृति है—मैं नेरुदा के संस्मरणों को पढ़ते वक्रत गम्भीर रूप से बीमार हो जाता हूँ। कितने विरोधाभास हैं। एक विकृत चेहरे को छिपाने और सजाने के लिए कितनी मेहनत की गई है। उदारता कितनी कम है और सेंस ऑफ़ ह्युमर नदारद-सा।

मेरे जीवन में एक वक्रत ऐसा भी रहा था (जो शुक्र है अब नहीं है) जब मैं एडोल्फ़ हिटलर को अपने घर के गलियारे में देखा करता था। हिटलर गलियारे में चलता रहता था। वह मेरी ओर देखता भी नहीं था और मेरे बेडरूम का दरवाज़ा खोल लेता था। पहले पहल मुझे लगा यह कोई शैतान है (और दूसरा वह क्या हो सकता था?) मैं डरने लगा कि मैं कभी ठीक न होने वाले पागलपन से ग्रस्त हो रहा हूँ।

दो हफ़्तों बाद हिटलर गायब हो गया। मुझे लगा अब उसकी जगह स्तालिन आ जाएगा, मगर स्तालिन नमूदार ही नहीं हुआ।

उसके बदले नेरुदा मेरे घर के गलियारे में आ बसा। हिटलर की तरह वह दो हफ़्तों के लिए नहीं रहा। वह सिर्फ़ तीन दिन रहा। उसके रहने की अल्पायु इस बात की परिचायक थी कि मैं निराशा के गर्त से कुछ बाहर आने लायक हो रहा हूँ।

नेरुदा बहुता आवाज़ें करता था, (हिटलर तो बहते बर्फ़ के गोले समान चुप रहता था) नेरुदा शिकायत करता था। मन-ही-मन न समझ में आने वाले शब्द बुदबुदाता रहता था। वह अपने हाथ फैला लेता था और अपने फेफड़ों में स्निग्ध हवा भरता हुआ साँस

लिया करता था। (वह हवा जो ठण्डे यूरोपीय गलियारों में बसती है)। उसका पहले दिन का दर्द भरा हाव-भाव और भिखारियों जैसा व्यवहार, धीरे-धीरे बदल गया। अन्त में तो उस भूत ने अपना संवरण कर लिया था। वह संजीदा और भव्य दरबारी लगने लगा था।

तीसरी और अन्तिम रात को वह मेरे कमरे के दरवाज़े के सामने से गुज़रा और मुझे ताकने लगा (हिटलर ने ऐसा कभी नहीं किया था)। यही सबसे विचित्र बात थी। वह कुछ कहना चाहता था मगर कह नहीं पाया। उसने अपनी नामदर्गी की बात इशारों में कही और सुबह की उगती रोशनी के वक्रत वह गायब हो गया। वह मुझे देख मुस्कुराया (मानों कहना चाह रहा हो कि हमारे बीच संवाद सम्भव नहीं है, मगर क्या हमें इसकी कोशिश फिर भी करनी चाहिए)।

कुछ समय पहले मैं अर्जेटीना के तीन ऐसे भाइयों से मिला, जिन्होंने बाद में जाकर विभिन्न लातिन अमरीका देशों में घटी क्रान्तियों में भागीदारी कर अपनी जान गँवाई। दोनों बड़े भाइयों के धोखा देने की वजह से छोटे भाई को जान गँवानी पड़ी जिसने किसी के साथ कोई धोखा नहीं किया था। मैंने सुना वह उनका नाम पुकारते-पुकारते मरा। लेकिन मुझे लगता है कि इसकी ज्यादा सम्भावना है कि वह चुपचाप मरा होगा।

रुबेन दारियो जो आशावादी होकर ही पैदा हुआ था, कहता है सब स्पेनी शेर के बच्चे हैं। वाल्ट स्विटमैन, होसमार्ति, और वायलेता पार्रा के बच्चे, एक दूसरे से विछिन्न, भुला दिए गए सामूहिक कब्रों में समुद्र के भूतल में लेटे हुए हैं। उनकी मिली-जुली हड्डियों का ट्रोजन भाग्य से ज़िंदा बच गए लोगों को आतंकित करता है।

इस हफ़्ते अचानक उन लोगों की याद आ गई, वह भी तब जब इंटरनेशनल ब्रिगेड्स के पुराने सिपाही स्पेन आए। बूढ़े छोटे-छोटे आदमी बसों से उतरते हुए अपनी बंद मुट्टियों को हवा में भाँजते हुए। वे संख्या में 40,000 हुआ करते थे और उनमें से 350 के लगभग ही स्पेन आ पाए।

मैं बेलत्रां मोरालेस के बारे में सोचता हूँ। मैं मारियो सांतियागो के बारे में सोचता हूँ। मैं रिनाल्दो एरीनास के बारे में सोचता हूँ। मैं उन कवियों के बारे में सोचता हूँ जो यातना की वजह से मरे। जो एड्स से मरे। जो नशे कि अधिकता से मरे। मैं उनके बारे में भी सोचता हूँ जो लातिन अमरीकी जन्त की सच्चाई को जीना चाहते थे और लातिन अमरीका दोजख में दफ़न हुए। मैं उनके काम के बारे में सोचता हूँ जो शायद वामपंथ को अपनी नकारात्मक गर्दिश और शर्म के गड्ढे से निकल पाने का रास्ता दिखा सके।

मैं निरर्थक चुभन पैदा करने वाले प्रवर्तकों के बारे में सोचता हूँ। मैं आईजाक बेबल की घृणित मौत के बारे में सोचता हूँ।

मैं चाहता हूँ कि बड़े होने के बाद मुझमें नेरुदा सरीखा सहक्रियावाद विकसित हो।

नींद में डूबने से पहले कुछ सवाल जिन पर विचार करना चाहिए; नेरुदा को काफ़का क्यों पसन्द नहीं था? नेरुदा को रिल्के क्यों पसन्द नहीं था? नेरुदा को दे रोका क्यों पसन्द नहीं था?

क्या उसे बारबुस्से पसन्द था? सारे साक्ष्य उसे पसन्द करने के हैं। और शोलोकोव? और अलबर्ती? और आक्तेवियो पाज़? शुद्धीकरण की राह में साथ देने वाले विषम साथी।

नेरुदा को एलुआर्द पसन्द था, जो प्रेम कविताएँ लिखता था।

यदि नेरुदा कोकीन अथवा हिरोइन के नशे की लत से ग्रस्त होता, यदि वह मैड्रिड पर 1936 के कब्जे में किसी मलबे के नीचे दब कर मर गया होता, यदि वह लोर्का का प्रेमी होता और लोर्का के मारे जाने के बाद आत्महत्या कर चुका होता, तो बिल्कुल भिन्न कहानी होती। संभवतः तब भी, जबकि, नेरुदा वह रहस्यमय व्यक्ति होता—जो बहुत भीतर से वह है।

उस इमारत के तलघर के भीतर जिसे 'द वर्क्स ऑफ़ पाब्लो नेरुदा' कहते हैं—उगोलिनो छिपा बैठा है। वह अपने बच्चों को खा जाने के लिए वहाँ बैठा है।

बिना किसी हिचक या ग्लानि के, निहायत भोलेपन के साथ। सीधी-सी बात है उगोलिनो भूखा है और वह भूख से मरना नहीं चाहता है।

उसके बच्चे नहीं थे, लेकिन लोग उसे बहुत प्यार करते थे।

क्या हमें लौट-लौट कर नेरुदा के पास वापस आना होगा जैसे हम क्रूस की ओर लौट-लौट कर जाते हैं। अपने घुटनों को लहलुहान करते हुए, फेफड़ों से समूची साँसे खोते हुए और आँखों में ढेर सारे आँसू भरे हुए?

जब हमारे नामों का कोई मतलब नहीं होगा, तब भी उनका नाम रौशन रहेगा। उस सपनीले-कल्पनातीत क्षेत्र में जिसे चिली का साहित्य कहकर रेखांकित किया जाएगा। उस क्षेत्र के पार भी उसके लेखन का संकल्प चमकता जाएगा।

तब तक सारे कवि एवं कलाकार उन कलात्मक समूह घरों में रहा करेंगे जिन्हें जेलखाना या पागलखाना कहा जाता है।

वही हमारी कल्पनाओं का घर है, उसी में हम साथ-साथ रहते हैं।

रोबर्तो बोलांन्यो का जन्म 1953 में सेन्टियागो, चिली में हुआ था। कहानियों के कई संग्रह और उपन्यास प्रकाशित। 'वाइल्ड डिटेक्टिव' और 'टू थाउजेण्ड सिक्स हन्ड्रेड सिक्स्टी सिक्स' पुरस्कृत। 2003 में मृत्यु। यह अनुवाद हमारे लिए वंदना राग ने किया है।